डॉ० पद्म चन्द्र काश्यप

हिमाचल पुस्तक भण्डार

प्रकाशक : हिमाचल पुस्तक भण्डार
जगत निवास, निकट महावीर चौक
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१

संस्करण : १६८१

मूल्य : छत्तीस रुपये

मुद्रक : संजीव कम्पोजिंग एजेंसी, गांधीनगर द्वारा
आर० के० भारद्वाज प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

Himachal Pradesh : Aetihasik Aur Sanskritik Adhyen (Hindi)
By : Dr. Padam Chander Kashyap Price Rs. 36.00

एक बात

हिमाचल प्रदेश की सम्पूर्ण इकाई के अध्ययन का यह मौलिक एवं प्रथम उद्योग है। हिमालय के इस भूखंड के इतिहास और संस्कृति पर सुव्यवस्थित वैज्ञानिक ढंग से गंभीरतापूर्ण लेखन का कार्य नहीं हुआ है। जो कुछ छुटपुट प्रयत्न हुए हैं, उनका उद्देश्य प्रदेश के किसी भाग विशेष के किसी विशिष्ट पक्ष पर ही प्रकाश डालता रहा है।

पूर्ण राज्यत्व प्राप्ति के फलस्वरूप प्रदेश अब इस स्थिति में है कि वह निजी व्यक्तित्व का प्रकाशन कर सके और अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संभावनाओं का समुचित विकास कर पाए। अत: यह स्वाभाविक है कि उसे अपने अतीत के प्रति जिज्ञासा हो। भूत पर ही वर्तमान स्थित है और भविष्य का निर्माण वर्तमान से ही संभव है। वर्तमान को समझने का एकमात्र आधार भूत काल है। आज तभी जाना जा सकता है जब बीते कल का ज्ञान हो। बीता कल इतिहास का क्षेत्र है और आज संस्कृति का।

हिमाचल प्रदेश भले ही भारतीय संघ के कनिष्ठतम राज्यों में से हो, किन्तु इसकी संस्कृति और राजतंत्र अत्यन्त प्राचीन हैं। विश्व में हिमाचल प्रदेश ही संभवत: अकेला ऐसा क्षेत्र है जहां की कतिपय रियासतें पांच-छ: हजार वर्षों तक कायम रही हों।

इस अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो गई है कि भारत की जातीय एवं सांस्कृतिक परम्परा का सही ज्ञान प्राप्त करने में हिमाचल काफी बड़ी सीमा तक सहायक हो सकता है। इस प्रदेश में प्राय: वे सभी जातियां किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं जो भारत के दीर्घकालीन इतिहास में यहां जन्मीं अथवा बाहर से आकर बसीं। हिमाचल प्रदेश में नाग, किन्नर, किरात, कोल, खश, आर्य, शक, यवन, हूण, शूलिक और गुर्जर, सभी प्राचीन जातियों के चिह्न हैं।

यह प्रदेश वास्तव में भारत का शीतागार है। समूचे देश की सामाजिक व्यवस्था का क्रमिक विकास, उसकी अर्थ-नीति का आदि स्वरूप, सांस्कृतिक परम्परा का वैविध्यपूर्ण चित्रण यहां उपलब्ध है। यही नहीं, हिमाचल प्रदेश में ऐसे सूत्रों का बाहुल्य है, जिनसे सैन्धव सभ्यता से यहां के लोगों का सीधा संबंध स्थापित होता है। सिन्धु घाटी सभ्यता और संस्कृति का मूर्त एवं जीवित रूप यहां देखा जा सकता है।

जहां एक ओर जातीय स्तर पर कर्नाटक, गुजरात, असम, बंगाल, राजस्थान तथा उत्तरी भारत के अन्य भागों से गहरा सम्पर्क रहा है, वहां दूसरी ओर सांस्कृतिक क्षेत्र में हिमाचल प्रदेश तमिलनाडु के उतना ही निकट है, जितना कि आन्ध्र प्रदेश। कई बार यह भ्रम होने लगता है कि संस्कृति के मूल स्वरूप---धर्म---की चर्चा करते हुए दक्षिण भारत का ब्योरा दिया जा रहा है या हिमाचल प्रदेश का।

प्रस्तुत पुस्तक में लक्ष्य यही रहा है कि जहां हिमाचल के विभिन्न भागों की एकता को सामने लाया जाए, वहां हिमाचली संस्कृति और इतिहास को वृहद् भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए। संभवत: हिमाचल के विभिन्न भागों की एकता की बात विचित्र लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ऐतिहासिक कारणों और जातीय सम्मिश्रण के फलस्वरूप भौगोलिक पार्थक्य ने इस प्रदेश में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक चली आई तीस-चालीस रियासतों को पृथक् व्यक्तित्व प्रदान किया था। फलत: कई बार लोगों का दिशा-ज्ञान चूक गया और वे अपनी छोटी-सी इकाई को ही सीमा मानने लग पड़े थे। इससे सारे हिमाचल प्रदेश में राजनीतिक और सांस्कृतिक केन्द्रों की संख्या भी उतनी ही बढ़ी थी जितनी रियासतों की। ऐसी स्थिति में इन विभिन्न स्थानों की विविधता को एक सूत्र में बांधने में कठिनाई पड़ी। किस स्थल या स्थान को केन्द्र माना जाए, जिसके आधार पर इस प्रदेश की राजनीतिक और सांस्कृतिक कहानी कही जाए, यह समस्या बराबर बनी रही। यह प्रयत्न इसलिए भी दुरूह हो गया कि प्रदेश के जन-जीवन को यहां की मिट्टी में ही देखा गया, बाह्य संदर्भों की पुष्टि का अंश नहीं समझा गया। इस उलझन को सुलझाने के लिए केवल उन धाराओं का ही उल्लेख किया गया है जिनकी सार्थकता समूचे प्रदेश के लिए है। स्थानों या व्यक्तियों का नाम केवल तथ्य की पुष्टि हेतु ही दिया गया है।

विषय के प्रतिपादन के लिए लिखित सामग्री का प्राय: अभाव ही है, जिसके कारण लेखक को सभी मान्यताएं स्वयं निर्धारित करनी पड़ी हैं। इनमें उसने विद्वत्ता का कभी दावा नहीं किया है। चाह केवल अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण की रही है। अधिक खोज अथवा अन्य सामग्री प्राप्त होने पर लेखक की धारणाएं सही या गलत सिद्ध हो सकती हैं। उसने प्रयत्न यही किया है कि हिमाचल के अतीत और वर्तमान के अध्ययन से जो प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्व के उत्पन्न हों, उन्हें सामने लाया जाए और उसी संदर्भ में उनका उत्तर खोजा जाए।

प्रस्तुत पुस्तक की सीमाओं के प्रति लेखक सजग है। उसकी केवल यही कामना है कि यह अकिंचन् प्रयास भविष्य में भगीरथ प्रयत्न का सूत्रपात कर सके।

पंडारा रोड
नई दिल्ली

—पदमचंद्र काश्यप

क्रम

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

CULTURAL MAP OF HIMACHAL PRADESH
JAMMU AND KASHMIR
CHENAB R.
KYELANG
(LAHAUL AND SPITI)
RAVI R.
CHAMBA
DHARAMSHALA
(KANGRA)
KULU
SUTLEJ R.
KALPA
(KINNAUR)
MANDI
BEAS R.
SOAN R.
BILASPUR
SIMLA
KASUMPTI
(MAHASU)
NAHAN
(SIRMUR)
PUNJAB
HARYANA
UTTAR PRADESH
REFERENCES
STATE CAPITAL
DISTRICT HEADQUARTERS
DISTRICT BOUNDARIES
RAILWAYS
NATIONAL HIGHWAYS
RIVERS
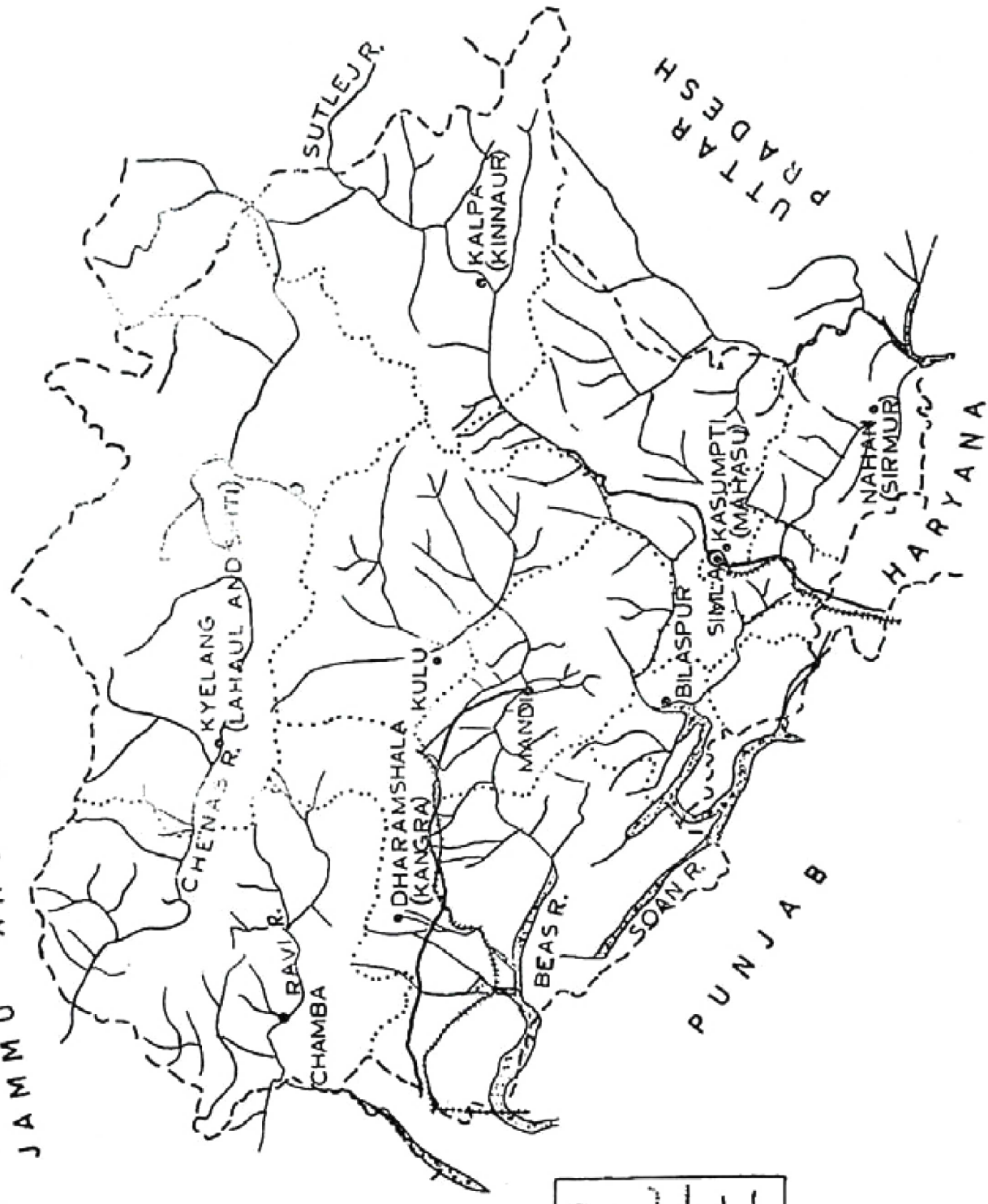
प्रथम अध्याय

भौगोलिक स्थिति और परिचय

हिमाचल प्रदेश भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर 30°-22'-40" और 33°-12'-40' उत्तरी अक्षांश तथा 75°-45'-45" और 79°-(4'-20" पूर्वी देशान्तर रेखा पर स्थित है। इस प्रदेश के पूर्वोत्तर में तिब्बत है, पश्चिमोत्तर में कश्मीर के लद्दाख और जम्मू प्रान्त। दक्षिण-पश्चिम में पंजाब और दक्षिण में हरियाणा और उत्तर प्रदेश हैं।

हिमाचल प्रदेश का क्षेत्रफल 56019·3 वर्ग किलोमीटर है। यह क्षेत्रफल देश के पंजाब, हरियाणा, केरल और नागालैंड जैसे राज्यों की तुलना में अधिक है।

पर्वत—हिमालय और शिवालिक पर्वतों से आवेष्ठित होने के कारण यह सारा प्रदेश पहाड़ी है। इसकी ऊंचाई सागरतल से 1,600 फुट से लेकर 22,000 फुट तक है। समूचा प्रदेश तीन प्राकृतिक खंडों में विभाजित किया जा सकता है—(1) शिवालिक श्रृंखला, (2) पीर पंजालिक श्रृंखला, तथा (3) जास्कर पर्वतमाला।

शिवालिक श्रृंखला मैदान और पहाड़ का मिलनस्थल है। कहां पहाड़ समाप्त हुआ और कब मैदान ने जन्म लिया, तथा कैसे वे एक-दूसरे में घुलमिल गये, यहां देखा जा सकता है। अपेक्षाकृत कम ऊंचाई की ये पहाड़ियां यहां धीरे-धीरे ऊंची उठती हैं। कहीं समानान्तर बढ़ती हैं, और कहीं एक-दूसरी से जुड़ी-सी लगती हैं। इनसे छोटी-छोटी उपत्यकायें बन गई हैं। समुद्रतल से इस क्षेत्र की ऊंचाई 1,60C फुट से 4,000 फुट तक है।

पीर पंजालिक श्रृंखला प्रदेश के मध्य में स्थित है। यह शिवालिक से अधिक ऊंची है। हिमाचल में यह श्रृंखला सतलज की घाटी से उठकर कुल्लू क्षेत्र को स्पिति क्षेत्र से अलग करती हुई पश्चिम की ओर कांगड़ा की उत्तरी सीमा बनाती है और चम्बा क्षेत्र में जा निकलती है। इस श्रेणी में धौलाधार की गिनती भी की जा सकती है। इसकी ऊंचाई सामान्यतः 4,000 से 17,000 फुट तक है। इसके कुछ पर्वत-

शिखरों पर सारे वर्ष और कुछ पर वर्ष में तीन-चार महीने वर्फ जमी रहती है। इसी पर्वतमाला से यहां की तीन मुख्य नदियां निकलती हैं।

जास्कर पर्वतमाला पीर पंजालिक के उत्तर में है, लाहुल स्पिति क्षेत्र इसके अन्तर्गत आता है। इसकी सामान्य ऊंचाई 5,000 फुट से लेकर 22,000 फुट तक है।

नदियां—किसी समय हिमाचल प्रदेश के पड़ोसी राज्य पंजाव का नाम वहां वहने वाली पांच नदियों के कारण पड़ा था, किन्तु वहां अब केवल तीन नदियां बहती हैं। इसके विपरीत हिमाचल प्रदेश में आज भी पांच वड़ी-वड़ी नदियां हैं। इनके नाम हैं—यमुना, सतलज, व्यास, रावी और चनाव। सतलज को छोड़ अन्य सभी नदियों के उद्गम-स्रोत यहीं के पर्वत हैं।

यह प्रदेश दो विश्व-विख्यात नदियों का संग्रहण क्षेत्र है। यहां का जल यदि एक ओर सिन्धु संग्रहण क्षेत्र का भाग है, तो दूसरी ओर गांगेय संग्रहण क्षेत्र का भी है। भूगोलवेत्ताओं का कहना है कि राजधानी शिमला की रिज पर पड़ने वाली वर्षा की एक वूंद यदि पश्चिम की दिशा में ढुलके तो सतलज द्वारा अरव सागर में जा पहुंचती है। अगर वह पूर्व की ओर ढुलकी तो गिरी नदी द्वारा यमुना में मिलकर वंगाल की खाड़ी में चली जाती है।

यह तो रहा प्रकृति का खेल। इधर देश के इन्जीनियर भी पीछे नहीं रहना चाहते। अभेद्य पर्वतमालाओं से निर्भीत रहकर वे स्वयं पर्वतों को छेद रावी का जल व्यास में, ये दोनों जल सतलज में और फिर वही सम्मिलित जल यमुना में मिलाने के कार्य में लगे हैं। उनकी योजना तो यह भी है कि भविष्य में गंगा से नहर निकाल कर इस जल को दक्षिण में कावेरी में मिला दिया जाए।

अरव सागर में जा मिलने वाली नदियों का उल्लेख वेदों में भी हुआ है, पर तव सतलज को शुतुद्री, व्यास को विपाशा, रावी को इरावती, चनाव को चन्द्रभागा कहा जाता था। अपने उद्गम-स्थल लाहूल में तो चनाव की दोनों सरितायें आज भी चन्द्र और भागा के नाम से जानी जाती हैं, और उनका संगम चन्द्रभागा के नाम से प्रसिद्ध है।

उपत्यकायें—हिमाचल की मुख्य नदी वस्तुतः व्यास है। लगभग 320 किलोमीटर तक इस प्रदेश में वहने वाली इस नदी ने प्राकृतिक सौन्दर्य के अपरिमित भंडारयुक्त दो उपत्यकाओं, कांगड़ा और कुल्लू, का सृजन किया है। इस प्रदेश में यों छोटी-मोटी तो अनेक घाटियां हैं। जितनी भी सरितायें हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में खड या गाड कहते हैं, उतनी ही घाटियां हैं। साधारणतया किन्हीं दो पर्वतमालाओं अथवा धारों के वीच वहने वाली सरिता के नाम से ही घाटी का नाम जाना जाता है। ढलानदार धार को छोड़कर इस प्रकार की घाटी में समतल भूमि वहुधा कुछ सौ मीटर ही चौड़ी होती है। किन्तु कांगड़ा और कुल्लू के समान विस्तृत उपत्यकायें और भी हैं। यदि हम पूर्व से पश्चिम की ओर चलें तो पांवटा घाटी, पव्वर घाटी, नालागढ़ का पंजाव और हरियाणा से लगने वाला इलाका, विलासपुर का गोविन्द सागर तटीय भाग, मंडी सुकेत की वल्ह घाटी तथा चंवा घाटी उल्लेखनीय हैं।

वन—वनों की दृष्टि से यह प्रदेश अत्यन्त समृद्ध है। भारत के कतिपय सर्वोत्तम वन यहीं पर हैं। इसका लगभग एक तिहाई क्षेत्रफल वनों से ढका है, जिनमें देवदार, कैल, चीड़, राई, तोश, वान, मोहरु, खेरस, नेउजा और बांस के वृक्ष प्रमुख हैं। वन-विशेषज्ञों के अनुसार कुल मिलाकर 250 से भी ऊपर वृक्षों की जातियां यहां प्राप्य हैं। सबसे मूल्यवान वन देवदार के हैं। सहस्राब्दियों से इसकी लकड़ी का प्रयोग होता आ रहा है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में सिन्धु घाटी नामक सभ्यता के अवशेष खोदने पर मकानों में देवदार की लकड़ी के चिह्न पाये गये हैं जिससे विदित है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व भी हिमाचल की यह लकड़ी भारत के प्रधान नगरों में विशेष आग्रह से स्वीकार की जाती रही है।

इधर कुछ वर्षों से वृक्षों की एक नई जाति—युक्लेप्टस—के वनों का सृजन करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इसकी लकड़ी अनेक उद्योग-धन्धों में काम आती है, और वन अपेक्षाकृत कम समय में तैयार हो जाते हैं।

जलवायु—भौगोलिक स्थिति के अनुरूप ही यहां की जलवायु शीतप्रद है। मोटे तौर पर हम इसे तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। जास्कर पर्वतश्रेणी क्षेत्र में शीत और खुश्क। पीर पंजालिक क्षेत्र में शीतोष्ण और शिवालिक क्षेत्र में तुलनात्मक रूप से अधिक उष्णता लिए हुए। प्रदेश में सुन्दर पर्यटन-स्थल मुख्यतः पीर पंजालिक क्षेत्र में ही है।

कृषि—जैसा हम देख चुके हैं, हिमाचल की लगभग 85 प्रतिशत भूमि या तो वनों से आच्छादित है, या बीहड़ निर्जन पहाड़ों से घिरी हुई। अनुमानतः केवल 15 प्रतिशत भूमि ही कृषि योग्य है। इसमें से भी अधिकांश भूमि सीढ़ीदार खेतों के रूप में है, जो कहीं तो केवल मीटर डेढ़ मीटर चौड़े हैं। समुद्रतल से ज्यों-ज्यों ऊंचाई बढ़ती जाती है, भूमि कृषि के अनुपयुक्त बनती जाती है। फल यह कि जहां उपत्यकाओं की समतल भूमि में वर्ष में दो फसलें—रबी और खरीफ—उगाई जाती हैं। वहां धारों के पार्श्व में या उनकी चोटी की ओर केवल रबी की फसल ही संभव है। आठ-नौ हजार फुट से ऊपर तो कृषि संभव भी नहीं। रबी में मुख्यतः गेहूं, जौ और चना तथा खरीफ में धान, मकई और माश की उपज होती है। प्रति एकड़ उपज मैदानी इलाकों की अपेक्षा कम है, किन्तु जहां कृषि के वैज्ञानिक साधन अपनाए गये हैं, वहां अन्न की उपज में काफी वृद्धि हुई है। यह माना जाता है कि यदि प्रदेश की बड़ी-छोटी सभी उपत्यकाओं में आधुनिक ढंग से उत्पादन किया जाए, तो प्रदेश अन्न में आत्मनिर्भर हो सकता है।

सिंचाई—अभी तक कृषि लगभग सम्पूर्णतया वर्षा पर निर्भर है, कहीं गाडों से छोटी-छोटी कुहलें (नहरें) निकाली गई हैं। ये कुहलें एक-एक दो-दो गांव की भूमि को सींचती हैं। सिंचाई की सुविधा प्राप्त खेतों को क्यार या रोपा कहा जाता है। कृषि योग्य सारी जमीन के केवल 7-8 प्रतिशत भाग में ही सिंचाई की व्यवस्था है। यह बात विचित्र है कि हिमाचल नदियों और गाडों का घर है, पर सिंचाई की सुविधा वहां नहीं के बराबर है। इस विरोध का कारण यह है कि पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण यहां नदियां,

नाले गहरी घाटी बनाकर बहते हैं, जिससे उनके दोनों किनारे काफी ऊंचे रह जाते हैं। नीची जलधारा से सिंचाई के साधन उपलब्ध नहीं हो सकते हैं।

फल—यहां की प्राकृतिक स्थिति कृषि तथा खाद्यान्न उत्पादन के लिए भले ही उपयुक्त न हो, फलों के लिए वह सर्वथा अनुकूल है। फल भी विविध प्रकार के प्रचुर मात्रा में होते हैं, जिनमें सेब, आम, आड़ू, नासपाती, आलूबुखारा, चेरी, अंगूर तथा चिलगोजा प्रमुख हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी तक फलोत्पादन को एक स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं समझा जाता था। राजाओं के उद्यानों को छोड़ अन्यत्र सामान्यतः जंगली फल ही प्राप्य थे। हां, प्रदेश के निचले भागों में आम के उद्यान थे। ऊंचाई पर आड़ू, खुमानी, वेमी, चूली अथवा शाड़ी आदि ही उपलब्ध होते थे।

पिछली सदी के अन्तिम चरण में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सर्वप्रथम सेव के बाग लगाने का श्रीगणेश किया। ऊंचाई तथा जलवायु इस फल के अनुकूल सिद्ध हुए और प्रयोग सफल हुआ। आज प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक 5,000 फुट से 8,000 फुट की ऊंचाई के बीच सेव के उद्यानों की एक अटूट शृंखला दीख पड़ती है।

आलू—सेवोत्पादन के कारण या उससे स्वतंत्र एक नये व्यवसाय ने जन्म लिया है। वह है आलू की खेती। ऊंचाई के खेतों में, जहां अन्न की केवल एक फसल ही संभव है, अब आलू की सघन खेती हो रही है। मुख्य उपज बीज के आलू की है। यह व्यवसाय जमींदारों अथवा कृषकों के लिए अर्थकारी सिद्ध हुआ है, और उनकी प्रति व्यक्ति आय में महत्त्वपूर्ण वृद्धि लाया है।

सेव और आलू के प्रचार से अनादिकाल से चले आए कृषि विधान में आमूलचूल परिवर्तन हुआ है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ही इसकी आर्थिक समृद्धि की अनेक संभावनाएं उपस्थित करती है। उपत्यकाओं में अन्नोत्पादन, 4,000 फुट से 8,000 फुट तक फलोद्यान और आलू की खेती, उसके ऊपर आयकारी वनों का विस्तृत साम्राज्य, जिनके ऊपर गगनचुम्बी हिम धवल पर्वत-शृंखलायें जो शीतल, स्वच्छ, विपुल जल की चिरंतन स्रोत हैं।

आकार—यद्यपि प्रकृति-प्रदत्त ये उपकरण तो अनादिकाल से हैं, पर हिमाचल प्रदेश का वर्तमान स्वरूप तो कुछ वर्षों की ही बात है। हिमाचल प्रदेश के वर्तमान भौगोलिक आकार की प्रथम रूपरेखा 15 अप्रैल 1948 को स्पष्ट उभरी, जब 30 पहाड़ी रियासतों का विलयन कर एक नवीन राज्य का निर्माण हुआ। ये रियासतें थीं—चम्बा, मंडी, सुकेत और सिरमौर, तथा शिमला के 26 पहाड़ी राज्य। इन राज्यों के नाम इस प्रकार हैं—रामपुर बुशैहर, देलठ, ढाडी, कुम्हारसैन, सांगरी, रवनेटी, दरकोटी, जुब्बल, रावीगढ़, थरोन, बलसन, घूंड, रतेश, ठ्योग, मधान, कोटी, क्योंथल, भज्जी, धामी, कुनिहार, अर्की (बाघल), सोलन (बघाट), महलोग, मांगल, कुठार और बेजा। इनमें क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ी रियासत रामपुर बुशैहर थी, जनसंख्या

की दृष्टि से मंडी। रतेश क्षेत्रफल में, और जनसंख्या में ढाडी सबसे छोटी रियासत थी। रतेश का क्षेत्रफल केवल दो वर्गमील था और विलय के समय ढाडी की जनसंख्या 282 थी।

छः वर्ष उपरान्त एक अन्य रियासत, बिलासपुर को हिमाचल प्रदेश में सम्मिलित किया गया तब भी यह प्रदेश सुसंगठित भौगोलिक इकाई नहीं बन पाया था। चम्बा जैसे कुछ भाग अन्य भागों से कटे रह गये थे। यह भौगोलिक विच्छिन्नता पहली नवम्बर 1966 को दूर हुई, जब पंजाब राज्य के पुनर्गठन के परिणामस्वरूप कांगड़ा, कुल्लू, लाहुल-स्पिति तथा शिमला के जिले और ऊना, नालागढ़ आदि अर्ध-पर्वतीय इलाकों का हिमाचल प्रदेश में विलयन किया गया था।

द्वितीय अध्याय

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

प्राचीनता—वस्तुत: हिमाचल प्रदेश बहुत पुराना है। वैज्ञानिकों की भाषा में मध्य ऊषाकालीन युग के अन्तिम दस लाख वर्ष पूर्व हिमालय का जन्म हुआ। मानवशास्त्रियों द्वारा की गई आधुनिक खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व से यहां पर प्राणी रहता चला आया है।

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक खोज दल ने विलासपुर से तीस मील पश्चिम में हरितल्यानगढ़ के निकट एक पशु जबड़ा प्राप्त किया है। प्रारम्भिक अनुमान के अनुसार यह जबड़ा आज से लगभग 80 लाख वर्ष पुराना है। इस जबड़े में दांत सुरक्षित हैं। इसी विश्वविद्यालय के एक अन्य दल को उपर्युक्त स्थल के समीप कुछ और अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार ये अस्थिपंजर उस काल के हैं जब मानव धीरे-धीरे अपने वर्तमान स्वरूप और आकार की ओर विकसित हो रहा था।

यद्यपि अभी तक कोई अति-प्राचीन समूचा मानव अस्थिपंजर प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु ऐसे अनेक प्रमाण मिले हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि आदिमानव ने शिवालिक और हिमालय की इस भूमि में जीवन व्यतीत किया।

कांगड़ा की व्यास उपत्यका में ऐसे स्थलों का पता चला है जहां आदिमानव द्वारा प्रयुक्त पाषाण शस्त्र उपलब्ध हैं। इस प्रकार के अवशेष व्यास तटवर्ती देहरा और बाणगंगा के किनारे स्थित गुलेर में मिले हैं। इन दोनों स्थलों पर पत्थर की कुल्हाड़ी, लकड़ी काटने के औजार तथा अन्य पत्थर के शस्त्र मिले हैं। पाषाण-युगीन इन शस्त्रों को 'सोहान' शस्त्रों की कोटि का माना जाता है।

उधर थोड़ा पूर्व में नालागढ़ में सिरसा नदी के किनारे रंगीन पत्थरों के औजार उपलब्ध हुए हैं, जो मुख्यत: नदी तट के मजबूत, कठोर, गोल पत्थरों के बने हैं। पास ही, रोपड़ के स्थान पर नवपाषाण-युगीन अवशेष मिले हैं।

इनके अतिरिक्त उत्तर-पाषाण-कालीन लगभग 500 अन्य औजार कांगड़ा क्षेत्र से मिले हैं। इससे विदित होता है कि मानव-विकास के लम्बे इतिहास में इस क्षेत्र ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। छः हजार वर्ष पूर्व से छः लाख वर्ष पूर्व के इस दीर्घ काल में मानव किस स्थिति से गुजरा, जीवनयापन के उसने कौन से साधन अपनाए, विकास की किन-किन मंजिलों को उसने पार किया, आज केवल अनुमान का विषय रह गया है। पर इधर की छः सहस्र वर्षों के हिमाचली मानव का इतिहास अब काफी स्पष्ट हो गया है। 'स्पष्ट' शब्द तुलनात्मक है, अभिप्राय यह है कि इस क्षेत्र के ईसा पूर्व इतिहास को यहां की भौगोलिक स्थिति को देखकर जिस प्रकार एक-दो वाक्यों में ही समाप्त किया जाता रहा है, उससे आगे बहुत प्रगति हो गई है। नई खोजों के परिणाम सामने आये हैं जिन्होंने अतीत पर छाई गहन धुन्ध को हटाने के लिए सूर्य की प्रखर किरणों का काम किया है।

हिमालय भारत के कण-कण में व्याप्त है; भारतीय चिन्तन हिमालय से ओतप्रोत है; धर्म हिमालय से निःसृत है; किन्तु यह विधि-विडम्बना है कि स्वयं यह हिमालय भारतीयों के लिए कुछ-कुछ अपरिचित-सा, मूक, निर्लिप्त, पृथक् रहा है। हिमालय ने देश के लिए जो कुछ दिया उसे हमने स्वीकार किया, किंतु उसके अपने वक्ष में क्या है, इसके जानने का हमने अधिक प्रयत्न नहीं किया। प्रतीत होता है कि हमारी दृष्टि सदैव मैदानी भागों की ओर रही। यहां तक कि हिमालय की गिरि-गुफाओं, कन्दराओं और वनस्थलों में वैठते हुए भी हमारा ध्यान सिन्धु-गांगेय प्रदेश पर ही केन्द्रित रहा। अतः यह स्वाभाविक था कि हिमालय का यह सुविस्तृत भूखंड मनीषियों और इतिहासज्ञों का ध्यान समुचित मात्रा में आकृष्ट नहीं कर पाया है।

अब जब इस ओर ध्यान जाना आरम्भ हुआ है, यह तथ्य साफ उभर कर सामने आ रहा है कि भारतीय इतिहास के लुप्त तन्तु यदि कहीं प्राप्त हो सकते हैं तो केवल इसी क्षेत्र में। इस पर्वत की शृंखलाओं और तद्जनित उपत्यकाओं में भूगर्भशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों, संस्कृति के प्रेमियों और धर्म-अन्वेषकों के लिए प्रचुर सामग्री है। यह स्वाभाविक भी है। संसार की अन्य महान गिरि-शृंखलाओं के अनुरूप हिमालय ने भी अनेक जातियों, संस्कृतियों, कलाओं और धर्मों को जन्म दिया, आगन्तुकों का आतिथ्य-सत्कार किया, उन्हें अपनाकर शरण दी और विकसित होने की सुविधा दी। अन्यत्र भले ही ये जातियां, धर्म और संस्कृतियां विस्मृत अथवा लुप्त हो चुकी हों, पर हिमालवी भूप्रदेश में उनका पृथक् स्वरूप आज भी पहचाना जा सकता है।

वास्तव में हिमाचल सब उपकरणों से सुसज्जित एक ऐसी प्रयोगशाला है जिसे वैज्ञानिकों ने केवल बाहर से झांक कर देखा है। जब हम जिज्ञासुवृत्ति से भीतर प्रविष्ट होंगे, तो हमें सहज ही वह सामग्री उपलब्ध होगी, जिसके आधार पर ही भारत के एक सुनिश्चित, सुगठित तथा तथ्यपूर्ण इतिहास की रचना हो सकेगी। देश के अन्य भागों में उथल-पुथल रही, जाति, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में क्रान्तियां आईं। सिन्धु और गांगेय प्रदेश का इतिहास तो संघर्ष की ही एक लम्बी कहानी है, जिसमें अनेक पात्र

आए, बदले, मिटे और पुनर्जीवित हुए। घटनाओं का क्रम इतना तीव्र रहा कि इनके आयाम को समझ पाना कठिन हो गया। दक्षिणी भारत परिवर्तन के इन थपेड़ों से अपेक्षाकृत सुरक्षित रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश के उत्तरतम भाग—हिमाचल प्रदेश और दक्षिणतम भाग—तमिलनाडु और केरल में—आज भी जन-जीवन में मौलिक रूप से समानता है। लगता है कि उत्तर-दक्षिण का सामान्य व्यक्ति किसी एक ही पूर्वज की सन्तान है।

देखना यह है कि वह पूर्वज कौन था ? कुछ विद्वान यह मानते हैं कि भारत में अपनी भूमि से जन्मा कोई आदिमानव नहीं। यहां जो भी लोग हैं, उनके पूर्वज बाहर से ही आये हैं। एक मानव-विज्ञानवेत्ता के अनुसार इस प्रकार की छः जातियां इस देश में आईं, जिनमें निषाद, द्रविड़, किरात और आर्य प्रमुख थीं।

भारत में सर्वप्रथम आने वाली जाति निग्रोइड मानी जाती है। कहते हैं इस निग्रो जाति के पूर्वज अफ्रीका से अरब और ईरान होते हुए यहां पहुंचे। आरम्भ में यह जाति भारत के दक्षिणी और पश्चिमी भागों में बसी, किन्तु धीरे-धीरे उत्तर-पूर्वी भागों तक जा पहुंची। इस जाति का कोई विशिष्ट चिह्न अब प्राप्त नहीं होता है।

निग्रो के पश्चात् निषाद जाति का आगमन माना जाता है। इस जाति के अन्तर्गत कोल-भील आदि उपजातियों की गणना होती है। इस जाति के लोग दरम्याना कद के थे, रंग उनका काला और नाक चपटी, सिर लम्बोतरा और शरीर पर बाल थे।

हिमालय के दक्षिणी पठार पर उत्तर की ओर से एक और जाति आई, जिसे संस्कृत साहित्य में किरात कहा जाता है। संभवतः इसी बीच पश्चिम से इस देश में एक दूसरी जाति ने प्रवेश किया। यह जाति अनुमानतः ईसा से लगभग 5,500 वर्ष पूर्व आई। इसे द्रविड़ कहते हैं। द्रविड़ों में आदि-भूमध्यसागरीय, अन्त-भूमध्यसागरीय, पौर्वात्य तथा आर्मेनोइड समूहों का बाहुल्य था। इनमें भी पूर्वी भूमध्यसागरीय लोगों का आधिक्य था। आज की द्रविड़ भाषायें संभवतः इन्हीं लोगों की देन हैं।

कई विद्वानों का कहना है कि भारत में सबसे पूर्व द्रविड़ों ने ही बड़े नगरों का निर्माण किया। इसका उदाहरण वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के नगरों को मानते हैं। इसके अतिरिक्त सभ्यता का समारंभ करने वाले भी यही लोग कहे जाते हैं। यह भी माना जाता है कि ईसा से 1,500 वर्ष पूर्व जब आर्यों का भारत में आगमन हुआ, तो उन्हें एक समुन्नत संस्कृति मिली थी।

पश्चिमी द्वार से प्रविष्ट होने के कारण ये द्रविड़ पहले तो सिंध और पंजाब में आ बसे, जहां उन्होंने बड़े-बड़े नगर बसाये, जिनमें ईंटों के बने इकमंजिला, दो मंजिला मकान थे। इन मकानों के बीच पत्थरों से बनी गलियां होती थीं और वर्षा के जल अथवा गंदे पानी की निकासी के लिए भूमि के नीचे नालियां बनी होती थीं।

कालान्तर में ये द्रविड़ देश के दक्षिणी और पश्चिमी भागों की ओर बढ़े और उत्तर में गांगेय प्रदेश में भी छा गये। प्रतीत होता है कि तब तक उन्होंने निषादों पर राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

भारत की प्राचीन संस्कृति का स्वरूप बहुत कुछ द्रविड़ है, और कई विद्वान तो यह भी मानते हैं कि बाद में आने वाले आर्यों ने द्रविड़ों की जीवन-पद्धति को ही अपनाया है। समाज का वर्ण-व्यवस्था के आधार पर संगठन इन द्रविड़ों के मस्तिष्क की ही उपज थी। आध्यात्मिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी द्रविड़ों का अत्यधिक योगदान है। योग-पद्धति के जन्मदाता द्रविड़ स्वीकार किये जाते हैं। यहां तक कि शिव और उमा तथा विष्णु और श्री (लक्ष्मी) की परिकल्पना भी इनकी बुद्धि का फल माना जाता है। कहते हैं कि देव-पूजा के लिए आज जिस जल, पुष्प और पत्र के प्रयोग का विधान है वह भी इन लोगों के कारण है।

भारत के प्रमुख अन्न, गेहूं की खेती का प्रचलन भी इसी जाति के लोगों ने किया बताया जाता है। इन्हें विविध कलाओं और शिल्पों का ज्ञान था।

द्रविड़ अपनी शक्ति सुदृढ़ कर ही रहे थे कि एक दूसरी जाति भारत में आ धमकी। नये आने वाले लोग आर्य थे। ये कौन थे और कहां से आए, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। मोटे तौर पर इन मतों को चार भागों में बांटा जा सकता है।

विद्वानों का एक वर्ग यह मानता है कि ये लोग उत्तरी ध्रुव के मूल निवासी थे। दूसरा वर्ग उन्हें ईरान के रहने वाले मानता है। तीसरे वर्ग का कथन है कि आर्य वस्तुतः भारत के अपने लोग थे और इनका जन्म सप्तसिन्धु प्रदेश में हुआ था। इनसे भिन्न चौथा मत यह है कि आर्यों की आरम्भिक जन्मभूमि मध्य एशिया अथवा दक्षिण रूस थी। इन सब मतों में कुछ न कुछ सार अवश्य है। पूरी सच्चाई क्या है, इस पर अभी और खोज की आवश्यकता है। जो भी हो, भारत में वैदिक संस्कृति और सभ्यता के निर्माता इन्हीं आर्यों को माना जाता है।

अब तक प्राप्त सामग्री के अनुसार हिमाचल प्रदेश में भी विभिन्न जातियों के आने-जाने का क्रम कुछ इसी प्रकार रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि आज का हिमाचली मानव अनेक जातियों का मिश्रण है। ये जातियां हैं—नाग, कोल, किन्नर, किरात, खश, आर्य, शक, हूण तथा गुर्जर। इनमें से नाग, कोल, किन्नर और किरात अपने पृथक् रूप में प्रायः लुप्त हो गई हैं। खश और आर्य विशुद्ध जातीय तत्त्वों के साथ आज भी वर्तमान हैं, और शक, हूण तथा गुर्जर आर्यों और खशों में अन्तर्भुक्त हो गये हैं।

सामान्यतः हम इन जातियों को दो भागों में बांट सकते हैं—प्रागैतिहासिक जातियां तथा ऐतिहासिक जातियां। प्रश्न यह उठता है कि ऐतिहासिक काल की सीमा कौन-सी मानी जाए, जिससे हम यह भेद सुगमता से कर सकें। यहां हम सुविधा के लिए भारत में आर्यों के आगमन से ही ऐतिहासिक रेखा खींच सकते हैं। इस आधार पर हिमाचल की नाग, कोल, किन्नर और किरात तथा खश जातियां प्रागैतिहासिक या प्रागार्य ठहरती हैं।

प्रागार्य जातियां—आर्यों से पहले अथवा पूर्व इतिहासकाल में सबसे पहले इस प्रदेश में कौन-सी जाति रहती थी, इस सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है। क्या वे कोल, किन्नर अथवा किरात थे या नाग ? क्या शिवालिक के आसपास ही

कहीं आदिमानव विकसित हुआ और यदि हुआ तो उसके वंशज कौन थे ? क्या निषादों की उपजाति कोल बाहर से आई थी या यहीं उत्पन्न हुई आदिम जातियों की सन्तान थी ? यदि कोल बाहर से आए, तो किरात तो थे ही विदेशी। उनका मूल स्थान मंगोलिया था। किन्नरों का किरातों के साथ क्या सम्बन्ध था ? क्या वे भी स्वदेशी थे या विदेशी ? क्या वे किरातों के ही सहजातीय बन्धु थे ? क्या किन्नर, किरात और यक्ष एक ही जाति की उपजातियां थीं ? नागों से वे किस बात में भिन्न थे ? क्या नाग भी उनमें से एक थे ? इस प्रकार के कुछ प्रश्न हैं जिनका अभी हल ढूंढ़ना है। यह हल हमें किसी पुस्तक से प्राप्त नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की पुस्तकें हैं ही नहीं। पुरातन अवशेष इसमें हमारी अधिक सहायता कर सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर हमें मुख्यतः हिमाचल के अपने जीवन से ही प्राप्त हो सकता है। यहां की संस्कृति, परम्परा और लोकवाणी इसमें हमारी विशेष सहायक सिद्ध हो सकती हैं। अतः इन जातियों के इतिहास की रूपरेखा निर्धारित करने के लिए हमें ऐसी ही सामग्री का उपयोग करना होगा। यहां ध्यान देने वाली बात यह है कि हिमाचल प्रदेश में आज भी इन नष्टप्राय जातियों के नाम ज्यों के त्यों प्रचलित हैं।

कोल—अधिकतर इतिहासकार कोलों को निषादों अथवा प्रोटो-आस्ट्रेलायड की एक उपजाति कहते हैं। यह लोग आज से छः-साढ़े छः हजार वर्ष पूर्व सारे पश्चिमी हिमालय में फैले थे। कृषि और पशु-पालन इनका मुख्य व्यवसाय था। ये झुंड बनाकर रहते थे। शिल्प से भी इनका परिचय था।

हिमाचल प्रदेश की जनसंख्या का एक विशेष वर्ग कोली कहलाता है। संभवतः ये कोली इन्हीं प्रागैतिहासिक कोलों की सन्तति हों। प्रायः यह स्वीकार किया गया है कि इस प्रदेश के कोली, हाली, डागी और डोम इन प्राचीन जातियों से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हैं। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शम्बर कोली ही था, और ऋग्वेद में उसे कोलितर कहा गया है।

"ऐंटिक्वीटीज आफ इन्डियन तिब्बत" में ए० एन० फोक का कहना है कि निर्मंड के कोली वहां के प्राचीनतम निवासी हैं, जिनका सीधा संबन्ध आस्ट्रालयड कोल आबादी से है। सिरमौर में कोलियों के दो वर्ग हैं, अन्दर के कोली और बाहर के कोली। अन्दर के कोली सवर्णों की श्रेणी के निकट हैं। इसी प्रकार पालमपुर तहसील के कोली अपने आपको प्रदेश के अन्य कोलियों से ऊंचा मानते हैं। उनकी गिनती सामान्यतः सवर्ण हिन्दुओं के साथ होती है।

किरात—यह मंगोल आकृति की जाति है, इसे तिब्बत के मार्ग से भारत में आया हुआ माना जाता है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान किरातों को तिब्बती-बर्मी (तिब्बतो-बर्मन) शब्द का पर्यायः मानते हैं। इनके अनुसार किरात द्रविड़ों और आर्यों के पश्चात् भारत में आये थे। मुख्य रूप से ये पूर्वी तथा मध्य हिमालय में रहे। सिक्किम से पूर्व का समस्त हिमालय खंड इन किरात जातियों से भरा हुआ है, यहां तक कि बंगाल,
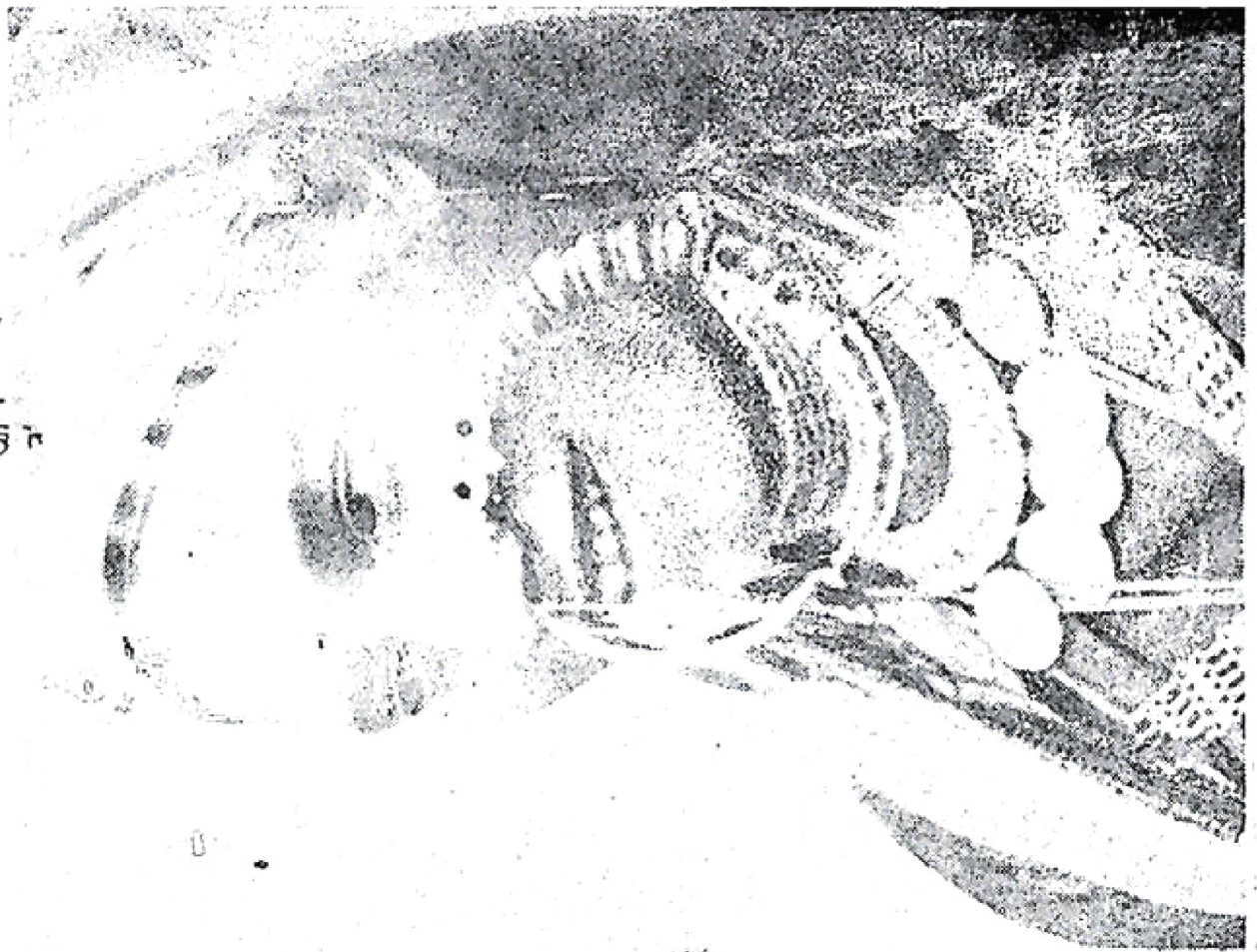
आसाम, नागालैंड, मणिपुर और त्रिपुरा की वर्तमान सभी जातियों में काफी किरात रक्त है।

हिमाचल प्रदेश में इस जाति के अवशेष नहीं के बराबर हैं। बहुत बारीकी से देखने पर केवल सिरमौर के पूर्वी छोर, महासू के उत्तरकाशी के साथ लगने वाले इलाके तथा किन्नौर के पूर्वी-दक्षिणी किनारों में किरातों का कुछ प्रभाव लक्षित होता है।

यों भारतीय साहित्य में इस जाति का उल्लेख वेदों से चला आया है। ऋग्वेद के ऋषि वसिष्ठ ने इन्हें लिंग पूजक कहा है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में किरातों को पर्वत की कन्दराओं, गुफाओं में रहने वाला कहा गया है। महाभारत में इन्हें हिमालय का निवासी माना गया है। मनुस्मृति और राजतरंगिणी तक आते-आते ये लोग चांडालों की पंक्ति में बिठा दिये गये थे।

किरात मुख्यतः पूर्वी हिमालय के पठार में रहे, अतः कुछ विद्वानों का यह मत भ्रान्तिपूर्ण है कि वैदिक आर्यों का संघर्ष पश्चिम हिमालय के जिस पर्वतीय नेता शम्बर से हुआ था, वह किरात था। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह संघर्ष पश्चिमी हिमालय और शिवालिक में हुआ, जहां किरातों का अभाव था।

यक्ष—किरातों के साथ-साथ प्रायः दो नाम और आते हैं। ये हैं यक्ष और किन्नर। ये सब जातियां हिमालय-निवासिनी थीं। यक्षों की आदिम बस्ती भारत के उत्तर में अलकापुरी मानी जाती है। यह अलकापुरी संभवतः गढ़वाल कुमाऊं क्षेत्र में थी। वैदिक साहित्य में यक्षों के लिए 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग हुआ है और परवर्ती साहित्य में उन्हें 'वीर' कहा गया है। कुछ लोगों का मत है कि जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर संभवतः यक्ष ही थे।

किन्नर—जहां तक हिमाचल का सम्बन्ध है, वहां इन जातित्रय में से केवल किन्नर ही विवेचनीय है। देश में केवल हिमाचल ही ऐसा भाग है जिसका एक क्षेत्र आज भी इस जाति के नाम से जाना जाता है। यह है किन्नर प्रदेश अथवा किन्नौर। किन्नौर में किन्नरों का वास था और है। इसके अतिरिक्त स्पिति-लाहूल भी किन्नर प्रदेश के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। इस प्रकार हिमाचल का सम्पूर्ण उत्तरी भाग किन्नरों का देश है।

अब प्रश्न यह है कि ये किन्नर थे कौन ? क्या वे यहां की आदिम जाति से थे अथवा यक्ष किरातों के सहजातीय बन्धु ? क्या वे निषादों के अवशिष्ट तत्त्व थे या आर्यों के समान ही बाहर से आए लोग ? तथा नागों के साथ इनका क्या सम्बन्ध था ? विद्वानों ने इन प्रश्नों के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं। किन्नरों की वर्तमान आकृति को देखकर अनेक मानव-विज्ञानशास्त्रियों ने यह परिणाम निकाला है कि किन्नर वस्तुतः किरात-वंशीय हैं। देश के अन्य भागों की भांति हिमाचल का यह सीमावर्ती प्रदेश अनेक जातियों का आवागमन-स्थल रहा है। यदि उत्तर के जाति तत्त्व आए तो पश्चिम और दक्षिण से भी उतने ही जाति तत्त्व मिले। इस प्रकार आज के किन्नर प्रदेश वासी में आदिम किन्नरों के रक्त का कितना अंश शेष बचा है, यह विचारणीय विषय है।

यदि किन्नरों की वर्तमान आकृति वाद के सम्मिश्रण का परिणाम है, तो उस आधार पर स्वयं किन्नरों का जाति-निर्धारण उचित नहीं होगा। अतः किन्नरों पर गम्भीरता से अधिक खोज की आवश्यकता है।

किन्नर चाहे जो भी रहे हों, यह निश्चित है कि उनका स्वभाव एकदम साधुवृत्ति का था। वे शान्तिप्रिय थे। किरातों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और सभ्य भी। किन्नर कलाप्रेमी और शिल्पी थे। कहा जा सकता है कि अपने कंठ के अनुरूप उनका स्वभाव भी मधुर था। संभवतः यही कारण है कि जहां कालिदास इनके कंठ की प्रशंसा करते नहीं थकता, वहां कुछ अन्य ग्रन्थों में इन्हें किम्पुरुष भी कहा गया है। युद्धाक्रान्त उस युग में शान्तिप्रेम संभवतः कायरता, नपुंसकता ही लगा हो।

नाग—नाग प्राचीन साहित्य की बहुचर्चित अनार्य जाति है। वेदों से लेकर पुराणों तक, गाथाओं-परम्पराओं से लेकर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति तथा अभिलेखों तक, बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन साहित्य से लेकर लोक-साहित्य तक इस जाति का उल्लेख है। यह जाति लोक नाट्य में अभिनीत होती है, लोक कला में चित्रित होती है। संभवतः यह विश्व की उन अकेली-दुकेली जातियों में से है जो अपने भौतिक स्वरूप के साथ-साथ आध्यात्मिक रूप भी धारण कर गई है। नाग जाति साकार भी रही, निराकार भी बनी। मनुष्य भी रही और देवत्व भी पा गई।

किसी समय नाग सारे भारतवर्ष में बसते थे। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तथा पंजाब से लेकर आसाम तक समूचा प्रायद्वीप उनके अधिकार-क्षेत्र में था। उत्तर में किन्नौर के कोठी ग्राम में उनके स्मृति-चिह्न हैं। उधर दक्षिण भारत के पूर्वी तट पर नेगपटम् और पश्चिमी तट पर नगरकोइल आज भी अपने प्राचीन निवासी नागों का नाम लिये हुए हैं। नर्मदा क्षेत्र में भी नागों के होने का उल्लेख है। इतना ही नहीं, लंका के महावंश में भी उनका उल्लेख मिलता है। श्री एस० वी० वेंकटेश्वर दक्षिण भारत के मडावार लोगों को नाग मानते हैं।

ऋक्, यजुः और अथर्व, तीनों वेद नागों का विवरण देते हैं। ऋग्वेद में नागों के एक नेता अदृणक का उल्लेख है। अदृणक को कृष्ण के समान ही इन्द्र का विरोधी बताया गया है। इन्द्र-विरोधी एक अन्य नाग का भी जिकर है, जिसके सम्बन्ध में आगे बताएंगे। अथर्ववेद नागों को 'देवजन' कहता है और उनकी गणना गन्धर्व, अप्सरा, देव, यक्ष और पितरों के साथ करता है।

महाभारत और बौद्ध-साहित्य तो नागों के वर्णन से भरे पड़े हैं। महाभारत में खांडवदाह, जनमेजय का नाग यक्ष, कर्ण-अर्जुन युद्ध आदि अनेक आख्यान हैं जिनमें नागों का वर्णन है।

'विनय-पिटक' की एक कथा के अनुसार महात्मा बुद्ध ने नागों को संघ के अनुशासन और भिक्षु जीवन के अनुपयुक्त ठहराया था। एक अन्य बौद्ध कथा के अनुसार मुनुलिन्द नामक नाग ने नवजात गौतम बुद्ध पर छाया कर धूप और वर्षा से उनकी रक्षा की थी। इससे पूर्व नन्द और उपनन्द नामक दो नागों ने गौतम के प्रसव में

सहायता की थी।

जैन-सूत्रों के अनुसार सुपार्श्व और पार्श्वनाथ तीर्थंकर नाग-चिह्न धारण करते थे। संभव है वे स्वयं नाग रहे हों।

पुराण और जैन तथा बौद्ध साहित्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि महात्मा बुद्ध और महावीर के समकालीन बिंबसार और अज्ञातशत्रु दोनों शिशुनाग वंश के थे। अल्तेकर, परिजितर, प्रधान और पुसालकर सरीखे विद्वानों ने इन वंशों की एक सूची दी है, जिससे पता चलता है कि इनमें से प्रथम वंश ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पहले से था।

विष्णु पुराण में 12 प्रधान नागों का उल्लेख है। इनके नाम हैं—शेष, वासुकि, तक्षक, शंख, श्वेत, महापद्म, कंवल, अश्वतर, एलापत्र, नाग, कर्कोटक और धनंजय। पद्म पुराण में अनन्त, वासुकि, तक्षक, महाबल, कर्कोटक, नागेन्द्र, पद्म, महापद्म, शंख, कुलिक, अपराजित आदि प्रमुख नाम हैं। साधारणतया अष्ट नाग प्रसिद्ध हैं। उनके नाम हैं— अनन्त, जो शेष का ही दूसरा नाम है, पद्म, शंकु, शुकंबल, वासुकि, कर्कोटक, एलापत्र और तक्षक। इन तीनों उद्धरणों से मालूम होता है कि शेष, वासुकि, कर्कोटक और तक्षक सर्वाधिक शक्तिशाली नाग नेता रहे होंगे। राजतरंगिणी के अनुसार कर्कोटक तो कश्मीर राजवंश का संस्थापक था।

विनय पिटकम् तथा अन्य बौद्ध साहित्य में नागों की चार जातियों का उल्लेख है। ये जातियां हैं—विरुपख, एरापल, छव्यापुत्त और कणागोत्तमक। विरुपख और एरापल को पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र का लोकपाल भी कहा गया है, जिससे यह संकेत मिलता है कि विरुपख का अधिकार-क्षेत्र देश का पश्चिमी भाग रहा होगा और एरापल का प्रभुत्व पूर्वी भाग में रहा होगा।

इन नाग नेताओं अथवा शासकों के उल्लेखों के अतिरिक्त अनेक ऐसे विवरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही नाग और आर्य आपस में विवाह संबंधों में बंधते रहे हैं। यह अब प्रायः स्वीकार किया गया है कि रावण के पुत्र मेघनाद की पत्नी सती सुलोचना नाग कन्या थी। स्वयं राम के पुत्र कुश का विवाह नाग रमणी से हुआ था। शूरसेन के अधिपति शूर की माता और उग्रसेन की रानी नाग महिलायें थीं। अर्जुन की दो पत्नियां उलूपी और चित्रांगदा, नाग वंशजा थीं। भीम की पत्नी और घटोत्कच्छ की माता हिडिम्बा भी संभवतः कुल्लू की ही कोई नाग पुत्री थी।

ऐतिहासिक काल में सुप्रसिद्ध मगध सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजमहिषी कुबेरा नाग वंश की थी। दक्षिण के वाकाटक वंश के गौतमी पुत्र का विवाह पद्मावती के शासक भवनाग की राजपुत्री से हुआ था। इससे विदित होता है कि भारत के अनेक शक्तिशाली राजवंश नागों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में गौरव अनुभव करते थे।

समूचा हिमाचल प्रदेश नागों की क्रीड़ास्थली रहा है। परम्परा के अनुसार चम्बा में मधोड़, कुल्लू में तांडी और जमलू, सतलज की उपत्यका में नातड़ी, मंडी

करसोग में माहू, सिरमौर में नोना नाग अत्यन्त बलवान नाग हुए हैं। ये सभी नाग शासक थे, पर क्या वे सभी समकालीन भी थे यह कहना कठिन है। आज केवल यह कहा जा सकता है कि ये शक्तिशाली शासक थे। यही कारण है कि माहू और विशेर नाग जैसे नाग नेताओं की पूजा आज भी होती है। उनके प्रभाव का क्षेत्र काफी विस्तृत है। किसी समय कुल्लू 18 नागों के शासन-क्षेत्र में बंटा हुआ था, इस प्रकार की अनेक अनुश्रुतियां प्रचचित हैं।

हम देख चुके हैं कि नागों की ऐतिहासिक रूपरेखा सहस्रों वर्षों तक उभर-उभर कर सामने आती है। प्रागैतिहासिक काल से ईसा की सातवीं शताब्दी तक एक अटूट शृंखला नागों की हम देखते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि यह अत्यन्त प्राचीन जाति कौन थी, क्या यह सभ्य थी या असभ्य, इसका स्वभाव कैसा था, प्रकृति कैसी थी ? इन शंकाओं का स्पष्ट समाधान उपलब्ध नहीं हो सकता है। ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा परम्परा के आधार पर हम केवल सम्भावनाएं ही प्रस्तुत कर सकते हैं।

नाग वीर और स्वाभिमानी जाति थी। अपने देश के लिए तथा अपने मान के लिए इसमें सर्वस्व होम कर देने की प्रवृत्ति थी। एक बार नागों के प्रतिद्वन्द्वी नरैणों ने नाग स्त्री जाति से दुर्व्यवहार किया था। परिणाम यह हुआ कि नाग पीढ़ी दर पीढ़ी, अनेकों वर्षों तक अपने अपमान का बदला चुकाने लगे, और तभी दम लिया जब नरैणों को खदेड़ कर प्रदेश से बाहर फेंक दिया। कुल्लू के अठारह नागों और अठारह नरैणों का संघर्ष इसका उदाहरण है।

नागों का देशप्रेम अतुलनीय था। एक-एक चप्पा भूमि के लिए इन्होंने शत्रुओं का मुकाबला किया। नागों का समूचा तीन-चार हजार वर्षों का इतिहास, वास्तव में, देश-रक्षा के प्रयत्नों का ही ब्यौरा है। भूमि से उन्हें अत्यधिक प्रेम था। वह न केवल उनका ही निर्वाह करती थी, अपितु उनके पशुधन का भी आधार थी। नाग बड़े कुशल पशुपालक थे। वे पशुओं द्वारा खेती करते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, पर इतना स्पष्ट है कि पशुपालन वे घी, दूध के लिए करते थे। यह इससे भी विदित है कि प्रायः समूचे हिमाचल प्रदेश में आज भी गाय के दुधारू होने पर दूध और घी सर्वप्रथम केवल नाग देवता को अर्पित किया जाता है। नाग-अपर्ण से पूर्व उसका उपभोग वर्जित है।

पशुपालन के लिए वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते होंगे, अथवा पशुओं को ही किसी दूसरे स्थान पर ले जाते होंगे। उनकी यह रीति आज भी प्रचलित है, जबकि वर्षाकाल में बैलों और घोड़ों को ग्राम से बाहर खुली चरागाह में महीने दो महीने के लिए छोड़ दिया जाता है। अपने इस पशुपालन के लिए भ्रमण के कारण वे समस्त भूगोल से सुपरिचित हुए होंगे। उन्हें न केवल पृथ्वी के ऊपर की प्रकृति अथवा पदार्थों का ज्ञान रहा, अपितु किसी न किसी रूप में उन्हें खनिज पदार्थों की भी जानकारी रही होगी। अतः वे एक प्रकार से प्रथम भूगर्भशास्त्री रहे होंगे। संभव है उनके इसी भूगर्भ-ज्ञान के कारण उन्हें पातालवासी माना गया हो, और उनका साम्य

विल में रहने वाले सर्पों से किया गया हो, जिनके विषय में मान्यता यह है कि वे भूमि के भीतर के रहस्य जानते हैं। यह विश्वास है कि नाग धन के रक्षक हैं और सोना-चांदी, हीरे-जवाहरात के पहरेदार हैं। संभवत: यह नागों द्वारा इन खनिजों की जानकारी का ही फल है।

हम देख चुके हैं कि नाग कृषक और पशुपालक थे। प्रदेश में प्राचीन काल से चली आई सिंचाई की व्यवस्था से अनुमान लगाया जा सकता है कि नागों को शायद सिंचाई का भी ज्ञान रहा हो। कुहलों का प्रचलन, संभवत:, नागों द्वारा ही हुआ होगा। इसकी पुष्टि जन-मानस में नागों की जलदेवता के रूप में स्वीकृति से होती है। कृषि के लिए जब वर्षा की आवश्यकता होती है तो नाग देवता की ही शरण ग्रहण की जाती है। इसका अभिप्राय अनुमानत: नागों की उस कुशलता से है, जिससे उन्होंने कृषि के लिए वर्षा पर निर्भरता को कम कर दिया था। हिमाचल प्रदेश तथा इसके बाहर ऐसी अनेक किंवदन्तियां, अनुश्रुतियां और गाथायें हैं जिनमें नागों को जलाशयों और नदियों का स्वामी अथवा निवासी बताया गया है।

कुछ ऐसी कथायें हैं जिनसे नागों के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार की एक कथा का उल्लेख राजतरंगिणी में हुआ है। उसके अनुसार जेहलम (वितस्ता) नदी के किनारे राजा नर की राजधानी के निकट ही एक स्वच्छ जलाशय में रहने वाले सुश्रव नाग और उसकी दो कन्याओं ने भूखों मरना मंजूर किया, किन्तु पेट भरने के लिए अनधिकार रूप से प्राप्त अन्न ग्रहण नहीं किया। नागों का यह नियम था कि जब तक खेती का रक्षक स्वयं उस खेत में उत्पन्न अन्न को ग्रहण नहीं कर लेता, वे उसे छूते तक नहीं थे। इससे विदित है कि नागों में मर्यादा का स्तर बहुत ऊंचा था और चोरी जैसे दुष्कर्म से ये दूर ही रहते थे। इस कथा से एक अन्य रोचक रीति का भी पता चलता है। आज भी हिमाचल के प्राय: सभी भागों में नव-अन्न 'तया' जैसे किसी पूर्व पुरुष या कृषि रक्षक को देने का प्रचलन है। संभव है कि यह परिपाटी नाग-युग से ही चली आ रही हो और नागों की ही देन हो।

नाग संभवत: छोटी-छोटी टुकड़ियों में, पृथक्-पृथक्, दूर-दूर बस्तियां बसाकर रहते थे। ये बस्तियां गढ़ कहलाती थीं। नागों के छोटे-छोटे कुटुम्ब-समूह होते थे। इनका मुखिया सबसे बुजुर्ग पुरुष होता था। यह अनुमान नाग देवता के प्रति साधारण जनता तथा नाग देवता के पूजकों के दृष्टिकोण से लगाया जा सकता है। नाग के 'गूर' अथवा 'ग्रोगच' के सामने नाग देवता का स्वरूप एक 'बूढ़े-बाबा' का है। कहा जाता है कि जब भी वह अपने इष्ट को सम्बोधित करेगा, अथवा उसका ध्यान करेगा, तो उसके सम्मुख आकृति एक 'वृद्ध जटाधारी व्यक्ति' की ही होगी।

स्त्रियों का नाग समाज में विशेष आदर नहीं रहा होगा। लगता है मुख्यत: कृषि-कार्य में ही महिलायें पुरुषों की सहायक रही होंगी। संभव है नागों की इस प्रदेश में पराजय के पीछे भी स्त्रियों का ही हाथ रहा हो, और नाग पुरुषों की दृष्टि में वे अविश्वसनीय रही होंगी। यही कारण है कि आज भी नाग देवता के मन्दिर में नाग

'पिंडी' के समक्ष नारी की उपस्थिति वर्जित है।

नागों के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट है, उनकी वृत्ति सात्विक की अपेक्षा राजसिक अधिक थी। वे किन्नरों की भांति सहिष्णु नहीं थे। अपनी भूमि के लिए, अपने अधिकारों के लिए उन्होंने सदा अपने प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध किया। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि हिमाचल में नागों के वंशज डोगरा वीर विश्व के अद्वितीय योद्धा हैं।

अपने लम्बे जीवनकाल में नागों को एक नहीं अनेक शत्रुओं से बहुधा एक ही बार लोहा लेना पड़ा। ऋग्वेद के अनुसार उनका सशस्त्र साक्षात्कार आर्यों से हुआ, पर स्थानीय परम्परायें इस संघर्ष की कहानी और भी पहले ले जाती हैं। आज तक जीवित तथा अभिनीत परम्पराओं के अनुसार नागों को न केवल आर्यों से ही लोहा लेना पड़ा, अपितु आर्यों से भी पूर्व भारत में प्रविष्ट एक अन्य जाति से भी टक्कर लेनी पड़ी। यह जाति थी खश। खशों की चर्चा आगे होगी। यहां यह कहना ही काफी है कि हिमाचल प्रदेश में नागों को समाप्त करने में उन्होंने बहुत बड़ी भूमिका निभाई।

नाग-खश संघर्ष का मुंह बोलता चित्र आज भी हमें प्रतिवर्ष देखने को मिलता है। यह संघर्ष अत्यन्त भयंकर रहा होगा, इसीलिए हजारों वर्ष बीत जाने पर भी लोक-चेतना पर अभी तक उसकी अमिट छाप बनी हुई है। 'बूढ़ी दियाउड़ी', 'दियाउड़ी' और 'मशराड़ी' मेले इस दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

'दियाउड़ी', 'बूढ़ी दियाउड़ी' या 'मशराड़ी' मेला व्यास, सतलज, पब्बर तथा गिरी-यमुना उपत्यकाओं में अनेक स्थानों पर मनाया जाता है। इसका समारंभ मार्गशीष मास में दीपावली के बाद की अमावस्या से होता है। कहीं-कहीं यह मेला केवल एक दिन में समाप्त हो जाता है पर अन्यत्र दो दिन तक चलता है। इस 'दियाउड़ी' की प्रमुख विशेषता यह है कि यह ऐतिहासिक पर्व, लोकनाट्य, लोकगाथा और सामूहिक मनोरंजन का अद्वितीय सम्मिश्रण है। इस मेले का रात्रि में मनाया जाने वाला स्वरूप विशुद्ध ऐतिहासिक है तथा दिन का इतिहास-मिश्रित मनोरंजनकारी है।

सतलज उपत्यका में स्थित निर्मंड की 'दियाउड़ी' इस सम्बन्ध में सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। निर्मंड में मग्घर मास की अमावस्या को दसनामी अखाड़े के प्रांगण में प्रचंड प्रज्वलित अग्नि के गिर्द खश-दानव युद्ध का अभिनय होता है। खश और दानव में शक्ति-परीक्षण होता है और दोनों एक-दूसरे को नीचा दिखाने में पूरा जोर लगाते हैं। खश अपने स्थान की सुरक्षा करते हैं, जबकि 'दानवे' (दानव) उस पर तीव्र आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में लाना चाहते हैं। खशों का यह प्रयत्न होता है कि दानवे किसी भी हालत में अग्नि की प्रदक्षिणा न कर सकें, जब कि उनके प्रतिद्वन्द्वियों का यही मात्र लक्ष्य होता है। वाद्ययंत्रों पर एक अत्यन्त उत्तेजक धुन बजाई जाती है, जिसका नाम ही 'दियाउड़ी' है।

दूसरे और तीसरे दिन प्रातः, रात के दानवे, सर्पाकार नाग लेकर नाचते हैं। इस नाग को जिसे स्थानीय भाषा में 'बांड' कहते हैं, खश छल द्वारा काट देते हैं। 'नाग-खश' युद्ध के संबंध में यह लोक-परम्परा है कि प्राचीन काल में इस प्रदेश में दो बलवान

नाग घुस आए थे। वे प्रायः सर्पों का रूप धारण करते थे। उन्होंने लोगों को डराना, तंग करना आरम्भ कर दिया। जानोमाल की क्षति पहुंचाई, लोगों में त्राहि-त्राहि मच गई। उन्हें मारने या अन्यत्र भगाने के सारे प्रयत्न असफल रहे। इस पर लोगों ने उन्हें इस बात पर राजी किया कि निर्मंड में उन्हें पूरी मान्यता दी जाएगी। नाग चाहते भी यही थे। निर्मंड पर अधिकार हो जाने से सारे प्रदेश पर उनका प्रभाव बड़ी सुगमता से फैल सकता था। नाग अपनी इस जीत से बड़े प्रसन्न थे। इसके उपलक्ष्य में उन्होंने एक मेले का आयोजन किया और स्वयं 'नाटी' के मुखिया बने। जीत की खुशी और नृत्य के आनन्द से विभोर नागों ने 'नाटी' के अभी अढ़ाई फेरे (चक्कर) ही लगाए थे कि खशों ने आक्रमण कर उन्हें तलवार के घाट उतार दिया।

इस परम्परा के मूल बीज का यदि विश्लेषण किया जाए तो जाहिर हो जाएगा कि इस प्रदेश में पहले बलवान् नाग रहते थे। आमने-सामने के संघर्ष में तो खश उन पर विजय नहीं पा सके, अतः उन्होंने धोखे का सहारा लिया। प्रकटतः उन्होंने नागों की अधीनता स्वीकार कर ली। जब नागों का विश्वास जीत लिया, तो धोखे से उनके मुखिया को मार कर स्वयं मुखिया बन बैठे।

रात के खश-दानव संघर्ष से यह तथ्य ज्ञात होता है कि नागों ने धोखा खा जाने के बाद एकदम पराजय स्वीकार नहीं की, अपितु चोट खाये सर्प की तरह अत्यन्त क्रुद्ध होकर उन्होंने खशों पर जबरदस्त प्रत्याक्रमण किया। परन्तु लगता है कि वे खशों से अपने अधिकारों को वापिस लेने में असमर्थ रहे। यह भी संभव है कि रात के संघर्ष में नागों द्वारा खशों के गढ़ों पर अधिकार करने के लिए किया गया आक्रमण अभिनीत हो, और दिन के अभिनय में खशों की अन्तिम विजय।

यहां विचारणीय बात यह है कि निर्मंड की दियाउड़ी स्पष्टतया खश और दानव का नामांकन करती है। दियाउड़ी में खशों के सहायक ब्राह्मण अर्थात् आर्य भी दिखाए गए हैं, जिससे प्रतीत होता है कि जिस संघर्ष का यह चित्रण है उसके एक ओर आर्य और खश रहे होंगे और दूसरी ओर दानव अर्थात् नाग। दानव निस्सन्देह नाग ही हैं, यह ऋग्वेद से स्पष्ट है, जहां शम्बर को अहि और दानव कहा गया है—

'यः शम्बर पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरधन्वविन्दते,
ओजायमानं यों अहिं जघान दानुं शयानं सजसान इन्द्रः।'

(2.12.11)

नागों को एक साथ दो-दो प्रबल शत्रुओं का सामना करना पड़ा। लगता है एक ओर से खशों ने आक्रमण किया और दूसरी ओर के आक्रान्ता आर्य थे। इन दोनों पाटों के बीच बेचारे नाग ऐसे पिसे कि कालान्तर में उनकी स्वतन्त्रता ही विलुप्त हो गई, स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रही।

ऋग्वेद में ऋषि जिन भयंकर प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख करते हैं, वे हिमाचल के ही लोग थे। उनके नायक शम्बर के तब शिवालिक और संभवतः धौलाधार की पहाड़ियों पर एक सौ 'पुरियां' गढ़ अथवा दुर्ग थे।

अध्वयवो यः शतं शम्वरस्य
पुरो विभेद् आश्मनेव पूर्वी ।

आर्य नेता दिवोदास भरतकुल से था और उसका राज्य रावी, व्यास और सतलज (परुष्णी, विपासा और शतुद्रि) के वीच का मैदानी भाग था, जिसमें आधुनिक पंजाव के जालंधर, कपूरथला, अमृतसर, फिरोजपुर, गुरदासपुर और होशियारपुर के जिले और पश्चिमी पाकिस्तान का सीमावर्ती प्रदेश आता है।

शम्वर का राज्य व्यास (विपासा) और रावी (परुष्णी) के मध्य का पर्वतीय भूभाग था। इस क्षेत्र में वर्तमान कुल्लू, मंडी, कांगड़ा और चम्वा आते हैं। यद्यपि आल इंडिया गेजेटीयर के अनुसार दिवोदास सुदास-शम्वर युद्ध पंचाल अथवा रुहेलखंड की पहाड़ियों में हुआ, किन्तु अव प्रायः सभी विद्वान सहमत हैं कि यह युद्ध सप्तसिन्धु क्षेत्र में स्थित वर्तमान हिमाचल प्रदेश की पहाड़ियों में हुआ था।

शम्वर को कई लेखक किरात नेता मानते हैं, किन्तु यह भ्रान्तिपूर्ण है। किरातों के साथ आर्यों का संघर्ष उनके प्रवेश-काल के वहुत वाद हुआ था, जव कि वे सप्तसिन्धु क्षेत्र से पूर्व की ओर वढ़ने लगे। दूसरे मानवशास्त्री अव यह मानते हैं कि किरात आर्यों के पश्चात् भारत में प्रविष्ट हुए। ऋग्वेद में तो उन लोगों का जिकर है जो भारत में आर्यों से भी पहले रहते चले आए थे। तीसरे यह निश्चित है कि हिमाचल प्रदेश कभी किरातों का प्रदेश नहीं रहा है। ऋग्वेद में शम्वर को कुलितर का पुत्र, पर्वतीय भूमि का अधिपति माना गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में केवल संघर्ष का उल्लेख है। इस नगण्य सामग्री के आधार पर उसे किरात नहीं माना जा सकता है। ऋग्वेद के "अनासो दस्यूरँमृणो वधेन निदर्योण अवृणाङ् मृधर वाचः" में 'अनास' शब्द को यदि चपटी नाक के अर्थ में भी लें, तो हो सकता है कि आर्यों की लम्वी नाक की अपेक्षा नागों की नाक चपटी रही होगी। केवल चपटी नाक को आधार मान कर शम्वर को किरात नहीं कहा जा सकता है। यदि शम्वर और उसके लोग किरात थे, तो क्या कारण है कि वंगाल, असम, मध्य और पूर्वी हिमालय में उनके वंशज हैं, किन्तु हिमाचल के सीमान्त इलाकों को छोड़ अन्यत्र वे लुप्त हो गए हैं। इससे स्पष्ट है कि शम्वर किरात नहीं था। अव प्रश्न यह है कि यदि वह किरात नहीं था तो कौन था ? जैसा कि हम देख चुके हैं कि लोक परंपरा आर्य-खशों का प्रतिद्वंद्वी नागों को मानती है। ऋग्वेद में भी शम्वर को दानव, अहि वृत्र आदि कहा गया है। दानव तो स्पष्टतः नाग है, अहि और वृत्र भी नागों को ही निर्दिष्ट करते हैं। अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि शम्वर नाग था।

शम्वर-दिवोदास युद्ध 40 वर्ष तक चलता रहा। यह लम्वा संघर्ष दो जातियों का टकराव था। जिसमें दोनों ओर से सव कुछ स्वाहा करने की होड़ थी। नाग जाति कितनी प्रवल थी यह इससे स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद से हमें यह भी ज्ञात हो जाता है कि दिवोदास, सुदास और इन्द्र शम्वर को रणक्षेत्र में परास्त नहीं कर सके और उन्हें उसे सोते हुए को मारना पड़ा।

अव शम्वर यदि नाग था, तो यह भी संभव है कि आर्यों के सप्तसिन्धु में

आगमन के समय स्वयं नाग या उनके सहजातीय बांधव वहां के निवासी रहे हों और सिन्धु सभ्यता के कर्त्ता और उपभोक्ता वे ही हों।

सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता—विद्वानों में इस बात में बड़ा मतभेद है कि सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता कौन थे। यह मतभेद इसलिए भी गंभीर हो गया है कि निर्णय करने के लिए हमारे पास केवल दो ही मुख्य सूत्र उपलब्ध हैं। ये सूत्र हैं—(1) अस्थि-पंजर, और (2) मुद्राओं पर अंकित चित्र। मानवशास्त्रियों के अनुसार इनमें से प्रोटो आस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागर तटवर्तीय, मंगोलियाई और आल्पस इन चार जातियों का पता लगा है।

इस आधार पर अनेक अनुमान लगाए गये हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता और उपभोक्ता सुमेरियाई, पणी, असुर, ब्राहुई, बाहीक और दास थे। कुछ अन्य कहते हैं कि वे लोग कोल, भील और द्रविड़ थे, जबकि कुछ अन्य इतिहासकारों का विचार है कि वे स्वयं आर्य ही थे। पर इन सब मतों के विपरीत विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि इस सभ्यता के जन्मदाता केवल द्रविड़ थे। अपने इस मत की पुष्टि ये विद्वान मानव विज्ञान शास्त्र, धर्म और सभ्यता के विविध उपकरणों की साक्षी देकर करते हैं। इनका कहना है कि मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और चन्हूदड़ो में प्राप्त अस्थि-पंजरों से ज्ञात होता है कि वे अधिकांशतः द्रविड़ों के हैं। सिन्धु सभ्यता का मुख्य देवता पशुपति तो अनार्य द्रविड़ ही है, जिसकी पूजा आज भी समूचे दक्षिण भारत में होती है। भारत आने पर आर्य नागरिक सभ्यता से एकदम अपरिचित थे। इसलिए मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे बड़े नगरों के निर्माता द्रविड़ ही हो सकते हैं।

उनके अनुसार अनेक प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि किसी समय द्रविड़ भाषा मध्य, उत्तरी तथा पश्चिमी भारत में और संभवतः पूर्वी भारत अर्थात् सारे देश में व्यवहार में लाई जाती थी। बलोचिस्तान में ब्रुही के आसपास आज भी द्रविड़ से मिलती-जुलती भाषा बोली जाती है। इससे प्रतीत होता है कि ब्रुही उस विशाल द्रविड़ प्रदेश का एक छोटा-सा अवशेष रहा हो जो कभी दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, मालवा, गांगेय प्रदेश, राजपूताना, पंजाब और सिन्ध होता हुआ बलोचिस्तान तथा अफगानिस्तान तक फैला था।

कतिपय विद्वान आज भी यह मानते हैं कि उत्तर भारत में अनेक ऐसे स्थान हैं जिनके नाम का स्वरूप द्रविड़ है। इसके अतिरिक्त हिन्दू रीति-रिवाज, विधि-विधान, विचार, मिथक, पुराण एवं इतिहास पर द्रविड़ प्रभाव तथा ऊपरी गांगेय प्रदेश के लोगों में भूमध्यसागरीय तत्त्वों का होना, सब यह संकेत करते हैं कि किसी समय द्रविड़ पंजाब और ऊपरी गांगेय उपत्यका में भी बसते रहे हों। इसके आधार पर इन विद्वानों का अनुमान है कि एक काल तक उत्तरी भारत के लोग द्रविड़ और आस्ट्रिक रहे हों, पर चूंकि उनका पृथक्-पृथक् क्षेत्र नहीं था, अतः आर्यों को उन पर अपना सर्वव्यापी प्रभाव डालने में अधिक कठिनाई नहीं आई, और परिणामतः आर्यों को द्रविड़ों और आस्ट्रिकों

का नामोनिशान मिटाने में सफलता मिली।

ये सभी तर्क कुछ सीमा तक ग्राह्य हैं, परन्तु समस्या ज्यों की त्यों उलझी ही रहती है। प्रश्न यह है कि सिन्धु सभ्यता के जन्मदाता यदि द्रविड़ होते तो क्या कारण है कि उस सभ्यता के अवशेष जहां उत्तरी और पश्चिमी भारत में जहां तहां उपलब्ध हो रहे हैं, वहां नर्मदा से दक्षिण में एक स्थान पर भी इस प्रकार का कोई अवशेष अभी तक नहीं मिला ? यदि वे इस सभ्यता के निर्माता होते तो क्या यह संभव है कि नागरिक सभ्यता का वे पश्चिमोत्तर में तो उपयोग करते, पर दक्षिण में जाकर उसे एकदम भूल गये ? दक्षिण भारत में राजनीतिक उथल-पुथल और वाह्य आक्रमणों से विध्वंस भी वहुत कम हुआ है। अतः वहां पर सिन्धु परंपरा जीवित मिल सकती थी।

दूसरे केवल मात्र अस्थिपंजरों के आधार पर भी हम उन्हें द्रविड़ नहीं मान सकते। इस क्षेत्र में अनेक जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। आर्यों का जन्म चाहे भारत में हुआ मानें, या उन्हें बाहर से आया हुआ स्वीकार करें, उन्हें दोनों स्थितियों में संघर्ष करना पड़ा होगा। इस संघर्ष के प्रतिद्वंद्वियों को उन्होंने दो वर्गों में विभिक्त किया था। एक तो दास एवं दस्यु तथा दूसरे निषाद। कोल आदि जातियां निषाद थीं पर यह दास एवं दस्यु कौन थे ? क्या द्रविड़ों को ही दास कहा गया है ? यदि द्रविड़ ही दास थे तो दक्षिण भारत को छोड़, अन्यत्र वे क्यों अप्राप्य हैं ? तथा आर्यों ने दासों को विजित तो किया, किन्तु निर्मूल नहीं किया। इसके विपरीत उनके साथ अन्तर्जातीय विवाह कर उन्हें समाज में अन्तर्भुक्त कर दिया। यदि द्रविड़ इस प्रकार अन्तर्भुक्त हुए तो सम्पूर्ण देश में, विशेषतः उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी जनसंख्या में अब भी द्रविड़ रक्त की बहुलता होनी चाहिये। यदि यह बहुलता है तो क्या कारण है कि वे दक्षिण भारत में तो आर्यों के गहन सम्पर्क में आने पर भी अपने द्रविड़ स्वरूप को अक्षुण्ण रख सके, जबकि अन्यत्र द्रविड़ों का मानव विज्ञान क्षेत्र में प्रायः लोप ही हो गया ?

इसके अतिरिक्त यदि हम यह मान लें कि सिन्धु सभ्यता द्रविड़ों की थी और आर्यों ने आक्रमण कर उसे तहस-नहस कर लिया, तो क्या इन नगरों की एवं सारे क्षेत्र की जनसंख्या को उन्होंने मौत के घाट उतार दिया या उन्हें इस क्षेत्र से भगा दिया ? अनेक विद्वान अब यह मानने लगे हैं कि सिन्धु सभ्यता के विनाश का कारण भूगर्भीय परिवर्तन है। इससे समुद्रतल ऊपर उठ गया और फलस्वरूप सिन्धु नदी का बहाव रुक गया। नदी के किनारे बड़े बड़े शहर बाढ़ की लपेट में आ गए। इस क्षेत्र में पहले भी बाढ़ आया करती थी, जिससे बचने के लिए नगरवासियों ने पुश्ते बना रखे थे। खैर, विध्वंस का जो भी कारण रहा हो, लोग वहां से चले गए। सिन्धु घाटी के ये लोग जब जान बचाने के लिए भागे तो क्या वे गांगेय तथा अन्य प्रदेश में अपने सहजातीय लोगों की ओर नहीं गये ? क्या यह संभव है कि वे लोग भागते-भागते विन्ध्याचल के दक्षिण में ही गये ? यदि शत्रु ही उनका पीछा कर रहा था तो सप्तसिन्धु क्षेत्र में पहली झड़प के साथ क्या वे लोग अपने प्राण बचाने के लिए जहां भी उन्हें सुरक्षा मिली वहां नहीं गये ? यदि गए तो उनके लिए इस प्रदेश में बहने वाली नदियों के प्रवाह-मार्ग से

बढ़कर और कौन-सा सुरक्षित और निकटतम प्रदेश हो सकता था ? अत: क्या यह संभव नहीं कि वे लोग इन नदियों के किनारे-किनारे होते हुए पहाड़ों में आकर जान बचा पाए हों। हड़प्पा तो रावी के किनारे पर ही बसा था। वहां के निवासियों में से कुछ तो अवश्य उस नदी के किनारे हिमाचल के क्षेत्र में आए होंगे, यदि आए तो इस प्रदेश की जनसंख्या में आज भी ऐसे तत्त्व होंगे, जो सिन्धु सभ्यता के युग के हों। यह सभ्यता ईसा पूर्व 3000 से 2500 वर्षों तक व्याप्त रही।

मानचित्र देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिमाचल प्रदेश और सप्तसिन्धु क्षेत्र का परस्पर अति निकट का संबंध रहा है। एक प्रकार से सतलज का क्षेत्र इस सभ्यता का केन्द्रबिन्दु रहा है। इस क्षेत्र में बहने वाली प्राय: सभी नदियां या तो हिमाचल से निकली हैं या उसके निकट उत्तर में से। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन नदियों की उपत्यकाओं में बसने वाले लोग एक ही जाति के रहे हों, पर पार्वत्य प्रदेश और मैदानी प्रदेश होने के कारण उनका सम्पर्क सदा एक जैसा न रह पाया हो। फिर मैदानी भाग में नित्य नई जातियों के सम्मिश्रण से स्थिति बराबर बदलती रही, परन्तु उपत्यकाओं के ऊपरी भाग के पहाड़ी होने के कारण यह उथल-पुथल अधिक न हुई होगी।

मोहनजोदड़ो, हड़प्पा, लोथल तथा रोपड़ से प्राप्त अवशेषों की तुलना यदि हिमाचल प्रदेश की स्थिति से की जाए, तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता मिलेगी। यह समानता गृह-निर्माण, वेशभूषा, आभूषण, केश-विन्यास, आदि में तो है ही, धर्म के क्षेत्र में सर्वाधिक है। प्राय: सभी विद्वान सहमत हैं कि सिन्धु सभ्यता के उपभोक्ताओं की मुख्य देवी मातृदेवी थी और प्रमुख देवता शिव। इन दोनों देवताओं की अनेक चित्र-अंकित-मुद्राएं खुदाई से प्राप्त हुई हैं। एक ऐसी मुद्रा भी मिली है, जिसमें एक देवता उसके दोनों ओर भक्त हैं तथा देवता के ऊपर नागफन दिखाया गया है, जिससे प्रकट होता है कि वे लोग नागपूजक भी थे। निस्सन्देह शिव, देवी और नाग उन लोगों के बड़े देवता थे।

हिमाचल का महानतम धर्म भी शैव-शाक्त-नाग मत है। यहां यह ध्यान देने वाली बात है कि हिमाचल के इस शैव-शाक्त धर्म का स्वरूप तथा इसकी आध्यात्मिक परिकल्पना उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार की कर्नाटक देश में वीर शिव की तथा तमिल प्रदेश में प्रचलित 'शैव-सिद्धांत', 'पाषाणवाद शैव', 'भेदवाद शैव', 'शिव-सम्वाद', 'शिव संक्रान्तवाद', 'ईश्वर अविकारवाद', तथा 'शिवाद्वैत' की है। इसका सम्बन्ध कश्मीर के 'स्वातंत्र्यवाद', 'आभासवाद', 'त्रिक' अथवा 'कश्मीर शैवमत' से भी नहीं है। जहां देश के अन्य भागों में प्रचलित शैव धर्म के शिव को वेदान्त का ब्रह्म माना गया है, वहां हिमाचल के शैव धर्म में अध्यात्म की इस ऊंची कल्पना का कोई स्थान नहीं। यहां शिव के दर्शन प्राय: 'पिंडी' में 'लिंग' में होते हैं, जिसे नाग भी कहा जाता है। अन्य देवता इस शिव नाग के भाई हैं, देवियां बहिनें।

हम कह सकते हैं कि हिमाचल में आज भी लोक-धर्म की वही रूपरेखा है, जो

आज से लगभग पांच-छ: हजार वर्ष पूर्व सिन्धु सभ्यता के दिनों में थी। दोनों शैवमत को मानते हैं और शिव शक्ति के साथ प्राकृतिक तत्त्वों और लिंग की भी पूजा करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहां उन दिनों सप्तसिन्धु तथा अन्य क्षेत्रों में नाग और शिव संभवत: पृथक् देवता थे, वहां वे हिमाचल में लगभग एकाकार हो गये और नाग ने लिंग का रूप धारण करके शिवत्व प्राप्त कर लिया है। इससे भी वढ़कर दैनिक जीवन में समानतायें हैं। सिन्धु घाटी में मैदानी भागों में ईंटों के मकान वनते थे। पहाड़ी भागों में पत्थर के। बलोचिस्तान के पहाड़ी क्षेत्रों की खुदाई करने पर इस प्रकार के मकान मिले हैं, जिनकी दीवारें नींव से दो-तीन फुट की ऊंचाई तक पत्थरों की बनी होती थीं, ऊपर लकड़ी के शहतीर डाल कर पुन: पत्थर से चिनाई की जाती थी। हिमाचल प्रदेश में आज भी भवन-निर्माण की यही रीति है। विशेष ध्यान देने वाली वात यह है कि प्रत्येक मकान वनाने वाले का प्रयत्न यह रहता है कि अधिक से अधिक मात्रा में सुघड़ और छिला हुआ ईंटों के समान किन्तु आकार में वहुत वड़ा चौकोर पत्थर लग सके। कहीं-कहीं इस प्रकार के पत्थरों को 'मणी', या 'ठेली' कहते हैं। इन मणियों में इतनी रुचि अनुमानत: ईंटों के कारण ही है, जिनके स्थान पर इस पहाड़ी प्रदेश में इन्हें प्रयुक्त किया जाता है।

एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए जो सीढ़ियां हिमाचल में प्रयुक्त होती रही हैं, वे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सीढ़ियों जैसी हैं, अन्तर केवल यह है कि सिन्धु घाटी के इन नगरों की सीढ़ियां पत्थर की होती थीं, पर हिमाचल में लकड़ी की। वृक्षों के समूचे तने को छीलकर उसमें पांव रखने के लिए 'फैड़ू' अथवा डंडे उसी तरह के छोटे, संकरे और ऊंचे होते हैं जिस प्रकार के इन नगरों की सीढ़ियों के होते थे।

हड़प्पा में कई भवनों की दीवारों पर लैम्प या दीपक रखने के लिए आधार वने हैं। यह दीवार पर चुनी हुई ईंटों के, जो कि सतह के आगे वढ़ा दी जाती थीं, वने हैं। यह ईंटें वीच से गहरी कर दी जाती थीं ताकि दीपक उनमें दृढ़ता से टिक सकें। इसी प्रकार की योजना प्राय: सभी पुराने हिमाचली घरों में है, जहां ईंटों के स्थान पर पत्थर का प्रयोग किया गया है।

हिमाचल के लगभग सभी मकानों में एक ऐसा कमरा हुआ करता है जिसमें प्रवेश के लिए कोई द्वार नहीं, तथा जिसमें वायु व सूर्य-प्रकाश के प्रवेश की भी कोई व्यवस्था नहीं। कमरे के फर्श से ही लकड़ी का एक तख्ता हटा कर उसमें प्रवेश के लिए मार्ग वना लिया जाता है। इस तख्ते को उठाने के लिए इसमें गोल कुंडी लगी रहती है। यह कमरा, जिसे कई स्थानों पर 'खुंडी' कहा जाता है, सामान्यत: अन्न-धन-भंडार होता है। इसी प्रकार के कमरे मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के मकानों में भी मिले हैं।

सिंधु घाटी के मकानों में खिड़कियां नहीं होती थीं, दीवारों में ही चौड़े-से चौकोर छिद्र रख दिये जाते थे, जिनसे कमरों में न केवल वायु और प्रकाश आता था, अपितु भीतर से वाहर देखा भी जा सकता था। हिमाचल में भी उसी प्रकार दीवार में

'तीरे' या बड़े छिद्र रखे देखे जा सकते हैं, जो कहीं केवल आधा फुट चौड़े तो कहीं एक-एक फुट तक चौड़े होते हैं।

यही नहीं, मोहनजोदड़ो के जिस महान स्नानघर की विद्वान इतनी चर्चा करते हैं और जिस पर आश्चर्य व्यक्त करते हैं, उस प्रकार के जलाशय तो हिमाचल में सर्वत्र हैं। हिमाचली इन्हें 'बावलियां' कहते हैं। ये बावलियां एक-दो फुट लम्बाई, चौड़ाई और गहराई से लेकर 25-30 फुट लम्बी, 10-15 फुट चौड़ी और 8-10 फुट गहरी होती हैं। इनमें चारों ओर पत्थर की सुंदर पौड़ियां होती हैं, और गंदे पानी के निकास के लिए भूमिगत मोरियां बनी रहती हैं। निर्मंड गांव में इसी प्रकार का एक बृहत् जलाशय था 'चंडी बावली'। यह बावली 25 फुट लम्बी, 12 फुट चौड़ी और 8 फुट गहरी थी। इसकी मुंडेर पर बड़े-बड़े चौड़े पत्थर बिछाये गये थे, जो स्नान के काम आते थे। बावली तीन ओर से दीवारों से घिरी थी, जिसके ऊपर छत थी। कुछ वर्ष पहले जब नलकूप में बदलने के लिए इसे खोदा गया, तब इसके तल में जल-निकास के लिए एक भूमिगत मोरी मिली, जो मिट्टी के अधपके गिलासों से बनी थी। यह मोरी लगभग 50 फुट दूर तक जाती थी। इन गिलासों को एक दूसरे से इस प्रकार मिलाया गया था कि पानी की एक बूंद भी बाहर नहीं जाती थी। यह बावली तो नष्ट हो गई, परन्तु सौभाग्यवश इस प्रकार की छोटी-बड़ी कई महत्त्वपूर्ण बावलियां अन्यत्र बची हुई हैं। इनमें प्रमुख भ्रमौर की 'अर्धगया बावली' है।

हम जब यह ध्यान दें कि मोहनजोदड़ो के महान स्नानघर के जलाशय की लम्बाई 39 फुट, चौड़ाई 23 फुट और गहराई 8 फुट थी, तो पर्वतीय क्षेत्र की चंडी बावली का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है और इससे दोनों प्रकार के जलाशयों का पारस्परिक संबंध भी प्रमाणित हो जाता है। वसिष्ठ जैसे प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थस्थलों में इन बावलियों के तीन ओर जिस प्रकार के बरामदे और कमरे हैं, ठीक उसी प्रकार के कमरे और बरामदे मोहनजोदड़ो के महान स्नानगृह की खुदाई से मिले हैं।

वेशभूषा में भी अनेक समानतायें दिखाई देती हैं। मोहनजोदड़ो तथा अन्य स्थानों से अभी तक इस प्रकार का कोई नमूना नहीं मिला जिससे ज्ञात हो कि तब किस प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। किन्तु मूर्तियों से मालूम होता है कि प्रायः एक ही वस्त्र सारे शरीर को ढांकता था। ऊपर के भाग पर एक शाल-सी ओढ़ी जाती थी और निचले भाग के गिर्द एक वस्त्र धोती की तरह लपेटा जाता था, ऐसा एक मूर्ति के वस्त्रों से संकेत मिलता है। शरीर के ऊपर के भाग का वस्त्र बायें कंधे के ऊपर से डालकर दायें कंधे के नीचे से ओढ़ा जाता था, जिससे दायां बाजू खुला रहे, पर छाती तथा शरीर के अन्य भाग ढक जाएं। ठीक इसी प्रकार का पहनावा आज भी हिमाचल के अनेक भागों में मुख्यतः निम्न वर्ग की स्त्रियां पहने हुए मिलेंगी। एक ही पट्टु (चादर) सारे शरीर को ढांप लेता है। कमर के पास जिस प्रकार मोहनजोदड़ो की एक मूर्ति एक रस्सी-सी लपेटे दीखती है, उसी प्रकार के 'रजेटा' से हिमाचल की ये नारियां भी पट्टु या दोहड़ू को कस कर रखती हैं। 'गाची' जैसा चौड़ा वस्त्र भी उस युग में पहना जाता

था, ऐसे संकेत मिलते हैं। इससे भी विचित्र स्थिति स्त्रियों के सिर के पहनावे की है। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा में शिरोभूषा बहुत भारी तथा अलंकृत होती थी। यह शिरोभूषा किस वर्ग के लोगों में प्रचलित थी, कहना कठिन है। पंखे की आकृति का शिरोवस्त्र विशेष प्रिय जान पड़ता है। यह पीछे से किसी पक्के नारे से थामा जाता था। इस प्रकार की शिरोभूषा संसार के किसी अन्य प्रदेश में देखने को नहीं मिलती। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में भी यह शिरोभूषा उन्हीं मूर्तियों तक सीमित है, जिन्हें पुरातत्त्वज्ञ मातृदेवी की मूर्तियां मानते हैं। आन्तरिक हिमाचल में पर्वों तथा त्यौहारों और उत्सवों में इस प्रकार की शिरोभूषा देखने को मिलती है। इसे 'गूजर' कहते हैं। बालों को सिर के पीछे इकट्ठा कर लिया जाता है, उन्हें काले ऊनी धागों 'बोनणी' से लपेटा जाता है, और ऊपर से एक पीला वस्त्र उन्हें ढांपे रखता है। इस पीले वस्त्र को 'जगातरा' कहते हैं। इसके ऊपर लाल वस्त्र लगाया जाता है, जो 'पणेशणी भाटू' कहलाता है। इस प्रकार यह शिरोवस्त्र पंखे के समान नीचे की ओर खुलता है। यह हूबहू मातृदेवी के शिरोवस्त्र की प्रतिलिपि ही प्रतीत होता है। 'गूजर' से मिलता-जुलता एक दूसरा शिरोवस्त्र है जिसे 'टाली' या 'चूंडा' कहते हैं। पब्बर उपत्यका में ब्राह्मण स्त्रियां तथा अन्यत्र खश, राहू, कनैत तथा हरिजन विवाहित नारियां इन्हें धारण करती रही हैं। टाली या चूंडे में ब्राह्मण स्त्रियां तो बालों को सिर के ऊपर इकट्ठा करके उसके ऊपर लाल या केसरी रंग की पगड़ी-सी लगाती हैं, पर खश तथा हरिजन स्त्रियां इन बालों को पहले तो काली ऊन की लम्बोतरी-सी टोपी में बांधती हैं, और उसके ऊपर सफेद कपड़ा चार तह करके लपेटा जाता है। राहू स्त्रियां चूंडे पर काला घाटू लपेटती हैं। घाटू से पहले सिर के बाल लगभग उसी प्रकार गूंथे जाते हैं, जिस प्रकार प्राचीन काल में ऋषि बालक या बालिकायें गूंथा करते थे।

मोहनजोदड़ो से प्राप्त कतिपय मुद्राओं से लगता है कि उस युग में पुरुष लम्बे बाल रखा करते थे, जो कभी-कभी सिर के बीच से कटे रहते थे। उसी प्रकार के बालों का प्रचलन हिमाचल के कई भागों में था और कहीं-कहीं तो आज भी उसी प्रकार के बाल जिन्हें 'ओझरे' या 'झुलपें' कहते हैं, दीख पड़ते हैं। 'ओझरे' में मांग पट्टी उस्तरे से साफ की हुई होती है।

हिमाचल में आभूषण तो वही हैं जो सिंधु घाटी में थे। कभी-कभी तो यह धोखा हो जाता है कि संग्रहालय में रखे गये मोहनजोदड़ो के आभूषण किसी हिमाचली नारी के पुराने आभूषणों की पिटारी से निकाल कर ही रखे गये हों। सिर से लेकर पैरों तक के वही जेवर। कान के झुमके, ढेढू, गले की कंठियां, दाड़माड़ा, कठमाड़ा, जौमाड़ा। चमकली में अब भी अंगूर की गुठलियों की आकृति की फलियां लगती हैं। हाथ के कंगन, जिन्हें ढागलू भी कहा जा सकता है और पांव की नेउरियां ठीक उसी तरह की हैं जैसी आज से पांच-छः हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ करती थीं। हाटकोटी की वज्रेश्वरी देवी के गले में मूंगों, मुंडों के हार उन हारों के समान हैं, जो संग्रहालयों में देखने को मिलते हैं।

खुदाई में पत्थर की ओखलियां और पीसने की पट्टियां भी मिली हैं। हिमाचल प्रदेश में तो घर-घर में, प्रत्येक खलयान में धान कूटने की पत्थर की 'कानी' या ओखली होती है।

अन्न रखने के लिए मोहनजोदड़ो में मिट्टी के वड़े-वड़े घड़े हुआ करते थे, जिनकी ऊंचाई चौड़ाई से कम होती थी, उनके मुंह चौड़े किन्तु जो घड़े लम्बे हुआ करते थे, उनके मुंह अपेक्षाकृत कम चौड़े होते थे। इस प्रदेश के आन्तरिक भागों में भी लगभग यही व्यवस्था अन्न रखने की है। भ्रमौर के इलाके में 'कुल्ह' ठीक उसी प्रकार के मिट्टी के घड़े हैं। अन्यत्र मिट्टी के घड़ों के स्थान पर वेंत के घड़ों से काम लिया जाता है जिन्हें 'ढूंढकू' और 'ढूंढकी' कहा जाता है। 'ढूंढकू' चौड़ी आकृति का और 'ढूंढकी' लम्बी शक्ल की होती है। यह मोहनजोदड़ो के घड़ों का ही प्रतिरूप है।

इसी प्रकार भोजन के लिए पत्थर की थाली का प्रयोग किया जाता था। हिमाचल प्रदेश में भी खाने के लिए लकड़ी की थाली वरती जाती रही है जिसे 'कोशा' कहते हैं। विद्वानों का कहना है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के लोग मांसाहारी थे। हिमाचल तो मांस खाने वालों का ही प्रदेश है, जहां प्रत्येक उत्सव पर 'खाडू वकरे', मेढा और वकरे, काटे जाते हैं।

सिंधु घाटी की सभ्यता के लोगों को तांवा और कांसा धातुओं का ज्ञान था, अतः इनके अधिकांश बर्तन तांबे और कांसे के थे। हिमाचल प्रदेश में भी ये दोनों धातुएं वड़ी लोकप्रिय रही हैं। लोटा, थाली, प्याला और गिलास प्रायः कांसे के ही होते थे। खाने, पकाने और पानी रखने के बड़े-बड़े बर्तन, जो मन्दिरों जैसे सार्वजनिक स्थानों के पास हैं, आज भी केवल तांबे के हैं।

जव तक वहां की लिपि नहीं पढ़ी जाती, यह निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि बौद्धिक स्तर पर उनकी क्या स्थिति रही होगी; परन्तु जिन लोगों ने उस सभ्यता के उत्खनन में भाग लिया है और जो उसे प्रकाश में लाये हैं, उनका कहना है कि वे लोग केवल बीस तक ही गिनती जानते थे। हिमाचल में अव भी वड़ी-वूढ़ियां केवल 'वी' अर्थात् बीस तक ही गिनती जानती हैं, और उनके लिए एक सौ का महत्त्व केवल इतना ही है कि वह 'पांच बी' अर्थात् पांच बार बीस है।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह कह सकते हैं कि हिमाचल प्रदेश के लोगों की एक वहुत वड़ी संख्या सिंधु-युगीन लोगों की वंशज ही है; और यदि वे एक ही जाति के लोग थे, तो केवल नाग और उनके सहजातीय बंधु हो सकते हैं। किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वहुत-से भारतीय और पाश्चात्य विद्वान यह मानते हैं कि सिंधु घाटी सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे। इन्हें द्रविड़ मानने के समर्थन में ये विद्वान सिंधु घाटी सभ्यता तथा द्रविड़ सभ्यता के बीच अनेक समानताओं का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि वर्तमान हिन्दू धर्म और दर्शन के वे तत्त्व जिनका उद्भव वैदिक धर्म से नहीं हुआ, अथवा जिनका बीज वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, द्रविड़ अथवा सिंधु घाटी सभ्यता से उद्भूत हैं।

इस प्रकार के तत्त्वों में वे सर्वप्रमुख स्थान हिन्दू धर्म में देवी (ईश्वर का नारी

स्वरूप) की पूजा तथा उसके महत्त्व को देते हैं। वेदों तथा इतर-वैदिक साहित्य में ईश्वर के पुरुष रूप के पूजन का ही उल्लेख है। वस्तुतः वेदों में नारियों का वर्णन ही अत्यन्त संक्षिप्त हुआ है। देवियों में केवल मात्र अदिति की चर्चा की गई है, और उसकी पूजा भी अन्य देवताओं की भांति नहीं होती थी। आधुनिक हिन्दू धर्म में देवी दुर्गा विश्व की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती हैं।

दूसरी विशेषता शैव देवताओं का बाहुल्य है। हिन्दू धर्म में जो भी शैव देवता हैं, वे सब अवैदिक हैं। काली अथवा दुर्गा और दक्षिण भारत का अय्यप्पन देवता इस प्रकार के शैव देवताओं में अधिक प्रसिद्ध हैं। अय्यप्पन शिव का पुत्र माना जाता है जिसने समुद्र-मंथन के उपरान्त देवताओं में अमृत बांटा था।

धर्म में वनों का महत्त्व एक तीसरा तत्त्व है जिसे द्रविड़ सभ्यता की देन माना जाता है। वैदिक देवता सब नागरिक हैं, वे वनों में नहीं रहते, वे रथों में आते हैं जिनमें घोड़े जुते रहते हैं। किन्तु शैव देवता प्रायः सभी वन-देवता हैं। अय्यप्पन और दुर्गा के मन्दिरों को ही दक्षिण भारत में 'काबू' कहा जाता है जिसका अर्थ है—वन या कुंज।

पशु, पक्षी, वृक्ष आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान हिन्दू धर्म को द्रविड़ सभ्यता की एक अन्य देन कहा जाता है। गोपूजा इसी प्रभाव का फल है। यह द्रविड़ अथवा सिंधु घाटी सभ्यता का ही प्रताप है कि अनन्त को विष्णु की शय्या माना गया, शिव के गले वासुकि का हार पहनाया गया एवं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सरस्वती आदि के वाहन पशु-पक्षी माने गये और पीपल और बड़ जैसे वृक्षों की पूजा होने लगी। ईश्वर का किसी राष्ट्रीय नेता के रूप में अवतरित होना एवं स्वयं किसी मनुष्य का देवत्व प्राप्त कर लेना एक और ऐसा तत्त्व है जिसे सिंधु घाटी सभ्यता या द्रविड़ सभ्यता से लिया गया माना जाता है। जिन द्रविड़ और सिंधु घाटी समानताओं का उल्लेख हमने ऊपर किया है, ठीक उसी प्रकार की समानताएं हिमाचल के लोकधर्म और द्रविड़ धर्म में भी मिलती हैं। हिमाचल प्रदेश के लोग भी शैव हैं जिनके लिए शिवरात्रि का त्यौहार ही सर्वप्रमुख पर्व है। यदि तमिलनाडु में वह 'सेम्बू' कहलाता है तो हिमाचल में भी वह 'शंभु' और 'सांई' बन जाता है। शाक्त मत यदि द्रविड़ प्रदेश में प्रचलित है, तो हिमाचल के लोग भी शक्ति, देवी, दुर्गा या किसी अन्य ग्रामदेवी को ही ईश्वर का स्थान दे देते हैं। दोनों लिंग की पूजा करते हैं, दोनों 'पिंडी' की आराधना करते हैं और उसमें देवत्व को आरोपित करते हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष आदि की पूजा जैसी सिंधु घाटी सभ्यता क्षेत्र में हुआ करती थी, या जैसी द्रविड़ सभ्यता के अन्तर्गत होती है, उसी प्रकार हिमाचल प्रदेश में भी। यहां बड़ और पीपल तो पूजनीय हैं ही, साथ में देवदारु का कोई प्राचीन मोटा वृक्ष भी उतना ही पूज्य है। ग्रामदेवता और अन्य देवता भी द्रविड़ देवताओं के समान वनों में रहना अधिक पसंद करते हैं। सामान्यतः उन्हें मन्दिरों की चारदीवारी की कैद अरुचिकर है। यदि उन्हें मन्दिर के भीतर रहना भी पड़ा, तो प्रयत्न यही रहा कि भवन छोटा-सा ही हो। अपनी इच्छा को यह देवता बड़ी सीमा तक पूरा कर पाये हैं। यदि कहीं देवता का 'देउरा' किसी भवन में है तो कहीं केवल तीन ओर की चार-छः फुट

ऊंची दीवारें और उन पर 25-30 स्लेटें ही 'देउरे' या 'देहरे' का काम दे देती हैं, चौथी ओर का खुला भाग प्रवेश-द्वार का काम देता है। हिमाचल के अनेक ग्राम-देवी-देवता ऐतिहासिक मानव हैं, जिन्हें देवत्व प्रदान कर पूजा का पात्र बनाया गया है।

यदि स्थिति यह है तो कतिपय रोचक प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

(1) क्या हिमाचल का लोकधर्म द्रविड़ है ?

(2) क्या यहां के आदिवासी द्रविड़ हैं ?

(3) क्या वे भारतीय और पाश्चात्य विद्वान जो सिंधु सभ्यता को द्रविड़-मूलक मानते हैं, ठीक हैं ?

(4) क्या हिमाचल की संस्कृति आदिम संस्कृति है ?

जहां तक हिमाचल का संबंध है, यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि यहां द्रविड़ प्रजाति नहीं आई। इस तथ्य का एक सुदृढ़ प्रमाण यह है कि हिमाचली लोग प्रजाति तत्त्वों की दृष्टि से द्रविड़ नहीं हैं। दूसरे हिमाचली भाषा को द्रविड़-प्रभाव छू तक नहीं गया है।

यह तो सिद्ध है कि इस प्रदेश में द्रविड़ नहीं बसते थे, पर तर्क के लिए यह मान लिया जाए कि प्रागैतिहासिक काल में यहां कोई लोग बसते ही नहीं थे, और समूचा प्रदेश निर्जन था, तो क्या यह संभव नहीं कि जब देश के मैदानी भागों से अथवा देश के बाहर से आकर लोग यहां बसे, तो वे चाहे स्वयं अद्रविड़ हों, पर द्रविड़ संस्कृति से अवश्य प्रभावित रहे हों ? हम पहले ही देख चुके हैं कि हिमाचल में तो प्रागैतिहासिक काल से प्रजातियों की एक अटूट शृंखला चली आई है, अतः इस प्रदेश का निर्जन होना प्रमाणित नहीं है।

यह निर्विवाद तथ्य है कि न तो हिमाचल के आदिवासी द्रविड़ थे और न ही हिमाचली लोकधर्म द्रविड़ है। इस संदर्भ में एक शंका उत्पन्न होती है—यदि हिमाचल पर कोई द्रविड़-प्रभाव नहीं तो दोनों संस्कृतियों में मूलभूत समानता क्यों है ? इसका समाधान इस संभावना से हो सकता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत के निवासी प्रोटो-आस्ट्रोलायड और द्रविड़ थे। यह प्रायः सभी विद्वान मानते हैं। द्रविड़ स्वयं बाहर से आये थे और उन्होंने प्रोटो-आस्ट्रोलायड प्रजातियों को, जिन्हें निषाद कहा जाता है, अपने अधीन कर लिया था। अतः यह संभव है कि ये मूलभूत तत्त्व इन निषादों से द्रविड़ संस्कृति में आए हों। नाग इन्हीं निषादों की एक मुख्य प्रजाति रही हो अथवा एक ऐसी स्वतन्त्र जाति हो जो सांस्कृतिक स्तर पर निषादों से ऊंची हो और उनकी शासक रही हो। दूसरी संभावना अधिक समीचीन लगती है। कहा जा सकता है कि समूचा भारत सबसे पहले नाग और निषाद जातियों का देश था। बाहर से आने वाले द्रविड़ देश' के मैदानी भागों तथा समुद्रतट तक फैलते चले गये। कालान्तर में यह आगन्तुक मूल निवासियों में इस प्रकार घुल-मिल गये कि उनकी पृथक्-पृथक् पहचान कठिन हो गई। तब भी हिमाचल प्रदेश जैसे कतिपय दुर्गम स्थान द्रविड़ों के सम्पर्क से अछूते रहे। जहां-जहां द्रविड़ और नाग मिले, वहां-वहां एक ने दूसरे को बहुत कुछ दिया

और एक ने दूसरे से बहुत कुछ लिया। जिन तत्वों को आज हम द्रविड़-संस्कृति के मूल तत्त्व समझते हैं, वे वास्तव में नाग और निषादों की संस्कृति रहे होंगे। यही कारण है कि हिमाचल की विशुद्ध नाग-संस्कृति, द्रविड़-संस्कृति और सिन्धु-संस्कृति में इस प्रकार की समानता है।

इस संबंध में एक अन्य परिकल्पना भी संभव है। नाग शासक वर्ग था, द्रविड़ भी शक्तिशाली आगन्तुक थे। पारस्परिक आदान-प्रदान और घुलने-मिलने की प्रक्रिया में अनेक शताब्दियां बीती होंगी, जिनमें दोनों ने शान्तिपूर्वक अथवा संघर्ष से एक-दूसरे वर्ग पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया हो, और फलस्वरूप उत्तर में नागों को सफलता मिली हो और दक्षिण में द्रविड़ों को। धीरे-धीरे यह प्रभुत्व इस प्रकार बढ़ा कि उत्तर में द्रविड़ नागों में अन्तर्भुक्त हो गये और दक्षिण में नाग द्रविड़ों में। इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि जब आर्य भारत में आये तो उनका टकराव नागों से हुआ, द्रविड़ों से नहीं। कहीं भी द्रविड़-आर्य-संघर्ष का उल्लेख नहीं, न लोक-परम्परा में और न लोक-चेतना में और न ही वेदों में। वास्तव में द्रविड़ शब्द का व्यवहार भी पहले-पहल महाभारत में मिलता है। इसके विपरीत नाग-आर्य-संघर्ष की साक्षी न केवल ऋग्वेद है, अपितु लोकमानस भी।

यह आर्य-नाग-संघर्ष कितना लम्बा और भयंकर रहा है, यह हम पूर्वपृष्ठों में देख चुके हैं। यहां तो लोक-चेतना से कुछ तथ्य उपस्थित करने हैं। हिमाचल में जितनी भी परम्परायें हैं, उनसे विदित होता है कि इस प्रदेश का जनमानस आर्यों के विरुद्ध रहा है। उसे आर्यों के नेताओं से न कोई सहानुभूति रही और न उनसे उसने प्रेरणा ही ली है। आर्यों के प्रति यह प्रच्छन्न द्वेष राम और पांडवों के प्रति दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है। यदि संस्कार-गीतों और रामायण तथा महाभारत कथानक को छोड़ दें, जो स्पष्टतः बाह्य प्रभाव हैं, तो हिमाचली मानव के अवचेतन में यह धारणा घर किये बैठी मिलेगी कि आर्य राम एक स्वार्थी और अभद्र पुरुष था, जो सीता को अमावस्या की काली स्याह रात में हिंसक पशुओं से भरे जंगल में अकेली भेज देता है, जिससे कि रात्रि खुलने से पूर्व उसके स्नान के लिए ताजा पानी मिल सके। उधर पांडव बंधु, विशेषकर भीम एक दम्भी, अशिष्ट और अमानुषिक व्यक्ति के रूप में सम्मुख आता है।

इतिहास तथा परम्परा साक्षी है कि नागों को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए प्रायः सर्वत्र संघर्ष करना पड़ा। उत्तर-पश्चिम हिमालय क्षेत्र में उनका पाला खश और आर्यों से पड़ा, मध्य हिमालय में उन्हें किरातों से जूझना पड़ा, देश के मैदानी क्षेत्रों में उनका सामना द्रविड़ों और आर्यों से हुआ और दक्षिण भारत में द्रविड़ों से टक्कर लेनी पड़ी।

नागों के सम्बन्ध में इस लम्बी चर्चा का प्रयोजन यह दिखाना है कि (1) भारत के जातीय तथा सांस्कृतिक इतिहास में यह तथ्य सदा सामने रखा जाये कि भारतीय संस्कृति और समाज का मूल स्वरूप नाग है। (2) सिंधु घाटी सभ्यता के जन्मदाता

द्रविड़ नहीं अपितु नाग और निषाद थे। (3) हिमाचल के मूल निवासियों में नागों की प्रधानता है।

खश—नागों के पश्चात् दूसरी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रागैतिहासिक जाति खश है। नागों ने अपनी कोई निशानी, कोई पृथक् दैहिक चिह्न नहीं छोड़ा, परन्तु खशों की आज भी प्रायः सारे हिमाचल में बस्तियां फैली हैं। खशों के गांव के गांव मिलते हैं। इनमें से पब्बर उपत्यका में खशधार और खशकोडी जैसे अनेक गांवों का नामकरण भी इसी जाति को लेकर हुआ है।

प्राचीन साहित्य में किन्नर, किरात आदि के साथ खश जाति का बराबर उल्लेख मिलता है। महाभारत में कर्ण-पर्व, सभा-पर्व तथा द्रोण-पर्व में पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाले खशों से संबंधित अनेक उक्तियां हैं। उधर विष्णु पुराण, मार्कंडेय पुराण और हरिवंश पुराण में भी इस जाति का उल्लेख हुआ है।

हिमाचल प्रदेश में खशों से संबंधित कतिपय परम्परायें हैं। पुराण और ये परंपरायें खशों को स्वदेशी जाति मानते हैं, जिनका आदि पुरुष कोई ऋषि था। विष्णु पुराण में कश्यप ऋषि की क्रोधवशा नामक पत्नी से उत्पन्न सन्तान को ही खश बताया गया है। महाभारत के द्रोण-पर्व में उल्लेख है कि ऋषि वसिष्ठ की गाय नन्दिनी ने गाधिसुत विश्वामित्र से अपनी रक्षा करने के लिए खश आदि अनेक जातियों को अपने भिन्न-भिन्न अंगों से उत्पन्न किया। वसिष्ठ का खशों के साथ गहरा संबंध रहा लगता है। वायु पुराण के अनुसार वसिष्ठ ने ही राजा सगर के हाथों खशों के समूल नाश को रोका था।

आधुनिक खोज के परिणाम इससे भिन्न हैं। प्रायः सभी भारतीय और पाश्चात्य विद्वान यह मानते हैं कि खश कहीं बाहर से ही भारत में प्रविष्ट हुए हैं। दियाउड़ी का नाग-खश-संघर्ष भी इसी ओर इशारा करता है। विद्वानों का बहुमत यह स्वीकार करता है कि इन खशों का मूल स्थान पूर्वी मध्य एशिया था और पहाड़-पहाड़ होकर ही यह जाति हिमालय क्षेत्र में आई थी। इसी की पुष्टि वे इस बात से करते हैं कि आज भी गिलगित चितराल में कश्कर, काशगर में खशगिरी और कश्मीर तथा नेपाल में कई ऐसे स्थान हैं जिनका नामकरण खशों से हुआ है। तिब्बती भाषा में तो कश्मीरियों को 'खछे' नाम से जाना जाता है। खछे स्पष्टतया 'खश' है। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि खश जाति सप्तसिंधु में भी प्रविष्ट हुई थी। बाद में हिमाचल की तराई से बढ़ते-बढ़ते पूर्व में असम और बंगाल तक जा पहुंची थी। यह भी माना जाता है कि मोहन-जोदड़ो सभ्यता के अन्त और आर्यों के आगमन के बीच जिस जाति ने सिंधु घाटी पर आक्रमण किया वह खश ही थी, तथा यह जाति पामीर के मार्ग से आई थी।

इसी कारण विद्वानों का एक बहुत बड़ा वर्ग यह मानता है कि आर्यों की ही एक शाखा खश है। खशों की भाषा भी आर्य ही थी।

खश भारत में कब आये इस पर कुछ मतभेद है। कतिपय लेखकों का यह कथन है कि खशों ने 1500 से 1000 ईसा पूर्व में पश्चिमोत्तर दिशा से भारत में प्रवेश किया।

राहुल सांकृत्यायन सरीखे विद्वान इस संबंध में दुविधा में पड़े लगते हैं। कहीं उन्होंने यह सिद्ध किया है कि खश ईसा से लगभग सात शताब्दी पहले भारत में आये, अन्यत्र वे यह मत व्यक्त करते हैं कि ईसा पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के आरम्भ में इस जाति का पूर्वी मध्य एशिया से इस देश में आगमन हुआ। इससे पूर्व खश तरीम उपत्यका में निवास करते थे। सुनीतिकुमार चैटर्जी के मत के अन्य अनुसंधानकर्ता यह कहते हैं कि हिमाचल प्रदेश के खश आस्ट्रो एशियाई हैं, जो ईसा से लगभग 4000 वर्ष पूर्व भारत में आए थे।

इधर अब यह माना जाने लगा है कि आर्यों की यह खश शाखा वैदिक आर्यों के भारत-आगमन से चार-पांच शताब्दी पूर्व यहां आ चुकी थी। इस शाखा ने एक प्रकार से वैदिक आर्यों के भारत-प्रवेश तथा भारत-विजय के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। यदि यह तथ्य है तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि खश आज से लगभग 6000 वर्ष पूर्व इस देश में आ चुके थे।

खशों के देशज न होने के कई प्रमाण हैं। महाभारत तथा पुराणों में खशों की गणना प्रायः सर्वत्र विदेशी जातियों के साथ हुई है। भागवत पुराण इनकी गिनती किरात, हूण, पुलिन्द, पुल्कस, कंक आभीर और यवनों के साथ करता है। महाभारत में इस संदर्भ में खश, एकासन, अर्ह, प्रदर, परद दीर्घवेणु, कुलिंद, तंगण, परतंगणों का उल्लेख है और कल्कि और वायु पुराण में खश, कम्बोज, चीन, शवर, वर्वर आदि का। विष्णु पुराण यक्षों और पिशाचों को खशों का सजातीय बंधु मानता है। मनुस्मृतिकार खशों को क्षत्रिय तो मानता है, पर उनका स्थान वह शूद्रों अथवा म्लेच्छों के साथ बताता है, क्योंकि उसके अनुसार वे क्रियाभ्रष्ट हो चुके थे।

खशों को पिशाच, म्लेच्छ या शूद्र स्पष्टतः यह दिखाने के लिए कहा गया है कि यह जाति आर्य होते हुए भी वैदिक आर्यों से बाहर थी। कुछ मानवविज्ञान-शास्त्रियों और इतिहासकारों की यह राय है कि भारत के आज के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और राजपूतों की एक काफी बड़ी संख्या इन अवैदिक खशों की है। उनका अनुमान है कि असम और बंगाल के समाज का उच्चवर्ग खश है। वहां के ब्राह्मण और कायस्थ, आन्ध्र, उड़िया और कन्नड़ के ब्राह्मण, गुजरात के नागर ब्राह्मण और चितराल के खोश भी मूलतः संभवतः खश जाति के हैं। एक परंपरा यह भी है कि शिवोपासक नागर ब्राह्मण कांगड़ा मानसरोवर के क्षेत्र में रहते थे, वहां से वे कांगड़ा नगरकोट में आये। नगरकोट से पश्चिम में कश्मीर होते हुए वे भारत के अन्य भागों में गये। हिमाचल प्रदेश में अनेक ब्राह्मण परिवार संभवतः खश हैं।

खशों के कद लम्बे, शरीर सुगठित, रंग साफ और नक्श तराशे हुए होते थे। उनकी स्त्रियां भी लम्बी, पतली, सुन्दर, आकर्षक और विलासी होती थीं।

यह जाति बड़ी पराक्रमी, वीर और उद्यमी थी, किन्तु स्वभाव में कुछ अक्खड़पन, कुछ जड़ता थी, लचक का प्रायः अभाव था। वे जिस बात पर अड़ जाते थे, उससे उनका हटना सहज नहीं था। स्वार्थसिद्धि के लिए वे छल का सहारा ले लेते थे। संभवतः यही

कारण है कि आज भी 'खश मति' और 'खश चाल' वाक्य निन्दात्मक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पशुपालन और कृषि उनका व्यवसाय था। गाय, भेड़ और बकरियां इनके मुख्य पालतू पशु थे। खश अपनी बस्तियां यथासंभव उपजाऊ भूमि के पास बसाते थे। पशु-पालन के लिए बस्ती से दूर अच्छी चरागाह पर भी जाते थे। ठंडे प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण पर्वतीय इलाका ही इन्हें भाता था। प्रायः पर्वत की तलहटी और छोटी-छोटी धारों की चोटियों के आसपास, जहां कुछ समतल कृषि योग्य भूमि उपलब्ध थी, वे रहना पसंद करते थे। खशों की बस्तियां साधारणतया इन्हीं स्थानों पर पाई जाती हैं। इसके उदाहरण खशधार, खशकोड़ी, कंथाड़ा, नशाणी, मातला आदि ग्राम हैं।

सामाजिक जीवन में वैदिक आर्यों से ये कुछ भिन्न थे। जाति-पांति का भेद उनमें नहीं था। समाज का ढांचा लोकतंत्रात्मक था और पंचायत जैसी शासन-प्रणाली प्रचलित थी। व्यवहार में यद्यपि घर का बूढ़ा व्यक्ति गृहस्थ का अगुआ होता था, पर अनुशासन की इनमें अपेक्षाकृत कमी थी। उनमें बहुपत्नी और बहुपति प्रथा प्रचलित थी। यदि किसी स्त्री का पति मर जाता तो वह दूसरा विवाह कर सकती थी। कुछ विद्वान यह भी मानते हैं कि 'रीत' अथवा तलाक का प्रचलन भी मुख्यतः खशों में ही था।

धर्म के क्षेत्र में भी बाद में आने वाले आर्य बंधुओं से खश पृथक् लगते हैं। किन्तु यह सतही दृष्टिकोण है। यदि गहराई से देखा जाए तो वैदिक आर्यों के समान ही प्रकृति के उपकरण इनके लिए भी जिज्ञासा और पूजा के पात्र थे। यहां यह बात ध्यान में रखनी होगी कि वेद तो आर्यों के परिष्कृत विकसित मस्तिष्क की उपज हैं। अपने प्रारम्भिक विकास की अवस्था में उनके धर्म का जो स्वरूप रहा होगा, वही संभवतः हमें आदि खशों में मिलता है।

खशों का अपना पृथक् कोई देवता प्रतीत नहीं होता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने नागों के ही शिव को अपना आराध्य देव मान लिया और कालान्तर में नाग देवता भी खश देवता बन गया। उनका झुकाव पूर्वजों की आत्मा की पूजा की ओर भी रहा। वे कंकर-पत्थरों की पूजा करते थे और काली, लाल और पीली झंडियां फहराते थे। संभव है कि भारत-आगमन के समय सांस्कृतिक दृष्टि से वे नागों से निम्न स्तर पर रहे हों और फलस्वरूप नाग-संस्कृति से वे बड़ी सीमा तक प्रभावित हुए हों।

जातीय सूत्र अन्य सब बंधनों से अधिक शक्तिशाली होते हैं। यही कारण है कि खश शताब्दियों बाद आने वाले अपने सजातीय बांधव आर्यों से एकदम घुलमिल गए और दोनों ने मिलकर नाग तथा निषादों पर प्रभुत्व स्थापित करने में सुनियोजित एवं संगठित ढंग से काम किया।

तृतीय अध्याय

आर्येत्तर जातियां

आर्य—पूर्वी मध्य एशिया को यदि आर्यों का मूल स्थान माना जाए, तो भारत पहुंचते ही वे सारे देश में फैल नहीं गये थे। वे सर्वप्रथम ईरान की ओर से सप्तसिन्धु में आकर बसे और धीरे-धीरे पूर्व की ओर बढ़ते गये। इस प्रसार में उन्हें सैकड़ों वर्ष लगे।

आर्यों का जन्म चाहे भारत में हुआ, या वे बाहर से आए, हिमाचल प्रदेश में उनका आगमन कुछ समय बाद हुआ। वैसे उनसे बहुत पहले उनकी ही एक शाखा खश यहां आ चुकी थी। और इस दृष्टि से देखें तो आर्य सप्तसिन्धु में बसने से पूर्व यहां आ चुके थे। किन्तु इतिहासकार आर्यों के रूप में केवल वैदिक आर्यों को ही मान्यता देते हैं।

इस प्रदेश में आर्यों का प्रवेश तथा प्रसार सशस्त्र संघर्ष और शान्तिपूर्ण विकल्प दोनों का परिणाम है। आरम्भ में शस्त्रों का टकराव रहा, जो शंबर-सुदास-दिवोदास संघर्ष से विदित है। यह स्थिति मुख्यत: व्यास उपत्यका की रही है। गिरी, सतलज तथा रावी उपत्यकाओं में आर्यों के प्रसार का मुख्य श्रेय ऋषियों को है। इस प्रकार व्यास उपत्यका अथवा त्रिगर्त (कांगड़ा) आर्यों ने स्थानीय नेताओं से युद्ध कर अपने बसने के लिए स्थान बनाया, अन्यत्र स्थानीय लोगों को ही बहुधा आर्य-संस्कृति में समाविष्ट कर लिया। इन क्षेत्रों में आर्य ऋषि तपस्या आदि के लिए आये और अपने आश्रम के आसपास के क्षेत्रों के लोगों को आर्य बनाया। इस दिशा में आरम्भ में परशुराम से पूर्व कोई सोद्देश्य अभियान चलाया गया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता है। जान पड़ता है कि जब तक आर्य सप्तसिन्धु क्षेत्र में भली प्रकार जम नहीं गये थे, और उन्होंने अपने शक्तिशाली राज्य स्थापित नहीं कर लिये थे, व्यास उपत्यका को छोड़, शेष हिमाचल में उन्होंने 'जिओ और जीने दो' की नीति अपनाई थी। त्रिगर्त में भी उन्होंने अपनी बस्तियां स्थापित कर स्थानीय लोगों को खदेड़ दिया हो, ऐसी बात नहीं थी। लगता है, शंबर-सुदास-दिवोदास युद्ध के उपरांत, बर्हिशिवालिक को तो आर्यों ने अपने अधिकार में ले लिया, किन्तु त्रिगर्त के भीतरी भाग पर केवल आधिपत्य ही

स्थापित किया और मुख्य पुरुष अथवा शासक स्थानीय व्यक्ति को ही रहने दिया। इसका अनुमान हम कांगड़ा के प्रसिद्ध कटोच वंश के इतिहास से लगा सकते हैं। कटोच अपने वंश का आदि पुरुष महादेव को मानते थे। वस्तुत: महादेव उनका आराध्य देव था। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, शिव नागों का ही देवता है, अत: यह कहा जा सकता है कि कटोचों का वंश आरंभ में नाग रहा होगा और सम्पूर्ण भारत पर आर्य प्रभुत्व होने के उपरान्त इन लोगों को भी आर्यों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया होगा। यह भी संभव है कि बहिर्शिवालिक क्षेत्र पर अधिकार जमा लेने के उपरान्त आर्यों ने त्रिगर्त के भीतरी भाग में अधिक रुचि न ली हो और शम्बर तथा उसके सहयोगियों के सजातीय बान्धव बिना हस्तक्षेप के अपना जीवन व्यतीत करते रहे हों। ऋषियों तथा ब्राह्मणों ने ही आकर उन्हें आर्य-संस्कृति में अन्तर्भुक्त किया हो।

इन ऋषियों और ब्राह्मणों ने भी दो प्रणालियां अपनाईं। एक वे ऋषि थे, जो इस पर्वतीय प्रदेश में तपस्या हेतु आए थे। उन्होंने अपने आश्रम के आसपास के लोगों को वैदिक आचार-व्यवहार की शिक्षा दी। किन्तु यह प्रभाव स्थायी नहीं बन पाया। ऋषि के चले जाने के पश्चात् समयोपरान्त वे लोग पुन: अपनी संस्कृति के पोषक बन गये। प्रमुख शासकों अथवा नेताओं के पास आर्य-सभ्यता के दूत बनकर कुछ ब्राह्मण और ऋषि आए। उन्होंने इन नेताओं को वैदिक संस्कृति का अनुयायी बनाया, उन्हें आर्य जाति में आदर का स्थान दिया। इसके अतिरिक्त सबसे सफल प्रयत्न आर्यों द्वारा प्रदेश में विभिन्न स्थानों पर बस्तियां स्थापित करना था। इस अभियान के नेता जमदग्नि ऋषि तथा उनके कनिष्टतम पुत्र परशुराम रहे।

आर्य-प्रसार के सर्वप्रमुख नायक परशुराम ने हिमाचल के पूर्वार्ध में आर्य-प्रवेश का सफल नेतृत्व किया। सतलज एवं गिरी उपत्यकाओं में उन्होंने ब्राह्मणों की टुकड़ियों को बसा कर उपनिवेश स्थापित किये, जिनका कार्य अपने चारों ओर आर्य सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार का केन्द्र बनना था। इस प्रकार के उपनिवेश अथवा बस्तियां रेणुका, काव, ममेल, निरत, दत्त नगर और निर्मंड में आज भी विद्यमान हैं, जिन्हें हिन्दूत्व के शास्त्रीय स्वरूप का गढ़ माना जाता है।

परशुराम के पिता जमदग्नि का तो आश्रम ही रेणुका में था, और सिरमौर के इस क्षेत्र को आर्य बनाने में उनका ही सबल हाथ था। इन पिता-पुत्र की कार्य-प्रणाली में समन्वय की भावना लक्षित होती है। कट्टर पंथ को त्यागकर इन्होंने 'कुछ ले, कुछ दे' के सिद्धान्त पर काम किया। मूलभूत नाग-खश संस्कृति को अक्षुण्ण रखा, साथ में आर्य-संस्कृति को अपनाने के लिए लोगों को प्रेरित किया। इसका स्पष्ट उदाहरण 'भूंडा' नामक यज्ञ है। यह यज्ञ आर्य-प्रसार का द्योतक है, आर्य संस्कृति का वाहक है, पर इस यज्ञ का अभिन्न अंग नरबलि है, जो निर्विवाद रूप से नाग-प्रथा है। आर्य संस्कृति को लोकप्रिय बनाने में खशों ने भी कार्य किया। यद्यपि वैदिक कर्मकांड इन खशों के लिए अग्राह्य था, क्योंकि वे बौद्धिक स्तर से उस योग्य नहीं थे, फिर भी एक ही पूर्व जाति के

सदस्य होने के नाते, तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में नागों से भी हीन होने के कारण उन्हें आर्य-संस्कृति को अपनाना सुगम लगा।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि हिमाचल में आर्यों ने बड़ी संख्या में प्रवेश नहीं किया, और न ही इस प्रदेश को आर्य-प्रभुत्व में लाने के लिए तुलनात्मक रूप से विशाल सेना का सहारा लिया। यहां के नाग, कोल, खश, किन्नरों को ही आर्यों ने अपनी पंक्ति में समेट लिया। इस पर भी प्राचीन ग्रंथों से प्रतीत होता है कि इन जातियों को पूरी तरह आत्मसात् करने में बहुत समय लगा होगा। आज से लगभग दो हजार वर्ष पहले तक ग्रन्थकार इस प्रदेश के निवासियों को अनिच्छापूर्वक ही आर्य मानते रहे। मनुस्मृतिकार ने तो उन्हें म्लेच्छ तक कह डाला है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि इस प्रदेश की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग आर्य नहीं, तो क्या कारण है कि इसकी भाषा शत-प्रतिशत आर्य है? भाषा के आधार पर ही तो जाति-निरूपण संभव हो सकता है। इसका उत्तर हमें यहां के साहित्य में खोजना होगा। जातीय मिश्रण तो आर्य-आगमन के बाद भी हुआ। जो-जो नये तत्त्व आये, नई जातियां आईं, उनकी चर्चा हम अगले पृष्ठों में करेंगे। यहां केवल इतना कहना ही काफी होगा, कि जो भी जातियां आर्यों के पश्चात् यहां आईं, वे स्वयं आर्यों के समान दक्षिण दिशा से आईं। सप्तसिन्धु तथा गांगेय प्रदेश में वे जातियां रह चुकी थीं जिसके फलस्वरूप वे भी आर्य-संस्कृति का अभिन्न भाग बन चुकी थीं। रही साहित्य की बात। यहां कतिपय वंशावलियों को छोड़कर पुरातन लिखित साहित्य तो है ही नहीं। सम्पूर्ण साहित्य लोक-साहित्य है अतः मौखिक है। मौखिक साहित्य तो सदा बदलता रहता है। उसके भाव भले ही अपरिवर्तित हों, परन्तु भाषा विभिन्न रूप धारण करती जाती है। अतः आज की भाषा के आधार पर हिमाचल के जातीय स्वरूप का निर्धारण उचित नहीं।

हिमाचल की प्राचीन कौन-सी भाषा थी, उसका क्या स्वरूप था, यह एक पृथक् खोज का विषय है। इसमें हमें डोडराक्वार, पांगी और मलाणा जैसे स्थान विशेष सहायता दे सकते हैं।

कुल्लू की पार्वती उपत्यका में मलाणा समुद्रतल से लगभग 8000 फुट की ऊंचाई पर स्थित है। यहां सौ डेढ़ सौ घर हैं जिनमें लगभग एक हजार लोग रहते हैं। आसपास के क्षेत्रों में मलाणा-निवासी का उल्लेख मलिनताओं, फूहड़पन, मूर्खताओं तथा विचित्र मान्यताओं के लिए किया जाता है, किन्तु मानवशास्त्रियों और भाषाविदों के लिए ये लोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बाह्य जगत् से कटे हुए आत्मावलम्बी मलाणवी संभवतः हिमाचल के आदिवासियों की सन्तान हैं, जो अपने आदिम स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। उनकी भाषा के सम्बन्ध में कई अटकलें लगाई जा रही हैं। कुछ लेखक उनकी भाषा को किन्नौरी मानते हैं, तो अन्य भोटी, पर अपने वर्गीकरण से ये लेखक स्वयं भी सन्तुष्ट नहीं हैं। संभव है कि इन लोगों की भाषा में हमें हिमाचल की प्राचीन भाषा के सूत्र मिल जाएं।

शक—हिमाचल के जातीय इतिहास में दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना शकों का आगमन है। शक मूलतः मध्य एशिया के निवासी थे। वे भारत में ईसा पूर्व पहली शताब्दी में आए। वे सीथियनों की एक शाखा युइची या युयिश जाति के थे। कुछ विद्वान उन्हें खशों के ही वंशज मानते हैं। उनका मत है कि खश शब्द ही उलटकर खश, शख, शक बन गया है।

शकों का उल्लेख रामायण, महाभारत, मनुस्मृति और विविध पुराणों में यवनों (यूनानियों) और पह्लवों के साथ-साथ मिलता है। भले ही ये तीनों जातियां विदेश से आकर भारत में बसी थीं, किन्तु भारतीय संस्कृति द्वारा आत्मसात् किये जाने से वे यहां के जन-जीवन में समा गई थीं।

शकों को अपने मूल स्थान मध्य एशिया में वहां की एक यायावर बर्बर जाति ह्यिंगून (हूणों) से पराजित होना पड़ा था। इसके परिणामस्वरूप उन्हें अपने निवास-स्थान से भागकर मध्य एशिया के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में जाने को बाध्य होना पड़ा। उनका जो दल दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ा था, वह वर्तमान अफगानिस्तान में यूनानियों के पहले से जमा होने के कारण वहां नहीं टिक सका था, इसलिए उन्हें ईरान के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग में शरण लेनी पड़ी थी। फिर वे बोलान दर्रे में से होकर सिन्धु नदी के पश्चिम तटवर्ती विशाल भूभाग में फैल गये थे। यह समस्त भूभाग शकों के नाम पर शकस्थान (सीस्तान) कहलाने लगा। पुराणों में इसे शकद्वीप कहा गया है। भूगोलवेत्ताओं ने उसके आसपास के भूभाग को 'इंडो सीथिया' का नाम दिया है।

शकों ने सिन्धु पार कर भारत के पश्चिमी भाग से बढ़ना आरम्भ किया। उन्होंने पश्चिमी-उत्तरी भारत में कई राज्य स्थापित किये थे। इनके मुख्य केन्द्र उज्जयिनी, मथुरा और तक्षशिला थे। उनके राजकुलों की उपाधि 'क्षत्रप' थी और जो अधिक शक्तिशाली हुए वे 'महाक्षत्रप' कहलाते थे।

प्राचीन ग्रंथों में इक्के-दुक्के उल्लेखों से तथा प्रदेश के अन्तर्साक्ष्य से यह मालूम होता है कि या तो शकों का राज्य त्रिगर्त के बड़े भाग तथा सतलज उपत्यका में काफी भीतर तक फैला हुआ था या शक कबीले, शकराजकुमार तथा सामन्त हूणों और गुप्तों के प्रहार से बचने के लिए हिमाचल के भिन्न-भिन्न दुर्गम स्थानों में शरण लेने के लिए मजबूर हुए होंगे।

आधुनिक खोजों के परिणामस्वरूप अब यह स्वीकार किया जा रहा है कि चौथी सदी ईस्वी में सम्राट चन्द्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त को पराजित कर महिषी ध्रुवस्वामिनी को जिस शकराज ने मांगा था, वह हिमाचल का ही था। राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार यह स्थान हिमालय में स्थित था। देवीचन्द्रगुप्तकार ने इस स्थान को अलिपुर कहा है। हर्षचरित में बाणभट्ट ने इस स्थान का नाम अरिपुर दिया है। आर० सरस्वती अलिपुर दुर्ग को कांगड़ा में मानते हैं, किन्तु डी० आर० भंडारकर इस युद्धस्थल को कर्तृपुर, आधुनिक कर्तारपुर मानते हैं। अल्बरूनी के अनुसार शकराज

का वध स्यालकोट और लोणी दुर्ग के मध्य किया गया। जो भी हो, यह स्थान हिमाचल में या इसकी सीमा पर था।

लगता है कि कुछ पहाड़ी राजाओं ने रामगुप्त के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कुछ इतिहासकार विद्रोही राजाओं के नेता को कांगड़ाधिपति मानते हैं जो संभवत: त्रिगर्त-जालन्धर के राजा का संबंधी रहा होगा। सम्राट रामगुप्त एक बड़ी सेना लेकर उसे कुचलने चल निकला, किन्तु शाही फौजें राजा की रक्षा करने वाली सेनाओं की पंक्ति को भेद नहीं सकीं और उन्हें पीछे हटना पड़ा। इस युद्ध में विश्वविख्यात गुप्त सेना की बहुत अधिक हानि हुई। फलस्वरूप राजा का उत्साह बढ़ा और उसने समय का लाभ उठा गुप्त सेना का पीछा किया। रामगुप्त ने अपने परिवार तथा कुछ अधिकारियों के साथ दुर्ग में शरण ली। किन्तु यह दुर्ग उसके लिए एक जाल सिद्ध हुआ। सम्राट रामगुप्त राजा के चंगुल में फंस गया और उसे बिना शर्त आत्म-समर्पण करना पड़ा। विजयी राजा ने मांग की कि सम्राट अपनी सम्राज्ञी ध्रुवस्वामिनी को हस्तान्तरित कर दे। किस प्रकार भावी विक्रमादित्य ने छद्मवेश में शकराज को मारा और राज्य को गुप्त साम्राज्य का अंग बनाया यह इतिहास-विदित है।

कांगड़ा में बैजनाथ के ऐतिहासिक ग्राम का एक नाम 'कीरग्राम' भी है। कुछ इतिहासकार कीरों को शकों की ही एक शाखा मानते हैं। यदि यह ठीक है तो हम कह सकते हैं कि हिमाचल में उस समय शकों के छोटे-बड़े अनेक राज्य थे।

शकों का सर्वोच्च देवता सूर्य था। अपने समृद्धि-काल में उन्होंने विभिन्न स्थानों पर मित्र (सूर्य) के मन्दिर बनाए। सूर्य देवता के इस प्रकार के प्राचीन मन्दिर रावी उपत्यका में गुम सतलज के किनारे निरत और व्यास के किनारे नग्गर में हैं। सूर्य-मूर्तियां कुछ एक अन्य नगरों और मन्दिरों में भी उपलब्ध हैं। इन मूर्तियों की पहचान उनके वस्त्र हैं। शकों की सूर्य-मूर्तियां नोकदार टोपी, पाजामा, चवगला (लम्बा कोट) तथा घुटनों तक के बूट पहने दिखाई देती हैं। स्वयं शकों के भी यही वस्त्र थे। जौनसार बावर की स्त्रियां आज भी लगभग वही पहनावा पहनती हैं जो शकों के मूलस्थान सिगवयांग के कुछ भागों में पहना जाता है।

शक विदेशी आक्रमणकारी होते हुए भी अत्याचारी नहीं थे, और न ही अपने परवर्ती हूण, अरब, तुर्क, मंगोल और पठान जातियों के आक्रमणकारियों की भांति बर्बर और हिंसाप्रिय थे। वे भारत के जीवन में इस प्रकार घुल-मिल गये कि कुछ काल बाद उन्हें भारतीयों से पृथक् करना कठिन हो गया था। प्रदेश के अनेक लोगों की नसों में शकों का खून है किन्तु उसे पहचानना संभव नहीं है।

शकों की विवाह-पद्धति आदिम अवस्था की थी। कई भाइयों की एक ही पत्नी हुआ करती थी। यही प्रथा आज भी किन्नौर, लाहुल और जौनसार बावर में प्रचलित है।

प्राचीन मिश्र के राजाओं और सामन्तों के समान ये शक भी मृतक संस्कार बड़ी शान से धूमधाम से करते थे। सरदारों की कब्रों में मृत शरीर के साथ वे सभी

वस्तुएं रखी जाती थीं, जिनका उपयोग वे अपने जीवन-काल में करते थे। शक भी अपने मृतकों विशेषतः सरदारों को दफनाते थे। इस तरह की कब्रें किन्नौर में अब भी मिलती हैं। इन्हें स्थानीय भाषा में खचेरो मखङ् कहते हैं।

कुछ शक कबीलों में मृत शरीर को जलाने तथा मृतक की पत्नी का उसके साथ जल मरने का रिवाज था। इस प्रकार यह संभवतः शक ही थे, जिन्होंने देश में सती-प्रथा का आरंभ किया। हिमाचल प्रदेश में सैकड़ों ऐसी गाथायें हैं जिनमें सतियों का वृत है।

शकों को घुमन्तू प्रकृति का माना जाता है। जब ये भारत में आए तो इनमें सम्राट और सामन्त ही नहीं थे, बल्कि उनकी सेना भी थी। उनका ओर्दू—घुमन्तू परिवार समूह—अपने पशुओं, डेरों और सारे परिवार के साथ वैसे ही चलता था, जैसे आज उनके वंशज गद्दी और गुर्ज्र पशुपालक और किन्नावरे।

कुषाण—कुषाण युहची अथवा युयिश जाति के थे, जो शकों की ही दूसरी शाखा थी। शकों के पश्चात् यह जाति भारत में आई। यद्यपि कुषाणों ने लगभग तीन सौ वर्षों तक भारत के पश्चिमोत्तर के कुछ भागों पर राज्य किया, किन्तु प्रमुख सम्राट केवल कनिष्क हुआ। इस वीर सम्राट ने चारों दिशाओं में इस जाति का प्रताप बढ़ाया। हिमाचल के साथ सम्पर्क संभवतः कनिष्क के शासन-काल में ही हुआ, जब इस प्रदेश का दक्षिणी भाग उसके साम्राज्य में सम्मिलित था। इस जाति ने कोई विशेष प्रभाव हिमाचल के जन-जीवन पर डाला हो, ऐसे प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं।

गुर्जर—पहाड़ी बोलियों और गुजरी में परस्पर बड़ा निकट का संबंध है इसलिए गुजरी बोलने वाले गुर्जरों के विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

गुर्जर कौन थे? इनका मूल निवास-स्थान कहां था? ये विदेशी थे या स्वदेशी? इन प्रश्नों पर बड़ा विवाद है। मोटे तौर पर पाश्चात्य विद्वान यह समझते हैं कि गुर्जर विदेशी थे। भारतीय बिद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि ये आर्य ही थे। समस्या इस कारण भी जटिल हो गई है कि भारतीय साहित्य में गुर्जरों का उल्लेख सर्वप्रथम सातवीं शताब्दी में होता है और विचित्र बात यह है कि आगामी एक-दो शताब्दियों के उपरांत उनका नाम सर्वथा लुप्त हो जाता है।

कुछ इतिहासकार कहते हैं कि गुर्जरों का प्राचीन नाम गूजर है और इनका आरम्भिक निवास-स्थल पंचनद प्रदेश (पंजाब) है। गुजरांवाला (पश्चिमी पाकिस्तान) उन्हीं के नाम पर प्रसिद्ध है। वे समझते हैं कि जब विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें पंजाब से खदेड़ दिया, तब उनमें से कुछ उत्तरी राजस्थान में जाकर टिक गए, और कुछ हिमाचल के चंबा जैसे भीतरी भागों में आ गए। डा० भंडारकर के अनुसार इन गूजरों की अपनी एक बोली रही है, जिसे प्राचीन ग्रंथों में 'गौर्ज्जरी' कहा गया है। इस बोली ने अपभ्रंश भाषा को बहुत प्रभावित किया। भाषा की दृष्टि से मेवाड़ी, मेवाती, धुन्धरी, गुजरी और पश्चिमी पहाड़ी में पारस्परिक निकटता का यही कारण है।

जो विद्वान गुर्जरों को विदेशी मानते हैं, उनका मत है कि हूणों ने जब गुप्त साम्राज्य पर आक्रमण किया तो उनके सैनिक मुख्यत: अ-हूण थे। हूणो को जब गुप्तों के हाथों निर्णायक हार खानी पड़ी, तो केवल हूण सेना अधिकारी वर्ग और सैन्य संगठन ढह गया। इसका स्थान एक अन्य शासकवर्ग ने लिया, और यह नया शासकवर्ग गुर्जरों का था। वे गुर्जर एक ही जाति के लोग नहीं थे। सातवीं शताब्दी के सुविख्यात गुर्जर राज्य भ्रोच, भिनमल-जलोड़ और मंदोर के थे। तत्र वहां मंगोल वंश के लोग थे। उत्तर में जयपुर और बीकानेर में अपेक्षाकृत गोरे रंग के गुर्जर थे। उनसे और उत्तर में, प्राचीन टक देश में अधिक गोरे सुदर्शन सुन्दर गुर्जर थे। वर्तमान जाट और सिख उनकी ही संतान हैं। हिमाचल में बसने वाले गुर्जर छोटे कद के और गूढ़े रंग के थे। कुल्लू, चुराह और पांगी के गुर्जर एक अन्य जाति के लगते हैं, जिनका संबंध तोखारियों से मालूम पड़ता है। इन लेखकों के अनुसार गुर्जर जाति में सीमान्तक भारतीय, ईरानी-शक, मंगोल और संभवत: कुछ यूरोपीय वंश के लोग हैं। एक दो इतिहासकार गुर्जरों को शकों का वंशज मानते हैं।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, गुर्जर नाम केवल सातवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ और आठवीं शताब्दी के बाद व्यवहार में आना बंद हो गया। पांचवीं शताब्दी में नये विदेशियों में केवल हूणों का उल्लेख है। उन्हीं के साथ या अगली शती में शूलिक सामने आते हैं। इन शूलिकों ने ही संभवत: सतलज के किनारे निर्मंड के पास शुलीशूग्राम (शिशवी) बसाया था और शिव शूल-पाणि के मन्दिर की स्थापना की थी। सातवीं सदी के आरम्भ में गुर्जरों का उल्लेख बाण के हर्षचरित, वराहमिहिर के बृहत्संहिता, और भ्रोज और नासिक के अभिलेखों में प्राप्य है। आठवीं शती में मंदोर के प्रतिहारों के साथ इनका नाम प्रयुक्त हुआ है। इस आधार पर ये विद्वान मानते हैं कि भारत में गुर्जर शब्द किसी जाति विशेष के लिए प्रयुक्त नहीं होता था। इसका प्रयोग विभिन्न स्थानों से आई उन विभिन्न जातियों के समूह के लिए हुआ करता था, जो हूणों के साथ भारत आई थीं। इन जातियों को हिन्दू समाज में सम्मिलित कर लिया गया और गुर्जर नाम केवल पशुपालकों के लिए ही रह गया। वराहमिहिर ने गुर्जरों की गणना अभिसार, गंधर्व, भल्ल, चिना, दर्द, दर्व, घोष, कौनिन्द, कशमीर, खश, कीर, किरात, तंगण और पशुपाल के साथ की है। एक विदेशी विद्वान ने यह मत भी व्यक्त किया है कि चुराह, पांगी, कुल्लू और शिमला के लोग ही वास्तव में गुर्जरों के वंशज हैं। यह कथन स्पष्टतया अतिशयोक्तिपूर्ण है, अत: इसका कोई महत्त्व नहीं है। गुर्जर चाहे जहां के भी मूल निवासी रहे हों, इसमें संदेह नहीं कि हिमाचल के वर्तमान जाति-तत्त्वों में उनका भी योगदान है।

भोट—ईसा की 7वीं शती में उत्तर की ओर से हिमाचल के सीमावर्ती प्रदेश पर एक आक्रमण हुआ, यह आक्रमण था भोटों का। इतिहास में पहली बार तिब्बती भोटों ने अपने साम्राज्य-प्रसार के अभियान में इस क्षेत्र पर आक्रमण किया। आक्रमण और प्रत्याक्रमण का यह क्रम लम्बे समय तक चलता रहा।

किन्नौर, लाहुल तथा स्पिति में भोट प्रभाव का तब श्रीगणेश हुआ। पर इस क्षेत्र में लोगों की आकृति और भाषा पर भोट के विशिष्ट प्रभाव से यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि ये लोग आरंभ से ही ऐसे थे। जिस प्रकार सब ओर से कटे समाजों में प्रायः होता है, यहां पर भी भोटों के सम्पर्क से मंगोल रक्त का सम्मिश्रण तेजी से हुआ। किन्तु इन सीमावर्ती क्षेत्रों में भी भाषा तथा आकृति की एकरूपता नहीं। दक्षिणी भाग से लगने वाले इलाकों में अमंगोल-प्रभाव स्पष्ट दीखता है। यह इससे भी जाहिर होता है कि किन्नौर और लाहुल में विशेषकर धार्मिक क्षेत्र में मूलतः देवी-देवताओं का जो प्राधान्य है वही समूचे प्रदेश में है, जो अभोट है।

फिर 7वीं शताब्दी से पूर्व यहां के निवासी कौन थे ? किन्नौर में तो निस्संदेह किन्नर निवास करते थे। स्पिति और लाहुल मुख्यतः किन्नर प्रदेश था, किन्तु लाहुल में नागों का भी वास रहा है। ऐतिहासिक काल में संभवतः शक भी इस प्रदेश में आये। इनसे पूर्व खश यहां आ चुके थे। इस प्रकार वर्तमान किन्नौर, स्पिति और लाहुल निवासी का रक्त भी उतना ही मिश्रित है जितना हिमाचल के शेष भागों में रहने वालों का। इसमें किन्नर, किरात, नाग, खश, आर्य, शक, गुर्जर तथा भोट रक्त उल्लेखनीय है। अन्यत्र कोल, नाग, खश, आर्य, शक और गुर्जर जाति-तत्त्वों से वर्तमान हिमाचली का निर्माण हुआ। किस व्यक्ति में किस जाति के रक्त का प्राधान्य है, यह उसकी वंश परम्परा, सामाजिक परिस्थिति तथा भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 7वीं शताब्दी तक हिमाचल प्रदेश में जातीय रूप से जन-जीवन का पूरा समन्वय हो चुका था। विभिन्न तत्त्व एकाकार हो गये थे और सब के सब शास्त्रीय हिन्दू समाज व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गये थे। आर्यों और मलेच्छों का भेदभाव मिट गया था। नाग, कोल, किन्नर, किरात, शक और गुर्जर अपने पृथक् अस्तित्व को तिलांजलि दे चुके थे, खश आर्यों की शाखा होने के कारण केवल अपना नाम बचा पाए थे।

वर्तमान वर्ण-व्यवस्था आर्यों के इस प्रदेश में आगमन तथा शक्ति-संचयन के समय से ही बीज रूप में उपस्थित थी, किन्तु लगता है कि इसका स्वरूप वह नहीं था, जो देश के अन्य भागों में था। चार वर्णों का यहां अधिक प्रचलन नहीं था। वस्तुस्थिति तो यह है कि आरम्भ में सभी एक ही जाति के थे। सभी जनपदीय नागरिक थे, सब के अधिकार समान थे। वर्ग की ओर झुकाव धीरे-धीरे हुआ। संभवतः ईसा की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के बीच इसका अन्तिम रूप निखरा हो। तब तक हिमाचल प्रदेश में एक शासक था और बाकी प्रजा। जनपदीय क्षेत्रों में एक शासक वर्ग दूसरा शासित वर्ग। थोड़े-से लोग ग्राम, जाति अथवा जनपद के मुखिया थे, अन्य साधारण नागरिक। अथवा एक वर्ग खेतिहार था दूसरा उसका आश्रित शिल्पकार। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सुस्पष्ट परिकल्पना इस समाज में आरम्भ में परिलक्षित नहीं होती। यह तथ्य कोली और कुनैत जैसे वर्गों के सामाजिक विश्लेषण से भी ज्ञात हो जाता है।

वर्ण-व्यवस्था की स्थापना में हिमाचल में राजा और देवता ने मुख्य भूमिका निभाई। राजा अपने पुरोहित की सलाह से तथा देवता अपने कारदार और 'गूर' के माध्यम से किसी व्यक्ति को एक वर्ण से दूसरे वर्ण में सम्मिलित कराते रहे हैं। साधारणतया यह प्रक्रिया नीच वर्ग से उच्च वर्ग में जाने के लिए प्रयुक्त होती थी। ऐसे सहस्रों उदाहरण हैं जहां राहू, कनैत अथवा खश को उच्चकोटि में शामिल किया गया अर्थात् राजपूतों में मान्यता दी-गई। जहां ऊपर चढ़ने में कुछ कठिनाई थी, सामाजिक सीढ़ी से नीचे फिसलना साधारण-सी बात थी। जाति के नियम-पालन में थोड़ी-सी ढिलाई उससे निष्कासन के लिए काफी थी। इस प्रकार चढ़ना और गिरना मुख्यतः शादी-विवाह पर और यदा-कदा भोजन पर आधारित था। यदि पुत्री अथवा बहन का विवाह नीच कुल से किया गया, तो समस्त कुल पतित हो गया। यदि कन्या ब्राह्मण, राजा और राणा के उच्च कुल में गई तो समाज में कन्या वंश वाले एक-दो सीढ़ी ऊपर चढ़ गये।

सामान्यतः समाज ईसा की पहली शताब्दी में अपने को वर्ण-व्यवस्था की परिधि में पूरी तरह बांध चुका था और भारत के शेष भागों के समान वह चार प्रमुख जातियों में सुगठित हो गया था। यह दूसरी बात है कि डोडराक्वार जैसे इलाकों में वर्ण-व्यवस्था के संगठन का क्रम अब शुरू हुआ है। कुछ समय पूर्व तक वहां के लोगों से यदि उनकी जाति पूछी जाती तो सभी अपने आपको खसिया (खश) बताते थे। कौन से खसिया पूछे जाने पर ही वे ब्राह्मण या राजपूत बताते थे। ब्राह्मण और राजपूतों के भी वर्ग हैं, यह उनकी परिकल्पना से बाहर की बात थी।

ब्राह्मण—यहां के लोगों की संस्कृति और सभ्यता आर्य है, किन्तु जातीय तत्त्वों के आधार पर वे स्वयं सम्पूर्णतः आर्य नहीं हैं, उनमें से अधिकांश अनार्य है। यह बात समाज के सर्वोच्च वर्ग—ब्राह्मण—पर भी लागू होती है। हिमाचल के ब्राह्मणों को जातीय आधार पर हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—आर्य, खश और नाग। यह निर्धारण उनके निवास तथा जाति के भीतर उनकी स्थिति को दृष्टि में रख कर किया जा सकता है।

ब्राह्मणों के मुख्यतः दो केन्द्र हैं—प्रसिद्ध देवता के मन्दिर और तीर्थस्थान तथा राजधानी। बड़ी-बड़ी राजधानियों तथा तीर्थस्थानों पर ब्राह्मण मुख्यतः आर्य हैं। स्थानीय देवी-देवताओं के मन्दिर के आसपास रहने वाले ब्राह्मण अनार्य हैं। इन अनार्य ब्राह्मणों में भी जो प्रदेश के भीतरी दुर्गम स्थानों में रहते हैं, उनकी अपनी पृथक् श्रेणी है।

ब्राह्मणों के भेदों और उपभेदों में भी जो सर्वोच्च हैं, वे या तो ऋषियों के साथ आए ब्राह्मण हैं या नाग और खश नेता। इसमें संदेह नहीं कि प्रदेश को आर्य बनाते समय परशुराम ने तथा अन्य ऋषियों ने स्थानीय शासकों को ही ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वर्ग में सम्मिलित कर दिया था। नागर ब्राह्मणों की चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि वे

मानसरोवर के निकट के अनार्य निवासी थे, वे नगरकोट में आकर रहे। नगरकोट प्रागैतिहासिक काल से इस क्षेत्र का सबसे बड़ा राजनीतिक केन्द्र रहा है। त्रिगर्त के शक्तिशाली राज्य की यह नगरी कभी राजधानी और कभी उप-राजधानी रही है। यहां पर ही देश के कतिपय प्रसिद्ध दुर्गों में से एक दुर्ग या कोट था, जिसे परंपरा अभेद्य और अजय समझती थी। यह कोट (दुर्ग) संभवतः नागों का निर्मित था। नगरकोट में तीन प्रकार के ब्राह्मणों का सम्मिलन हुआ। एक तो मानसरोवर जैसे इलाकों से आये नेता और सामन्त, दूसरे स्थानीय शासक, तीसरे शंबर-सुदास-दिवोदास के युद्ध के उपरान्त आए आर्य मनीषी। ये तीनों वर्ग अपने-अपने समाज में आदरणीय थे, अतः उनके वंशज नगरकोटिये ब्राह्मण आज भी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। इन्हीं के समान अपने को सर्वोच्च घोषित करने वाले वे ब्राह्मण हैं जो परशुराम की बसाई बस्तियों में रहते हैं। अधिकांश में ये गौड़ हैं। इन ब्राह्मणों में भी अनेक परिवार या तो खश हैं या फिर नाग।

समूचे प्रदेश में ब्राह्मणों का एक वर्ग-विशेष है जिसे नाग-पुंडरीक या पुंडरी नाग कहते हैं। यह ब्राह्मण नाग देवताओं के पुजारी हैं, और नाग ही इनके इष्टदेवता हैं। यह मानने के सबल कारण हैं कि ये नाग पुंडरीक ब्राह्मण प्राचीन नाग सामन्तों की सन्तान हैं, जिन्होंने अपने पूर्वजों की स्मृति को बनाए रखा और आज भी उनकी पूजा करते हैं।

ब्राह्मणों में पारस्परिक उच्चता और नीचता को जानने की एक कसौटी है उनका कृषि के प्रति दृष्टिकोण। खेती-बाड़ी के काम से जो ब्राह्मण जितना दूर रहता है, वह उसी मात्रा में उतना उच्च माना जाता है। जो ब्राह्मण हल चला ले वह तुरन्त एक-दो सीढ़ी नीचे गिर जाता है और हल न चलाने वाले उस हलवाहे परिवार के साथ विवाह संबंध स्थापित करने में संकोच करते रहे हैं।

कुछ ब्राह्मण भूमि के स्वामी हैं, कुछ नहीं। जो परिवार परंपरागत भूमि के स्वामी हैं, वे अनुमानतः नाग तथा खश सामन्तों, शासकों में से हैं, जिन्हें आर्यों ने ब्राह्मण मानकर समाज में आत्मसात् कर दिया था।

जहां तक ब्राह्मणों की अपनी परंपरा है, वह यह प्रदर्शित करती है कि वे भारत के अन्य भागों से यहां आए। आगमन का यह क्रम वैदिक युग से लेकर ऐतिहासिक युग तक चलता आया है। मान्यता यह है कि वे दक्षिण भारत, अयोध्या, गया, राजपूताना, हरिद्वार (मायापुरी), सिन्ध तथा कश्मीर से आकर यहां बसे। उत्तरी भारत में मुस्लिम सत्ता के आगमन से जो सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल हुई, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों से पर्याप्त संख्या में ब्राह्मण यहां त्राण पाने चले आए, इसमें संदेह नहीं है।

परम्परागत व्यवसाय के अतिरिक्त ब्राह्मण प्रायः सभी क्षेत्रों में सक्रिय हैं। सेना, उद्योग, कृषि, व्यापार और प्रशासन में समाज के अन्य वर्गों के साथ वे साझीदार हैं।

राजपूत, क्षत्रिय—हिमाचल की जनसंख्या का सबसे बड़ा अंश क्षत्रियों का है। इनके इतने भेद-उपभेद हैं कि उनका समुचित वर्गीकरण कठिन हो जाता है। केवल उच्च-वर्गीय राजपूतों की ही लगभग एक सौ शाखायें हैं। इस वैविध्य में कोई विचित्र बात भी नहीं। क्षत्रिय ही एक ऐसा वर्ग है जिसमें जातीय रूप से सर्वाधिक समन्वय एवं विलयन हुआ। अपने विवेचन के लिए हम क्षत्रियों के अन्तर्गत राजपूत, राणा, मियां, ठाकुर, राठी, खश, गद्दी, कनैत तथा राहू का समावेश करेंगे। इनमें नागों, किन्नरों, आर्यों, खशों, शकों और गुर्जरों का बड़ी मात्रा में समाहार हुआ है।

ये क्षत्रिय जातियां भी तीन मुख्य भागों में बंटी हैं। पंक्ति के अग्रभाग में राजा, राणा और मियां हैं। ये किसी राजवंश के सदस्य हैं या उन वंशों की सेवा में नियुक्त योद्धाओं और सामन्तों की सन्तान। ये पुरातन तथा नवीन समाज के अभिजात्य वर्ग से हैं। आचार-व्यवहार में इनमें और ब्राह्मणों में कोई अन्तर नहीं है। ठाकुर, राठी, गद्दी, खश अथवा खासिया क्षत्रिय व्यवस्था में दूसरे स्थान पर हैं : मुख्यत: ये कृषक हैं और लगता है कि खश, शक और गुर्जर अंश इनमें अधिक हैं। सबसे निचले स्थान पर कनैत और राहू हैं।

कनैत और राहू व्यावहारिक रूप से एक ही हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कनैत कुनिंदों की संतान हैं। कनैत शब्द की व्युत्पत्ति वे कुनिन्द-कुनेत-कनेत-कनैत से सिद्ध करते हैं। एक अन्य मत यह है कि कनैत और राहू वास्तव में उन गुर्जरों की सन्तान हैं, जिन्होंने सैनिक वृत्ति छोड़कर खेती-बाड़ी के धंधे को अपनाया था।

यद्यपि इन मतों को निर्मूल कहकर अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, किन्तु लोक-परंपराएं, मान्यतायें और रीति-रिवाज यह स्थापित करती हैं कि ये दो उपजातियां इस प्रदेश के मूल निवासियों में से हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कनैत और राहू आदिम जातियों और ऐतिहासिक जातियों का मिश्रित रूप हैं। समाज में इन्हें ऊपर उठने का कभी अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इसका एक कारण यह भी था कि इन लोगों में ब्राह्मणों, राजपूतों और खशों का वह समुदाय भी सम्मिलित हो गया था, जिन्हें समय-समय पर इन जातियों से निष्कासित किया जाता रहा था। इस प्रकार कनैत सम्भवत: कुलिन्दों के वंशज, नाग-खश, आर्य-खश, खश-कोली, और गुर्जर-खश-शकों की संतान हैं।

वैश्य—चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार वैश्य मुख्यत: वणिक और शिल्पी थे। हिमाचल प्रदेश में शिल्पी साधारणतया कनैतों में से थे। वाणिज्य के लिए यहां अवसर नहीं था, क्योंकि अर्थ-व्यवस्था अदल-बदल की प्रणाली पर आधारित थी। एक उत्पादक अपनी वस्तु को दूसरे उत्पादक को देकर अपनी जरूरत की चीज ले लेता था। इस कारण यहां एक बड़ा व्यापारिक वर्ग नहीं बन पाया। वैश्यों की श्रेणी में महाजन, सूद, बनिया, कराड़, कायव्य और खत्री रखे जा सकते हैं।

घिरथ और कोली—घिरथ और कोली समाज का निम्नतम वर्ग था। इस

कारण उसका शोषण भी अत्यधिक हुआ। ये दोनों जातियां खेतिहार हैं, परन्तु कई स्थानों पर वे स्वयं भूमि के स्वामी नहीं हैं। डागी, रेहढ़, छांहग, शिप्पी, चनाल, थात्री, वाढ़ी, चनाअ और डूमणों की तरह ये भी अधिकांश में प्रागार्य और अनार्य जातियों के वंशज हैं। कोलियों को अनेक विद्वान आदिम कोल जाति से प्रसूत मानते हैं। देश के अन्य भागों में जहां केवल जन-जातियां ही उन प्राचीन प्रागार्य जातियों के अवशेष रह पाई हैं, हिमाचल में प्राय: सभी निम्नवर्ग की जातियां इस कोटि की हैं।

चतुर्थ अध्याय

राजनीतिक इतिहास

सीमांत प्रदेश—प्रकृति ने भारत को एक सम्पूर्ण राष्ट्र के रूप में निर्मित किया है। तीन ओर से विशाल पर्वत-शृंखलायें और चौथी ओर से अथाह सागर इसकी सीमा निर्धारित करते हैं। भूगोल की इस देन से भारतीय लोग आदि काल से ही परिचित थे। यही कारण है कि समय-समय पर उन्होंने इस भौगोलिक तथ्य को राजनीतिक सत्य में ढालने का प्रयत्न किया है।

वेदों में राष्ट्र शब्द और उसके स्वरूप का अनेक बार उल्लेख हुआ है। इस राष्ट्र के अर्न्तगत प्रोगैतिहासिक काल से बड़े-वड़े साम्राज्य वनते-विगड़ते आए। इन साम्राज्यों के चक्रवर्ती सम्राटों ने देश के अधिकांश राज्यों को अधीनस्थ कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। पर प्राय: उनका उद्देश्य सर्वत्र एकतन्त्र, एकराज स्थापित करना नहीं होता था। बहुधा वे अपने साम्राज्य को राष्ट्र का पर्यायवाची वनाना चाहते थे जिससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हो पाए।

परम्परा साक्षी है कि प्राय: सभी सम्राटों ने दिग्विजय की, अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए, साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार किया, किन्तु विजित राज्यों को समूल नष्ट नहीं किया। आन्तरिक प्रशासन में उन्हें स्वतन्त्र रहने दिया, जिससे वे अपनी परम्परा और प्रणाली के अनुरूप अपना विकास करते रहें। सम्राटों की इस प्रकार की नीति का एक लिखित उदाहरण इलहाबाद प्रशस्ति में प्राप्त है, जिसमें ऐसे सीमान्तक राज्यों एवं जनपदों का उल्लेख है जिन्होंने बिना युद्ध किए ही गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार के राज्यों में समतट, देवक, कामरूप, नेपाल, कर्तृपुर आदि हिमालयवर्ती क्षेत्र थे। जनपदों में मालव, अर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर, प्रार्जन, सनकानिक, काक, खरपरिक आदि मुख्य थे।

जैसा कि हम कह चुके हैं, समुद्रगुप्त ने स्वयं इन राज्यों और जनपदों पर आक्रमण नहीं किया, किन्तु अपनी शक्ति का आभास उन्हें अन्य उपायों से खूब कराया।

अप्रत्यक्ष रूप से उसने उनके सम्मुख दो विकल्प रखे। उनकी ओर से अवज्ञा अथवा अवहेलना पर सम्बन्धित राज्य या जनपद का सैनिक शक्ति द्वारा नाश अन्यथा उसका राजाधिराजत्व स्वीकार कर शान्ति, समृद्धि तथा आन्तरिक स्वतंत्रता का पूर्ण आश्वासन।

हिमाचल प्रदेश आरम्भ से ही सीमान्त प्रदेश रहा है। अभी तक प्राप्त सामग्री से ज्ञात होता है कि जब कभी देश में बड़े साम्राज्य बने, यह प्रदेश उनका भाग बना, अथवा उनके आधिपत्य में आया, किन्तु जब वे विश्रृंखलित हो समाप्त हो गए तो यह स्वाधीन हो गया। किन्तु इसका कदापि यह तात्पर्य नहीं कि यह समूचा भूखण्ड कभी एक इकाई था।

हिमाचल के सम्बन्ध में, अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य, दोनों से यह लगता है कि यहां आदि काल से छोटे-छोटे राज्य, जनपद या प्रशासनिक इकाइयां रहीं, जो कभी परतंत्र, कभी किसी बड़ी शक्ति के अधीन और कभी दो-चार पड़ोसियों को आत्मसात् कर स्वयं प्रभुता सम्पन्न बन गईं। इन राज्यों, जनपदों और इकाइयों की संख्या इतनी अधिक है, कि सबको एक सूत्र में पिरोना दुष्कर है। इस पहाड़ी भूखण्ड के पांच-छः हजार वर्षों के लम्बे इतिहास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत करना लगभग असम्भव है। इसका मुख्य कारण यह है कि जिन तन्तुओं को लेकर इतिहास की रूपरेखा निश्चित की जाती है, उनका प्रायः सर्वथा अभाव है। इन सूत्रों के नाम पर प्राचीन ग्रन्थों में इक्के-दुक्के संदर्भ, विदेशी यात्रियों का विहंगम अवलोकन, तथा वंशावलियों का सामान्यतः अतरंजित चित्रण ही उपलब्ध है। कुछ सिक्के अवश्य मिले हैं, किन्तु उनसे भी एक काल-विशेष और जनपद-विशेष का ही ज्ञान होता है। अभिलेख तथा ताम्रपत्र हजार दो हजार वर्ष से पुराने नहीं हैं। ऐसी परिस्थिति में ऐतिहासिक मान्यतायें निर्धा-रित करने और निष्कर्ष निकालने में दोष रह सकता है।

ऐतिहासिक सामग्री—उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री को सुविधा के लिए हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—अन्तर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य। अन्तर्साक्ष्य में इस प्रदेश से प्राप्त होने वाली वंशावलियों, अभिलेखों और सिक्कों को गिना जा सकता है। परन्तु इनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत लोक-परम्परा, लोक-गाथा और किंवदंतियों का इतिहास की ठोस सामग्री के अभाव में ये जनश्रुतियां ही हमें हिमाचल के अतीत का एक फीका-सा, मद्धिम-सा, अस्पष्ट किन्तु कुछ-कुछ नियोजित चित्र बनाने में सहायक होती हैं। इस स्रोत का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'दियाउड़ी' मेला है, जिसने न केवल इस प्रदेश में हुए भयंकर जातीय संघर्ष की स्मृति को संजोये रखा, अपितु वेद जैसे ग्रन्थों में वर्णित कतिपय घटनाओं की सुस्पष्ट व्याख्या तथा सत्यता की स्थापना में बड़ा योग दिया है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों के संस्थापकों से सम्बन्धित गाथाओं, रानी-राजा के बलिदान का विरुद तथा नूरपुर के राजा जगतसिंह और रामसिंह पाठानियां जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के देशप्रेम और शौर्य का वर्णन भी हमें लोक-साहित्य से ही उपलब्ध होता है। अतः हिमाचल के सन्दर्भ में इन उत्सव, गीत और गाथाओं का उतना ही महत्त्व है, जितना अन्यत्र लिखित साहित्य का है।

साधारणतया जितने भी छोटे-बड़े राज्य इस प्रदेश में उन्नीसवीं और वीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक थे, उन सभी के पास वंशावलियां थीं, जिनमें से अनेक गोरखा आक्रमण, आन्तरिक कलह या भयंकर आग में नष्ट हो गईं। इन वंशावलियों में वंश-विशेष के राजाओं सम्बन्धी तथ्य हैं, जो वहुत कुछ प्रक्षिप्त हैं। राजाओं के नामों की इस प्रकार की सूचियां हरिद्वार, गया, प्रयाग और कुरुक्षेत्र जैसे तीर्थस्थानों के पंडों के पास भी उपलव्ध हैं। इन सूचियों से मिलान करने पर वंशावलियों के ऐतिहासिक महत्त्व को परखा जा सकता है।

शिलालेख, ताम्रपत्र, काष्ठलेख, मुखोट, मीहरे, मूर्तियां और मुद्राएं (सिक्के) ठोस सामग्री हैं। इन सबमें आधिक्य ताम्रपत्रों का है, जिन में से लगभग 150 अकेले चम्वा में हैं। ये ताम्रपत्र नवीं-दसवीं शताव्दी के वाद के हैं। ताम्रपत्रों में प्राचीनतम निर्मंड के परशुराम मन्दिर का है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह ताम्रपत्र सर्वाधिक महत्त्व का है, क्योंकि इससे पांचवीं-छठी शताव्दी में देश के सीमान्त'क्षेत्र की राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है कि किस प्रकार यह क्षेत्र तव एक पुराने भारतीय राज्य का केन्द्रीय भाग था। ऐतिहासिक मूल्य की मूर्तियां भ्रमौर और चत्राढ़ी में शक्ति देवी, नृसिंह और लक्षपा देवी की हैं। इन मूर्तियों को सातवीं शताव्दी में राजा मेरु वर्मन ने स्थापित किया था। इन पर अंकित यह सूचना हमें उस समय के इतिहास के प्रति अति मूल्यवान सूत्र उपलव्ध कराती है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त पनिहारों पर खुदे अभिलेख, जिनका भी चम्वा में वाहुल्य है, लगभग छः-सात सौ वर्षों का फीका-सा चित्र प्रस्तुत करते हैं।

शिलालेख कांगड़ा में धर्मशाला से चार मील दूर कन्हियारा और आगे नौ मील पठ्यार, कुल्लू में निर्मंड, मण्डी में ममेल-काव और सलानू और महासू में हाटकोटी में मिले हैं। वैजाथ का लेख जिसमें वैद्यनाथ मन्दिर के निर्माण के तथ्य दिए हैं, इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। व्राह्मी लिपि में लिखा निर्मंड का लेख इतना अस्पष्ट है कि पढ़ा नहीं जा सकता। कन्हियारा के दोनों शिलालेख किसी कृष्णनयस द्वारा पहली, दूसरी शताव्दी ईसवी में वौद्ध विहार (आराम) वनाने का उल्लेख करते हैं और पठ्यार (तीसरी दूसरी शताव्दी ईसा पूर्व) का लेख वायुला द्वारा पुष्करिणी (जलाशय) वनाए जाने का। ये तीनों लेख व्राह्मी और खरोष्टी लिपियों में हैं। मंडी में सालड़ी के निकट सलानू के शिलालेख के अनुसार वत्सकुल के महाराजा ईश्वर हस्तिन् के पुत्र महाराजा चंडेश्वर हस्तिन् ने रज्जिल बल को पराजित कर सलीपुरी नगरी की स्थापना की थी।

इन शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि से धार्मिक स्थिति का अधिक ज्ञान होता है, इतिहास की जानकारी कम होती है। इनमें अनुदान का धार्मिक पक्ष प्रवल है। दूसरी कठिनाई उनके काल-निर्धारण की है, क्योंकि उन पर जिन वर्षों का उल्लेख है, उनका सम्वत्सर अव्वल तो दिया ही नहीं है, यदि कहीं है तो वे प्रायः विविध संवत्सर हैं। कहीं शास्त्रीय सम्वत्सर है, तो कहीं ऋषि या शक सम्वत्।

प्राचीनतम सिक्के हमें ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व के मिलते हैं। इनमें औदुम्वर जनपद के ताम्वे और चांदी के गोल अथवा चौकोर सिक्के होशियारपुर,

गुरदासपुर, पठानकोट, नूरपुर, ज्वालामुखी और हमीरपुर से मिले हैं। इन सिक्कों में औदुम्बर के शिवदास, रुद्रदास और घरघोष तथा रुद्रवर्मा, आर्यमित्र, विश्वमित्र, महिमित्र, भानुमित्र और महाभूतिमित्र राजाओं के नाम मिलते हैं। रुद्रवर्मा की एक मुद्रा पर "विजय रानी वेमकिस रुद्रवर्मस" अंकित है। कुल्लू के किसी विरायस राजा की एक मुद्रा मिली है। ईसा पश्चात् पहली या दूसरी शताब्दी की उस मुद्रा पर "राजन: कुलूतस्य विरायसस्यि" ब्राह्मी में लिखा है। उसी में खरोष्ठी लिपि में "राना" शब्द भी उल्लिखित है।

ज्वालामुखी, हमीरपुर (तपा मवो), अम्बाला, सहारनपुर और गढ़वाल में कुलिन्द जनपद के अमोघमूर्ति राजा की चांदी और तांबे की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। कुलिन्दों के ही चत्रेश्वर के सिक्के भी मिले हैं। विश्वास किया जाता है कि ये सिक्के ईसा पूर्व 150 वर्ष से लेकर दूसरी शताब्दी ईसा पश्चात् तक प्रचलित थे।

वहिर्साक्ष्य से इधर-उधर विखरे उद्धरण, हमें ऋग्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, महाभारत, रामायण, पाणिनी की अष्टाध्यायी, मनुस्मृति, विष्णु पुराण, मार्कंडेय पुराण, बौद्ध ग्रन्थ, वृहत्संहिता, कल्हण की राजतरंगिणी, वाण की कादम्बरी, हर्षचरित और विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नामक नाटक में मिलते हैं। ऋग्वेद से आर्य-नाग-संघर्ष के प्रतीक सुदास-दिवोदास-शम्वर युद्ध का पता लगता है, महाभारत से हमें तत्कालीन राजनीतिक इकाइयों और उनके शासकों का ज्ञान होता है। महाभारत के वाद की स्थिति का आभास हमें अष्टाध्यायी से मिलता है। पुराण जहां जनपदीय प्रणाली के सम्बन्ध में हमें थोड़ा-वहुत वतलाते हैं, वहां राजतरंगिणी में दो-चार उद्धरणों से कश्मीर के संदर्भ में त्रिगर्त, चंवा और कुलूत की स्थिति के वारे में मालूम होता है।

कतिपय विदेशी पर्यटकों और इतिहासकारों ने भी इस प्रदेश का जहां कहीं संक्षिप्त-सा जिकर किया है। ईसा पूर्व की दूसरी पहली शताब्दी से लेकर ईसा के वाद की दो-तीन शताब्दियों तक के समय पर मद्धिम-सी प्रकाश-किरण ग्रीक इतिहासकार प्लीनी और लेटिन लेखक ताल्मी की पुस्तकों से पड़ती है। सातवीं शताब्दी में त्रिगर्त और कुल्लू की स्थिति की सुविस्तृत जानकारी हमें प्रसिद्ध चीनी यात्री युवानच्वांग और आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में त्रिगर्त की असफलताओं की झलक कोरियाई यात्री ह्यी-चो से मिलती है। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता, अलवरूनी और उत्वी से ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आसपास की अवस्था का परिचय मिलता है, जब महमूद गजनवी ने सन् 1009 में नगरकोट (कांगड़ा) पर आक्रमण किया था। पिछले छ:-सात सौ वर्षों के इतिहास को समझने में दिल्ली के सुलतानों और मुगल वादशाहों के पट्टे परवाने और फरमान, अंग्रेज और फ्रांसीसी पर्यटकों और सरकारी कर्मचारियों के यात्रा-वर्णन एवं सिख इतिहासकारों की रचनाओं से थोड़ी-वहुत सहायता मिलती है।

प्रारंम्भिक रूपरेखा—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यह सारी सामग्री असंवंधित, खंडित और नितान्त अपर्याप्त है, किन्तु प्रदेश के इतिहास की

प्रारंभिक रूपरेखा तो स्थिर करनी ही होगी। अभी तक की खोज के आधार पर जो चित्र बनता है, वह इस प्रकार है।

नाग और खश दोनों पशुपालन और कृषि का काम करते थे। उन दिनों न तो जनसंख्या अधिक थी, और न ही खेती-बाड़ी के लिए उपयुक्त विस्तृत भूमि उपलब्ध थी। जहां कहीं अच्छी चरागाह, उपजाऊ भूमि और जल-व्यवस्था सुलभ होती, वहीं ये लोग अपनी बस्तियां बसा लेते थे।

वरीन्द—स्वाभाविक रूप से ये बस्तियां एक-दूसरी से अलग-थलग होती थीं। प्रत्येक बस्ती में केवल एक ही परिवार आकर नहीं बसता था, अपितु एक से अधिक परस्पर सम्बंधी परिवार वहां रहते थे। इस प्रकार के परिवार-समूह को 'वरीन्द' कहा जाता था। आज भी कई स्थानों में एक ही सम्बंधित परिवार के सदस्य बरीन्द कहलाते हैं। इन वरीन्दों का मुखिया सभी परिवारों का वृद्धतम पुरुष होता था, जबकि अकेले परिवार का मुखिया पिता या पितामह होता था। ये वरीन्द एक इकाई होते थे और मिल कर कार्य करते थे। जब किसी कारण एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए प्रस्थान करना होता था, तब भी समूचा बरीन्द ही अपना अन्न, धन लेकर जाता था। आन्तरिक मामलों में परिवार स्वतन्त्र था, किन्तु अन्तर्बरीन्द समस्याओं के लिए वे वरीन्द मुखिया के अधीन थे। वरीन्द सामान्यतः आत्मनिर्भर हुआ करता था।

खूंद—ऐसे भी अनेक अवसर आए, जब एक बरीन्द ने अन्यत्र जा किसी दूसरे वरीन्द की भूमि और बस्ती पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिए आसपास बसे वरीन्दों का एक सुरक्षात्मक संगठन बना। इन संगठनों को खूंद, या गढ़ कहा जाता था। गांव यदि बरीन्द के उदाहरण हैं, तो परगना या कोठी खूंद के ही रूप हैं। रामपुर बुशैहर, धूंड और बिलासपुर में इन खूंदों की परंपरा आधुनिक काल तक बनी हुई थी। निर्मंड में बसने वाले लोग, विशेषतः ब्राह्मण आज भी सात खूंदों में विभक्त हैं। कालान्तर में यही खूंद ठकुराइयां बन गई थीं। जहां कई खूंद एकत्रित हुए, वहां उन्होंने राज्यों का स्वरूप लिया था। संस्कृत साहित्य में संभवतः यही खूंद जनपद कहलाए। देश के मैदानी भागों में इन जनपदों का आकार काफी बड़ा था, किन्तु हिमाचल के पर्वतीय क्षेत्र में धूंड जैसे भी जनपद रहे, जिसका क्षेत्रफल सन् 1948 में विलय के समय केवल नौ वर्गमील था और जनसंख्या दो हजार थी।

जिस प्रकार सभी वरीन्द परिवारों का वयोवृद्ध पुरुष उस बरीन्द का नेता होता था, ठीक उसी प्रकार खूंद के सभी बरीन्दों में वृद्ध व्यक्ति खूंद या गढ़ नेता होता था। संभव है अपने प्राथमिक स्वरूप में ये खूंद सम्बंधित वरीन्दों के ही रहे हों, जो शान्तिकाल में तो अपनी-अपनी बस्तियों में पूर्ण स्वतन्त्र थे, किन्तु आपत्काल में या युद्ध के अवसर पर मिल कर अपनी रक्षा करते और एक-दूसरे की सहायता करते थे। सुरक्षा के लिए उन्होंने गढ़ों या कोटों का निर्माण किया होता था। ये गढ़ अथवा कोट युद्ध-नीति की दृष्टि से उपयुक्त स्थान पर बनाए जाते थे। बहुधा ये धारों की चोटियों पर

स्थित होते थे, जहां से दूर-दूर तक चारों दिशाओं पर नजर रखी जा सके। इस प्रकार के अनेक गढ़ों के भग्नावशेष बरामगढ़, नरैणगढ़, हरिगढ़, कोटगढ़ और सिरिगढ़ में मिलते हैं। नगरकोट, पठानकोट, रावाकोट और समरकोट जैसे स्थान कोटों से ही अपना नाम सार्थक करते हैं।

जनपद—आरम्भ में परिवार, वरीन्द और खूंद ही राजनीतिक इकाइयां रही होंगी। ऋग्वेद काल में संभवतः यही स्थिति थी। शम्बर खूंदों का मुखिया था, और उसी हैसियत से वह सुदास-दिवोदास के विरुद्ध लड़ा होगा। ऋग्वेद के अनुसार शम्बर के अधिकार-क्षेत्र में एक सौ गढ़ थे। युद्ध में शम्बर की सहायता चुमुरि, वृत्रासुर, कृष्णासुर, नमुचि, तुग्र, कुत्स, वरशिख, धुनि, शुण, अक्षुष और पिपु नामक नायकों ने की थी। ये सभी खूंदों के मुखिया रहे होंगे। आदि काल में सभी छोटी-बड़ी राजनीतिक इकाइयां जनतन्त्रात्मक थीं, जिनमें सब परिवार, वरीन्दों अथवा खूंदों के कुल प्रतिनिधियों, वरीन्द मुखियों और खूंद नेताओं के समान अधिकार थे। तब इन सबमें गणतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली थी। किन्तु समय बीतने पर एकराज-पद्धति ने जन्म लिया। इसका मुख्य कारण युद्ध जैसी संकटमय परिस्थिति का सफलता से सामना करने के लिए एक सर्वप्रमुख नेता की आवश्यकता रहा होगा। ऐसा लगता है कि ऋग्वेद काल में शम्बर के समय में ही कांगड़ा तथा निकटवर्ती इलाकों में राजा और राज्यों का बीजरूप में जन्म हो गया था। अनेक अवस्था में सर्वोच्च नेता के अधिकार-क्षेत्र के खूंद ही उसके राज्य की सीमा बन गए। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक रूप से दो इकाइयां बनीं। एक पर राजा का शासन हो गया, और दूसरी पूर्ववत् खूंदों के नेताओं द्वारा संयुक्त रूप से शासित होती रही। दोनों प्रकार की इकाइयां जनपद कहलाती थीं। राजा के शासन वाला जनपद एकराज और खूंद नेताओं द्वारा शासित जनपद संघ या गणराज कहलाता था।

जनपदों के निवासियों का अपनी भूमि से प्रगाढ़ मोह और उसके प्रति मातृभाव था, अतः प्रत्येक खूंद या खूंद-समूह की भूमि उन लोगों की मातृभूमि बनी। धर्म, संस्कृति, भाषा और व्यवस्था की दृष्टि से ये जनपद उनके जीवन के केन्द्रबिन्दु बन गए। आश्चर्यजनक बात यह है कि खूंद पर आधारित जनपद के प्रति यह मोह इतना प्रबल रहा कि बीसवीं शताब्दी तक वर्तमान हिमाचल में चालीस से ऊपर पुराने राज्य थे।

खूंदों अथवा गढ़ों का नामकरण उनके निवासियों पर अथवा निवासियों का नामकरण खूंद-गढ़ विशेष के नाम पर होता था। त्रिगर्त एक जनपद का नाम था और वहां के लोगों का भी। कहीं-कहीं त्रिगर्त के निवासी कटोचों के नाम पर ही कांगड़ा को कटोच कहा जाने लगा था। उसी प्रकार कोटगढ़, सिरिगढ़, बरामगढ़ आदि खूंदों के नाम भी होंगे। एकराज जनपद का अधिपति राजा था। संघ शासन के प्रभावशाली ऐश्वर्य-सम्पन्न जितने कुल थे, उन कुलों के प्रतिनिधि भी राजा के नाम से जाने जाते थे, और उनका एकराज जनपद के राजा के समान अभिषेक होता था। लिच्छवी जनपद के वैशाली संघ के राजाओं के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनके

जितने कुल थे, सबके वृद्धों का अभिषेक होता था। उनके अभिषेक के लिए जल एक विशेष पुष्करिणी या कुंड से लिया जाता था। उस मंगल पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था, अतः जिन कुलों में प्रभुसत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हें ही मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिए जल पाने का अधिकार होता था। कुलपिता के अनन्तर उसके पुत्र का मुर्धाभिषेक बड़े समारोहपूर्वक किया जाता था।

कुल प्रतिनिधियों के अभिषेक की प्रथा हिमाचल में आज भी जारी है। महात्मा बुद्ध के लिच्छवी संघ की तरह सतलज उपत्यका में निर्मंड प्राचीन संघ जनपद था। 'भूंड़ा' नामक महायज्ञ के अवसर पर यहां सन् 1962 तक कुल प्रतिनिधियों का अभिषेक होता रहा है। ये प्रतिनिधि गाहरी कहलाते हैं। पीढ़ी दर पीढ़ी ये गाहरी अपने अधिकार की रक्षा बड़ी सतर्कता से करते आए हैं। साथ में गाहरी प्रतिनिधि के गाहरीपन की भी पूरी तरह छानबीन की जाती है। साधारणतया अभिषेक के इच्छुक गाहरी की सात पूर्व पीढ़ियों तक देखा जाता है कि उसका रक्त शुद्ध गाहरी है।

'भूंड़ा' के समारंभ पर प्रत्येक गाहरी कुल और परिवार परशुराम मंदिर के कारदार और यज्ञ के अधिष्ठाता को सूचित करता है कि अमुक दिन उसके घर अभिषेक समारोह होना है। इस समारोह को 'टीका लगाना' कहते हैं। टीका सर्वप्रथम किसी नाग पुंडरीक ब्राह्मण को लगता है। प्रायः परिवार का ज्येष्ठ पुत्र ही टीका लगाने का अधिकारी होता है। निश्चित दिन पर अम्बिका का कलश अभिषेक के इच्छुक गाहरी के घर लाया जाता है। कलश की विधिवत् पूजा की जाती है। इस पूजा के लिए एक विशेष बावली से जल लाया जाता है। परम्परा के अनुसार केवल 'भूंडा' यज्ञ के अवसर पर ही इस बावली में पानी भरता है। ऐसा माना जाता है कि यह जल गंगाजल के समान पवित्र है। पूजा के समय गाहरी कुलों के प्रतिनिधि उपस्थित रहते हैं। उनके सामने कलश की कुशा से पवित्र बावली के जल द्वारा अभिषेक किया जाता है। उसके उपरान्त अभिषिक्त व्यक्ति को परशुराम के सम्मुख ले जाया जाता है, जहां उसके मस्तक पर तिलक और पीठ पर केसर चन्दन से हाथ के पंजे का निशान लगाया जाता है।

त्रिगर्त—महाभारत में विभिन्न स्थलों पर कश्मीर से हरिद्वार और तिब्बत की सीमा से शिवालिक तक जिन जनपदों का उल्लेख हुआ है, उनमें त्रिगर्त, औदुम्बर, कुलूत (उलूत), किम्पुरुष, कीचक, मत्स्य और कुलिन्द उल्लेखनीय हैं।

त्रिगर्त जनपद स्पष्ट रूप से कांगड़ा राज्य है। त्रिगर्त शब्द तीन दूनों के क्षेत्र की ओर इशारा करता है। ये दूने सतलज, व्यास और रावी की घाटियां ही हैं। वैसे भी आज से सौ दो सौ वर्ष पहले तक कांगड़ा को त्रिगर्त कहा जाता था। कुल्लू कुलूत जनपद का आधुनिक नाम है। कुछ विद्वानों का मत है कि किम्पुरुष किन्नौर का इलाका, कीचक सतलज के बायें किनारे महलोग से रामपुर तक का क्षेत्र और मत्स्य जनपद कालका से रोहड़ू तक का इलाका था। कुलिन्द सतलज और यमुना के बीच का पहाड़ी

क्षेत्र था, जो अपने उत्थान के दिनों में व्यास से यमुना तक फैला था और जिसके अन्तर्गत बिलासपुर और महासू के भाग भी सम्मिलित थे।

महाभारत के सभा पर्व में अर्जुन की उत्तर दिशा की यात्रा का वर्णन है। राज्य-विस्तार के लिए अर्जुन ने पहले कुलिन्द देश के भूपालों को अपने वश में किया। तत्पश्चात् अन्तर्गिरी, उपगिरि और बहिर्गिरि पर विजय प्राप्त की। फिर उनके नरेशों को साथ लेकर उलूक पर हमला किया। तब वहां बृहन्त का शासन था। कतिपय अन्य राजाओं को जीतने के अनन्तर अर्जुन ने धवलगिरि को लांघ कर किम्पुरुष पर विजय-पताका फहराई।

त्रिगर्त के कई राजाओं का महाभारत में उल्लेख हुआ है। स्थानीय वंशावली के 234वें नरेश सुशर्मण ने महाभारत युद्ध में कौरवों का पक्ष लिया था। उसके चार भाई थे : सुरथ, सुधर्मा, सुधनु और सुबाहू। ये सभी युद्ध में मारे गए थे। इससे पूर्व कौरवों के कहने पर सुशर्मण ने मत्स्य नरेश विराट पर तब आक्रमण किया था, जब पाण्डव उसके पास अज्ञात वास का समय व्यतीत कर रहे थे। आक्रमण के लिए उसे उत्तर-पूर्व की ओर जाना पड़ा था। इस उद्धरण से अनुमान लगाया जा सकता है कि त्रिगर्त और मत्स्य पड़ोसी राज्य होंगे और मत्स्य राज्य के कालका और रोहड़ के बीच होने की स्थानीय परम्परा सत्य होगी। कहा जाता है कि हाटकोटी का क्षेत्र विराट की राजधानी था। यह भाग त्रिगर्त के ठीक उत्तर-पूर्व में है। राजस्थान का भरतपुर, अलवर का इलाका यदि मत्स्य जनपद रहा होता, तो वह त्रिगर्त से सैकड़ों मील दूर पूर्व-दक्षिण में स्थित था और बीच में अन्य शक्तिशाली जनपद थे। ऐसी अवस्था में त्रिगर्त के सुशर्मण को मत्स्यराज विराट पर आक्रमण करने के लिए कौरवों द्वारा प्रेरित किया जाना संभव नहीं मालूम होता है।

महाभारत में क्षेमंकर नाम के एक अन्य त्रिगर्तराज का जिक्र भी आता है जो सरस्वती नदी के किनारे काम्यक वन में पांडवों के हाथों मारा गया था। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के समय त्रिगर्त का राजा सूर्य वर्मा था। उसके, केतु वर्मा और धृत वर्मा, दो भाई थे। ऐसा संकेत मिलता है कि सूर्य वर्मा ने अश्वमेध के घोड़े को पकड़ा था। संभवतः तब त्रिगर्त जनपद का विस्तार काफी रहा होगा और ऊना, मंडी और सुकेत भी उसके भाग रहे होंगे। किन्तु ये सभी अपने-अपने खूंदों में विभक्त रहे होंगे। ईसा से छः-सात सौ वर्ष पूर्व पाणिनि ने अष्टाध्यायी में त्रिगर्त के देश को आयुधजीवियों का संघ कहा है। यहां सदा से छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। पाणिनि के अनुसार तब यहां छः संघ राज्य थे। काशिका में इन संघ राज्यों के नाम कौंडोपरथ, दांडकि, कौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि हैं। ब्राह्मगुप्त की पहचान आधुनिक भ्रमौर से की जा सकती है। अष्टाध्यायी में मंडमती शब्द संभवतः मंडी के लिए प्रयुक्त हुआ है। सुकेत प्राचीन सुकुट्ट ज्ञात होता है। सुकुट्ट का उल्लेख महाभारत के सभा पर्व में कुलिन्दों के साथ हुआ है। कुलिन्दों का जनपद सतलज से पूर्व की ओर लगता था।

त्रिगर्त क्षत्रिय संसप्तक या संशप्तक नाम से प्रसिद्ध थे। अमर ने वामलिंगानु-शासन कोश में लिखा है कि संशप्तक लोग समय करके युद्ध करते थे और युद्ध से पीठ फेर कर लौटते नहीं थे। वे छः सुप्रसिद्ध आयुधजीवियों में से थे। युद्धकला में वे अत्यन्त निपुण थे। ये गुण आज भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसीलिए यहां के डोगरा अपनी वीरता के लिए सारे संसार में विख्यात हैं।

त्रिगर्त में भृगुकुल में भार्गायण नाम का कोई इतना प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ है कि पणिनि ने उसके लिए एक सूत्र-विशेष की रचना की है।

अष्टाध्यायी से लगता है कि ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व से पांच सौ वर्ष पूर्व तक समूचे भारत में जनपदों का बोलबाला रहा। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदों का तांता लगा हुआ था। इन जनपदों की विस्तृत सूचियां भुवनकोश के नाम से संगृहीत हैं। महाभारत के भीष्म पर्व के नौवें अध्याय में लगभग 250 जनपदों का उल्लेख है। जैसा कि हम हिमाचल के सन्दर्भ में देख चुके हैं, ये सभी जनपद राजनीतिक, सांस्कृतिक भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से पृथक्-पृथक् स्वाभाविक इकाई थे।

पाणिनि ने पश्चिमी हिमालय के जनपदों का उल्लेख उदीच्य वर्ग के अन्दर किया है। उसके अनुसार इन पर्वताश्रयी जनपदों के दो समूह थे। एक समूह त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक फैला था, दूसरा सिन्ध से कापिशी-कम्बोज तक। त्रिगर्त से दार्वाभिसार तक के प्रदेश में त्रिगर्त, गब्दिका, युगन्धर, कालकूट, भरद्वाज, कुलूत, कुलिन्द आदि जनपद थे। इनमें से अधिकांश हिमालय क्षेत्रीय थे।

त्रिगर्त तो यहां का विशालतम एवं प्रमुख जनपद था ही, गब्दिका भी निश्चयात्मक रूप से चंबा का गद्दी प्रदेश था। तब यह इलाका आर्यावर्त की सीमा से बाहर माना जाता था, अतः यहां के निवासियों को निरवसित (देश से बाहर) कहा गया है।

देश के अन्य जनपदों की भांति ये जनपद भी मौर्य शासन के प्रारम्भिक दिनों तक स्वतन्त्र रहे। बाद में इनमें से बहुत सारे मौर्य साम्राज्य के अंग बन गए। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पर्वत प्रदेश के एक राजा पर्वतक के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया था, जो इन जनपदों में से किसी एक का राजा रहा होगा। चन्द्रगुप्त के प्रति नीति के प्रश्न पर संभवतः ये जनपद विभक्त थे। एक पक्ष उसके समर्थन के हक में था, दूसरा उसके प्रति विरोधात्मक नीति अपनाना चाहता था। दूसरे पक्ष में कुल्लू और कश्मीर राज्य रहे होंगे, क्योंकि कुल्लू के चित्रवर्मा और कश्मीर के पुष्कराक्ष ने सक्रिय रूप से चन्द्रगुप्त का विरोध किया था।

राज्य सुदृढ़ हो जाने के उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने लद्दाख, लाहुल, स्पिति और किन्नर प्रदेश सहित सारे हिमाचल को अपने आधिपत्य में ले लिया था। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि नेपाल से लेकर कश्मीर तक का सारा हिमालय भूखंड अशोक के साम्राज्य का भाग था, जबकि अशोक ने स्वयं केवल कलिंग देश को जीता था। मौर्य सम्राट इन सीमान्त प्रदेशों में विशेष रुचि लेते रहे। अशोक ने कालसी में

शिलालेख लिखवाया और कुल्लू में एक स्तूप बनाया। सातवीं शताब्दी में भारत आने वाले चीनी यात्री युवान च्वांग ने इस स्तूप का जिकर किया है। हाल की खोजों से मालूम होता है कि अशोक ने आचार्य माजिम थेर को चार सहयोगियों के साथ इस प्रदेश में धर्म-प्रचार के लिए भेजा था। आचार्य थेर के सहयोगी कस्सपगोत, दुन्दभिसर, सहदेव तथा मूलकदेव थे। महावंश के अनुसार इन्होंने पांच राज्यों में धर्म-प्रचार किया। संभावना यह है कि इन प्रचारकों का कार्यक्षेत्र सतलज और व्यास के बीच की भूमि रही होगी। कुल्लू (कुलूत) तब काफी महत्त्वपूर्ण जनपद रहा होगा, क्योंकि अशोक के स्तूप के लेखानुसार स्वयं भगवान बुद्ध अपने शिष्यों के साथ यहां धर्म-प्रचार के लिए आए थे।

सन् 185 ईसा पूर्व में मौर्य साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। दूर-दूर के भाग पृथक् हो चुके थे। मगध में मौर्य वंश के अन्तिम नरेश वृहद्रथ को उसीके सेनापति पुष्य-मित्र ने कुछ वर्ष पहले मार डाला था। जब पुष्यमित्र अपने शासन को सुव्यवस्थित करने में लगा था, तो भारत की पश्चिमी सीमा पर ग्रीक यवन सक्रिय हो रहे थे। दिमेत्र पंजाब तक आ गया था और उसने मद्र देश की राजधानी शाकल (स्यालकोट) पर अधिकार कर लिया था।

जातीय सम्मिश्रण—मौर्य साम्राज्य के पतन तथा गुप्त साम्राज्य के उत्थान के बीच की पांच-छः शताब्दियों में एक अद्भुत जातीय सम्मिश्रण हुआ। सहस्राब्दियों के उपरान्त एक बार पुनः देशज और नवागन्तुक जातियों के बीच संघर्ष चला, किन्तु थोड़े समय के उपरान्त उनमें सौहार्द्र बढ़ा। फलस्वरूप सम्पूर्ण समाज का ढांचा ही बदल गया। नये मानदंड स्थापित हुए, नई मान्यताएं बनीं। समाज-व्यवस्था बदली, राजनीतिक प्रणाली में कुछ परिवर्तन आया। बौद्धिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन में फेर-बदल हुआ। समाज ने वह स्वरूप धारण किया जो आज भी कायम है। इसी अवधि में पुराने चले आए जनपद अधिक शक्तिशाली बने। त्रिगर्त, औदुम्बर, कुल्लू, बुशैहर तथा कुलिन्द जनपदों में नई स्फूर्ति आई।

ईसा पूर्व पहली शताब्दी में शकों ने पश्चिमोत्तर भारत को कई प्रतापी वंश दिये। शंकों से पूर्व ग्रीक यवन आ चुके थे। इन्हें भारतीय समाज ने अपने में पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया था। बौद्ध मत के प्रसार में इन्होंने बड़ा काम किया। स्वयं महाराजा मिलिन्द बौद्ध धर्म का अनुयायी था। आज भी मिलिन्द पन्ह नामक पुस्तक प्राप्त है जिसमें मिलिन्द द्वारा बौद्ध मत के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है।

शकों के पश्चात् कुषाणों और पल्लवों का आगमन हुआ। शक अथवा त्रुशुक संभवतः हजारों वर्ष पहले आए खशों की ही पीछे रही कोई शाखा थी, अतः जब वे इस क्षेत्र में आए तो यहां के जनजीवन में आसानी से घुलमिल गए।

कनिष्क—कनिष्क शकों का महान् सम्राट् था। शक शासन उस समय काबुल, गान्धार, मध्य एशिया, सिन्ध, कश्मीर तथा मध्य प्रदेश तक था। हिमाचल का पहाड़ी क्षेत्र भी कनिष्क के मंडलेश्वरों के अधिकार में था। कनिष्क बौद्धों का उतना ही आदर

करता था, जितना अशोक। उसी के शासन-काल में 100 ई० के लगभग बौद्धों की चतुर्थ परिषद, जिसे संगीति कहा जाता है, आयोजित हुई थी। इसी संगीति में पहली बार बौद्ध धर्म की पुस्तकों के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग स्वीकार किया गया था। तब तक सारे बौद्ध ग्रन्थ पाली भाषा में हुआ करते थे। कनिष्क ने बौद्ध पिट्कों पर भाष्य लिखाये, और सुत्तपिटक भाष्य, विनाविभाषा तथा अभिधर्म विभाषा उसी के शासन-काल में लिखे गये। अभिधर्म विभाषा का संकलन तो चतुर्थ संगीति में ही हुआ था।

कतिपय इतिहासकारों का मत है कि संगीति की बैठक कश्मीर में हुई थी, किन्तु विद्वानों की एक बड़ी संख्या यह मानती है कि बैठक वस्तुत: त्रिगर्त के जालन्धर प्रान्त में 'कुवन विहार' में हुई थी। त्रिगर्त के क्षेत्र को बौद्धों की इस महान परिषद का आतिथ्य करने का सौभाग्य मिला, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अशोक द्वारा आयोजित तीसरी संगीति के तुरन्त पश्चात् से कांगड़ा और कुल्लू बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण केन्द्र चले आ रहे थे। इन दोनों जनपदों में बहुत बड़े विहार थे, जिनमें सैकड़ों भिक्षु निवास करते थे। कांगड़ा के विहार में तो सातवीं शताब्दी में युवान च्वांग ने आचार्य चन्द्रवर्मा के पास चार महीनों तक बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन और अनुशीलन किया था।

राणा—हिमाचल प्रदेश में शक भीतरी भागों तक गए होंगे, इसका अनुमान निरत और शुभ के सूर्य मन्दिरों और कांगड़ा की सूर्य प्रतिमा से लगता था। वैसे भी शकों-कुषाणों का शासन मंडलेश्वरों की पद्धति पर आधारित था। शक-कुषाण नेताओं अथवा सरदारों को मंडलों का शासक नियुक्त किया जाता था। मंडी में सलानू के शिलालेख का वत्सकुल का चंडहस्तिन कोई शक-कुषाण मंडलेश्वर ही होगा जिसने स्थानीय शासक रज्जिल बल को परास्त कर अपना राज्य स्थापित किया था। ऐसा दीखता है कि हिमाचल का बड़ा क्षेत्र इन शक-कुषाण मंडलेश्वरों के अधिकार में रहा होगा। शक सत्ता के ह्रास पर ये मंडलेश्वर पुरातन काल से चले आए खूंदों और जनपदों के प्रतिनिधियों में ही घुलमिल गए हों और फलस्वरूप इस प्रदेश को शासकों का वह वर्ग दे गए हों, जिन्हें राणा कहा जाता है। शक-कुषाण नवागंतुक मंडलेश्वर कालोपरान्त राणा कहलाए और उनके मंडल राहणू। प्राचीन खूंद ठकुराइयां कहलाए और उनके शासक ठाकुर। इस बात की पुष्टि कुल्लू की मुद्रा और औदुम्बरों के सिक्कों से होती है। राणा शब्द का व्यवहार हमें सर्वप्रथम औदुम्बर जनपद के सिक्कों में हुआ मिलता है। इस जनपद की ईसा पूर्व पहली शताब्दी की तांबे और चांदी की मुद्राओं पर 'विजय रानो वेमकिस रूद्रवमस' अंकित है। दूसरा प्राचीन उल्लेख कुल्लू के वीरयस राजा की मुद्रा में हुआ है, जो अनुमानत: ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी की है। इस मुद्रा में ब्राह्मी लिपि में लिखे 'राजन: कूलूतस्य वीरायसस्यि' के साथ खरोष्ठी लिपि में 'राणा' शब्द भी लिखा मिलता है।

अत: हम कह सकते हैं कि राणा वे यवन, शक, कुषाण और पल्लव सरदार थे जिन्हें सजातीय राज्यों के दिनों में मंडलेश्वर का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। एक

विशेष बात यह है कि राणाओं का उल्लेख केवल उन्हीं प्रदेशों में है, जो कभी शक-कुषाण राज्यों के भाग थे। पश्चिमी पाकिस्तान में हजारा में वर्तमान काल तक राणाओं का जिकर होता रहा है। हिमाचल प्रदेश में तो आज भी अनेक राणाओं के वंशज विद्यमान हैं। उस काल में कहीं तो उन सरदारों ने नए मंडल स्थापित किए, किन्तु बहुधा पहले से चले आए खूंदों अर्थात् ठकुराइयों पर ही अधिकार कर लिया। ये मंडल ही आगे चल कर राहणू कहलाये और ठाकुरों के खूंद ठकुराइयां बनीं। सहस्रों वर्षों तक राणा-ठाकुर संघर्ष इस बात का प्रमाण है कि आरम्भ में मंडलेश्वर राणाओं ने ठाकुरों को अपनी ठकुराइयों से वंचित किया था।

इस प्रदेश के जनपद ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से अपनी संभावनाओं के अनुरूप विकसित होने लगे थे। जब पश्चिम से विदेशी शासकों ने उन्हें अपने अधीन करना चाहा, तो जनपद-निवासियों ने वैसा ही तीव्र संघर्ष किया, जैसा हजारों वर्ष पूर्व नाग कर चुके थे, अन्तर केवल यह था कि भूत में शासन की इकाई खूंद छोटा था और अपनी सुरक्षा करने में प्रायः असमर्थ था, जबकि उत्तर मौर्यकाल तक आते-आते ये प्रशासनिक इकाइयां बड़ी बन गईं और जनपद काफी शक्तिशाली हो गए। बाह्य शक्तियों के साथ संघर्ष में कुछ जनपद तो समाप्त हो गए, किन्तु जो बचे रहे उन्होंने केवल आधिपत्य मान अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रखी। एक ध्यान देने वाली बात यह है कि इन जनपदों की सीमायें स्थायी नहीं थीं, वे बदलती रहती थीं। हां, जनपदों की मूल इकाई, खूंद की सीमायें सामान्यतः अपरिवर्तनीय थीं, क्योंकि ये छोटे-छोटे होते थे। नदी, नाले, पर्वत और धारें सीमा का निर्धारण करते थे। खूंदों की सीमा कई बार दो नाले अथवा नदी या धारों की छोटी-मोटी शृंखला बनाती थी।

औदुम्बर—ईसवी सन् के आरंभ में इस प्रदेश में त्रिगर्त सक्षम जनपद था। इसके अतिरिक्त औदुम्बर और कुलिन्द गणराज्य काफी महत्त्वशाली बन गए थे। अपने वैभव काल में औदुम्बर जनपद की सीमा के अन्तर्गत होशियारपुर, गुरदासपुर, हमीरपुर और ऊना के क्षेत्र थे। चंबा गब्दिका का भाग था और व्यास उपत्यका में कुल्लू और मंडी, कुलूत में थे। महाभारत काल का कीचक जनपद बुशैहर एकराज में अन्तर्मुक्त हो गया था, जबकि मत्स्य क्षेत्र कुलिन्द में समा गया था।

संस्कृत साहित्य के अनुसार औदुम्बर गणराज्य कुलूत और कुनिन्दों अथवा कुलिन्दों के निकट था। इसका दक्षिणी पड़ोसी पूर्व मद्र देश था। स्यालकोट का इलाका सत्रहवीं शताब्दी तक मद्र देश के नाम से जाना जाता रहा है। राजन्य समूह में पाणिनि ने औदुम्बर का जिकर किया है। काफी अर्से तक इस पर विवाद होता रहा कि औदुम्बर संघ कहां स्थित था। महाभारतकार औदुम्बरों को उत्तर का निवासी मानता है, किन्तु बृहत्संहिता में उन्हें मध्य देश का बताया गया है। चन्द्रवर्ती में औदुम्बरों का उल्लेख मद्रों के साथ हुआ है, और काशिकावृत्तिकार औदुम्बर देश को उदेम्बर वृक्षों से भरा मानता है।

अब इतिहासकार इस बात पर सहमत हो गए हैं कि औदुम्बर व्यास और

रावी की घाटी में स्थित था। इसकी पुष्टि पठानकोट, नूरपुर और हमीरपुर में प्राप्त औदुम्बर मुद्राओं से भी होती है।

औदुम्बर विख्यात योद्धा शल्वों की छः उपजातियों में से एक थे। वे अपने आपको विश्वामित्र के वंशज मानते थे। प्राप्त सामग्री के अनुसार उनकी राजधानी गुरदासपुर के निकट व्यास में मिलने वाली नदी के किनारे थी। ईसा से दो शताब्दियों पहले और एक शताब्दी बाद के तीन सौ वर्षों के बीच के समय की इस गणराज्य की कुछ मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं, जिनसे पता लगता है कि औदुम्बर शैव थे, क्योंकि सभी पर महादेव भगवान शिव की आकृति अंकित है। यहां तक कि जब औदुम्बर शासकों ने मथुरा के राजा उत्तमदत्त को पराजित किया, तो उसके सिक्कों के ऊपर भी महादेव की छाप अंकित की। कुछ एक सिक्कों पर प्राकृत भाषा में भागवत महादेवस्य राजर्यस्य लिखा हुआ है। मुद्रा चलाने वाले राजाओं में दहरघोष, शिवदास और रुद्रदास का नाम आता है। ये सभी राजा सार्वभौम रहे होंगे, तभी उन्होंने अपनी मुद्राएं चलाईं। मुद्राओं की एक ओर घेरे में वृक्ष तथा हाथी की आकृति के साथ महादेव रानों की उपाधि सहित खरोष्ठी लिपि में राजा का नाम है। दूसरी ओर ब्राह्मी लिपि में राजा का नाम है।

चांदी की मुद्राओं पर यवन प्रभाव है। इनमें से एक पर 'महादेवस राजा घरघोषस औदुम्बरिस' लिखा है तो दूसरी पर 'विजय रानों वेमकिस रुद्रवर्मन' है। इनके अतिरिक्त राजो अजमितस और महिमित्र, भानुमित्र तथा महाभूति मित्र की मुद्रायें भी प्राप्त हुई हैं।

इन मुद्राओं से मालूम पड़ता है कि इस लम्बी अवधि में औदुम्बर पर तीन वर्ग के शासकों का प्रभुत्व रहा। आरम्भ में इस संघ के नेता शिवदास, रुद्रदास आदि रहे होंगे। उनके पश्चात् घरघोष, और रुद्रवर्मन का पृथक् वंश आया होगा। घरघोष संभवतः मिलिन्द के समान योनक अर्थात् यवन रहा होगा। ईसा पूर्व पहली शताब्दी के अन्त में एक नए वंश ने जोर पकड़ा होगा, जिसमें अभिमित्र, महिमित्र, आर्यमित्र, भानुमित्र और महाभानु मित्र राजा उल्लेखनीय हैं। संभवतः मित्र राजा शक कुषाण होंगे। ईसा की पहली शताब्दी ही कनिष्क का राज्यकाल थी। धर्म के क्षेत्र में यह युग अत्यन्त उदारता का था। कनिष्क का पूर्वज कुजुलकसस बौद्ध था, किन्तु उसका उत्तराधिकारी कुजुलकसस द्वितीय शैव था। कनिष्क की मुद्राओं पर शिव, बुद्ध, सूर्य तथा अग्नि की आकृतियां हैं। संघ में सबको धार्मिक स्वतन्त्रता थी। औदुम्बर राजधानी बौद्धमत का बड़ा केन्द्र थी।

गुप्त काल में यह संघ अपना अस्तित्व खो बैठा। उत्तर गुप्त काल में त्रिगर्त ने इस ऐतिहासिक संघीय जनपद का क्षेत्र अपने राज्य में मिला लिया, जिससे उसकी दक्षिणी सीमा एक बार फिर जालन्धर तक पहुंच गई। हर्ष के काल तक यहां त्रिगर्तों का प्रभुत्व रहा, किन्तु सन् 727 के आसपास जब कोरियाई यात्री ह्यी-चो जालन्धर से गुजरा, तब मध्यप्रदेश का यशोवर्मन और कश्मीर का ललितादित्य इस प्रान्त पर

आंख गड़ाए बैठे थे। उनके दवाब के कारण राजा को पहाड़ों पर जाकर शरण लेनी पड़ी। ह्यी-चो का इशारा प्रान्तीय शासक की ओर होगा, क्योंकि उसके अनुसार राजा के पास कुल एक सौ घोड़े थे। और सरदारों के पास तीन से पांच सौ तक घोड़े थे। त्रिगर्त राज की इतनी दुर्दशा का उल्लेख अन्यत्र नहीं। यद्यपि जालन्धर प्रान्त पर संकट था, किन्तु कांगड़ा प्रान्त तो उसके पूर्ण अधिकार में था, जहां से उसे पर्याप्त मात्रा में माल, धन प्राप्त हो सकता था।

कुलिन्द—औदुम्बरों के पौर्वात्य पड़ोसी कुलिन्द महाभारत काल से अपना अस्तित्व बनाए हुए थे। मौर्य काल में कुछ समय के लिए यह संघीय जनपद अपनी पृथक् सत्ता खो बैठा था, किन्तु उपयुक्त अवसर पर यह पुन: जीवित हो गया था।

कुलिन्द, जिसे कुनिन्द भी कहा जाता है, अपने उत्कर्ष के दिनों में दूर तक फैला था। तब यह संघीय जनपद शिवालिक क्षेत्र में पूर्व में टोंस से लेकर पश्चिम में व्यास तक था। इसके पश्चिम में त्रिगर्त और कुलूत जनपद थे, दक्षिण में अम्बाला, सहारनपुर और सुगह नगर। पूर्व में गढ़वाल इसकी सीमा बनाता था। तब नालागढ़, बिलासपुर, निचला महासू और सिरमौर इसके अन्तर्गत थे।

महाभारत के अलावा बृहत्संहिता और पुराणों में भी इस जनपद का ज़िकर आता है। यहां के शासक अन्य पहाड़ी राजाओं की तरह महाभारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़े थे। पाणिनि ने कुलिन्दों को क्षत्रियों की श्रेणी में रखा है। विद्वानों के एक वर्ग का यह भी मत है कि कुल्लू, मंडी, महासू और सिरमौर के कनैत संभवत: इन्हीं कुलिन्दों की सन्तान हैं।

अभी तक केवल दो कुलिन्द शासकों की मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। ये मुद्रायें ज्वालामुखी, हमीरपुर से लेकर अम्बाला, सहारनपुर और गढ़वाल तक मिली हैं, जिससे इस गणराज्य की सीमा-विस्तार का कुछ अन्दाजा हो सकता है। त्रिगर्त में हमीरपुर और ज्वालामुखी कुलिन्द के भाग न रहे हों और वहां मुद्रायें उनके प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र होने के कारण मिली होंगी।

इन मुद्राओं से हमें अमोधभूति और छत्रेश्वर नामक दो संघाधिपतियों का पता चलता है। अमोधभूति ने अपने आपको महाराजा की पदवी से विभूषित किया है। यह माना जाता है कि ईसा पूर्व पहली शताब्दी में अमोधभूति ने कुलिन्द देश को यवनों से मुक्त कराया। इस विजय के उपलक्ष्य में उसने अपने सिक्के चलाए थे। इसकी इन मुद्राओं पर खरोष्ठी लिपि में 'राज्ञौ कुणिदस अमोधभूति महरजस' या 'अमोधभूतस महरजस राज्ञकुणदस' लिखा है।

छत्रेश्वर के सिक्के कुषाण शैली के हैं। उन पर शिव की आकृति है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि अमोधभूति के पश्चात् कुछ समय के लिए कुलिन्द पर शकों-कुषाणों का आधिपत्य हुआ होगा, जिनसे मुक्ति छत्रेश्वर ने दिलाई हो। छत्रेश्वर अपने को महात्मन् और भागवत कहलाता था। उसके सिक्कों पर आर्य युद्ध देवता कीर्तिकेय की मूर्ति है। यौधेय सिक्कों से मिलान करने पर प्रतीत होता है कि पंजाब

और हिमाचल के शिवालिक भाग से विदेशी आक्रान्ताओं को खदेड़ने में कुलिन्दों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा।

कुछ विद्वानों का मत है कि अमोधभूति और छत्रेश्वर दो विभिन्न जातियों के नायक थे। उन दोनों के मध्य दो-तीन शताब्दियों का अन्तर है।

समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में कुलिन्दों का उल्लेख नहीं है, जिससे मालूम होता है कि उन्हें चन्द्रगुप्त पहले ही अपने राज्य में मिला चुका था। एक-दो इतिहासकार यह भी कहते हैं कि कुलिन्दों को कुलूतों ने निर्णयात्मक हार दी, और थोड़े समय के उपरान्त वे स्वयं गुप्तों से पराजित हो गए। जो भी हो, गुप्तकाल में इस गणराज्य का अन्त हो चुका था। उसका प्रदेश छोटे-छोटे टुकड़े हो बिखर गया, जिससे आगे चलकर दर्जनों राज्य और सैंकड़ों ठकुराइयां बनीं।

कुलिन्द संघ को तो चन्द्रगुप्त ने ही गुप्त राज्य का अंग बना दिया था, किन्तु त्रिगर्त और औदुम्बर पर गुप्त आधिपत्य चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने स्थापित किया था। विक्रमादित्य इन प्रदेशों के राजाओं से वैसे भी रुष्ट था, क्योंकि उनमें से शुकराज ने उसके बड़े भाई रामगुप्त की महारानी ध्रुवस्वामिनी (ध्रुवदेवी) को अपनी रानी बनाने का प्रयत्न किया था। विशाखदत्त ने देवीचन्द्रगुप्तम् में इस घटना की चर्चा की है। ध्रुवस्वामिनी की मानरक्षा चन्द्रगुप्त को उसका भेष बनाकर करनी पड़ी थी।

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि त्रिगर्त और औदुम्बर शासकों ने समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त गुप्तों का आधिपत्य स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। इस पर समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी रामगुप्त एक विशाल सेना लेकर इन विद्रोहियों को दबाने के लिए निकल पड़ा था, किन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी वह इन पहाड़ी राजाओं के सुरक्षात्मक व्यूह को नहीं छेद सका। भारी सैनिक हानि उठाकर रामगुप्त पीछे हटने पर बाध्य हुआ। परिस्थितियों को अपने अनुकूल देख शकराज और उसके सहयोगियों ने गुप्त सेना का पीछा किया। रामगुप्त ने अपने परिवार सहित एक गढ़ में शरण ली। सेना अलग थी और सम्राट् अपने परिवार और थोड़े-से सैनिकों के साथ अपरिचित गढ़ में था। सामरिक दृष्टि से रामगुप्त की यह बहुत बड़ी भूल थी। अपनी मुक्ति के लिए उसे यह शर्त माननी पड़ी कि ध्रुवस्वामिनी तथा राजपरिवार की अन्य स्त्रियों को वह शकराज के हवाले कर दें।

इस विकट स्थिति में राजकुमार चन्द्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी का भेष धारण कर शकराज का उसके ही शिविर में वध किया था। राजसत्ता संभालने पर उसने समूचे प्रदेश को अपने प्रभुत्व में ले लिया था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी समुद्रगुप्त की सीमान्त नीति का अनुसरण किया। जिन राज्यों को शस्त्रों से जीता, उन्हें अपने साम्राज्य में अन्तर्भुक्त कर लिया; जिन राजाओं ने आधिपत्य स्वीकार किया, उन्हें तथा उनके राज्यों को पूर्ववत् रहने दिया। जहां कहीं सीमान्त प्रदेश में उसने अपने सैनिक एवं राजनीतिक प्रतिनिधि भी प्रशासक के तौर पर नियुक्त किये थे।

निर्मंड ताम्रपत्र—इस सन्दर्भ में हिमाचल के प्राचीनतम ताम्रपत्र से कुछ सहायता मिल सकती है। निर्मंड का यह ताम्रपत्र अनेक रोचक विकल्प प्रस्तुत करता है। परम्परा इस ताम्रपत्र को विक्रमादित्य प्रदत्त मानती है, किन्तु पत्र पर गुप्तों का ज़िकर तक नहीं है। इस ताम्रपत्र द्वारा महासामन्त महाराजा समुद्रसेन ने शूलिशग्राम और उससे संलग्न ऊपर, जोहड़ भूमि तथा जंगल निर्मंड के अथर्ववेदी ब्राह्मणों को अग्राहार के रूप में अनन्त काल तक के लिए दिये जिससे उसकी माता परमदेवी महाभट्टारिका मिहिरलक्ष्मी का कपालेश्वर मंदिर में मिहिरेश्वर की पूजा का धार्मिक उद्देश्य पूरा होता रहे। लेख के अनुसार कपालेश्वर मंदिर को महाराजा सर्वबर्मन ने बनाया था, किन्तु उसमें मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना परमदेवी मिहिरलक्ष्मी ने की थी।

महासामन्त महाराजा समुद्रसेन रविसेन का पुत्र था, रविसेन संजयसेन का और संजयसेन वरुणसेन का पुत्र था। रविसेन, संजयसेन और वरुणसेन सभी महासामन्त महाराजा थे। इस प्रकार इस ताम्रपत्र में चार महासामन्त महाराजा और एक केवल महाराजा का उल्लेख हुआ है।

अब ये महासामन्त कौन थे, कहां के थे और कब थे, ताम्रपत्र से कुछ पता नहीं चलता है। उसमें न तो इन महासामन्तों महाराजाओं के राज्य का नाम दिया है और न संवत्सर ही है। दानपत्र की तिथि शुदी दस, वैसाख मास, सम्वत् छः है। यह सम्वत् छः कौन-सा है, इसकी केवल कल्पना की जा सकती है। इसी अनिश्चितता के कारण कन्निघम इस ताम्रपत्र को बारहवीं शताब्दी का मानता है और दानकर्ता मंडी के राजाओं को। अपना मत सिद्ध करने के लिए कन्निघम ने राजाओं के नाम तक उलट-पुलट दिये हैं। त्रिपाठी का कहना है कि लेख हर्षकालीन है। भंडारकर समझते हैं कि यह ताम्रपत्र स्पिति के सेन वंश ने दिया है, जो जालन्धर के अधीन था। डा० फ्लीट भाषा और शैली को ध्यान में रखते हुए इसे सातवीं शताब्दी का मानते हैं और कहते हैं कि यह सेन वंश स्पिति का था। ये सभी मत संभावनायें ही हैं, निश्चयात्मक ढंग से अन्य सम्बन्धित सामग्री मिलने पर ही कहा जा सकता है।

एक तथ्य की ओर इन विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। जहां ताम्रपत्र में उल्लिखित महासामन्त महाराजा सेनवंशीय है, वहां महाराजा वर्मन कुल का है। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में लिखा है कि कुल्लू का महाराजा चित्र वर्मन, नन्द के मुख्य मंत्री राक्षस के उन पांच म्लेच्छ सहायकों में से था जिन्होंने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का विरोध किया था। क्या यह संभव है कि मौर्य काल में कुल्लू में कोई वर्मन वंश शासन करता था और निर्मंड के ताम्रपत्र में चर्चित सर्ववर्मन उसी वंश का राजा रहा हो? भ्रमौर में भी पांचवीं-छठी शताब्दी से एक वर्मन वंश का उल्लेख है जो चम्बा में सोलहवीं शताब्दी तक शासन करता रहा। उस वंश की वंशावली में सर्ववर्मन का नाम नहीं है। दसवीं शताब्दी में कीर के आक्रमण को रोकने में चम्बा नरेश साहिल वर्मा की सहायता त्रिगर्त और कुल्लू के राजाओं ने की थी। साहिल वर्मा के ताम्रपत्र में चम्बा

और कुल्लू के राजाओं को स्वकुल्य कहा गया है। स्पष्टतः दोनों राजा एक ही कुल के थे, और यह कुल वर्मन था।

यदि साहिल वर्मा के ताम्रपत्र और बिशाखदत्त के मुद्राराक्षस की साक्षी ली जाए तो कुल्लू और भ्रमौर में ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से कोई वर्मन वंश अधिपति होना चाहिए। दोनों प्रदेशों के राजा एक ही कुल के वंशज रहे होंगे तभी यह संभव हुआ होगा। किन्तु इसमें एक प्रमुख अड़चन यह आ जाती है कि वर्मन नामधारी राजा मुख्यतः शक हुए हैं और शक मौर्यकाल में भारत में आए ही नहीं हैं। इसलिए कुल्लू के चन्द्रगुप्त विरोधी राजा का कोई और नाम होगा। विशाखदत्त ने चन्द्रगुप्त के काल से लगभग एक हज़ार वर्ष बाद अपना नाटक लिखा। अतः इस बात की पूरी संभावना है कि नाटककार ने कुल्लू राजा के नाम लिखने में गलती की हो।

जहां तक चम्बा और निर्मंड के ताम्रपत्र हैं, उनका लेख सर्वथा मान्य है। इन दोनों ताम्रपत्रों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से चम्बा, लाहुल, स्पिति, कुल्लू और बुशैहर अर्थात् हिमाचल के सुविस्तृत उत्तर और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में शक वर्मनों का राज्य था। इसकी पुष्टि बुशैहर के किन्नर क्षेत्र में मिली ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों की कब्रों से हो जाती है। इन कब्रों में मृत शरीर के साथ दैनिक जीवन की वस्तुएं भी रखी मिली हैं। इस प्रकार की कब्रों का प्रचलन भारत-प्रवेश के समय शकों-कुषाणों में था। संभवतः यही कारण है कि हिमाचल प्रदेश के इस उत्तरार्द्ध में राणाओं और राहुणुओं की अधिकता है। प्रदेश के दक्षिणार्द्ध में त्रिगर्त, औदुम्बर और कुलिन्द के शक्तिशाली जनपद थे किन्तु उत्तरार्द्ध में इन शक-कुषाणों को रवूंद स्वामी ठाकुरों को अधिक संख्या में अपदस्थ करने में सफलता मिली हो।

इस आधार पर हम कह सकते हैं कि चम्बा भ्रमौर का पन्द्रह-सोलह सौ वर्षों तक निरन्तर राज करने वाला वंश शक है। निर्मंड के कपालेश्वर मंदिर का निर्माता सर्ववर्मन भी स्पिति का शक राजा ही होगा, जिसके वंश को चौथी-पांचवीं शताब्दी में सेन वंश ने पदच्युत कर दिया था।

प्रश्न यह रह जाता है कि ये महासामन्त महाराजा समुद्रसेन और उसके पूर्वज कौन थे ? शकराज सर्ववर्मन निर्मित कपालेश्वर मंदिर में ही सेनवंश की परमदेवी मिहिरलक्ष्मी द्वारा अपने इष्टदेव मिहिरेश्वर की मूर्ति की स्थापना यह जाहिर करती है कि ये दोनों वंश सहजातीय होंगे। क्या शूलिशग्राम और शूलपाणि मन्दिर से यह संभावना नहीं उत्पन्न होती कि शूलिशग्राम के दानकर्ता शूलिक राजा ही हों ? शूलिक अनुमानतः हूणों से पहले किन्तु शक, कुषाण और पल्लवों के पश्चात् भारत में आए। वे शकों, कुषाणों के ही सहजातीय लोग थे। ये सभी जातियां पूर्णरूपेण हिन्दू समाज के अभिन्न अंग बन चुकी थीं। शिव का शूलपाणि रूप कुषाणों को प्रिय था, अतः संभव है कि शूलिशग्राम शूलिश जाति की बस्ती और शिवशूलपाणि और कपालेश्वर उनके अराध्य देवता रहे हों।

स्पिति के सेन वंशीय राजा राजेन्द्र सेन ने सन् 600 के लगभग कुल्लू पर आक्रमण कर उसे अपने राज्य में मिला लिया था। पचास वर्षों तक कुल्लू पर इस वंश का अधिकार रहा। निर्मंड ताम्रपत्र में राजेन्द्र सेन का उल्लेख नहीं है। सन् 650 के लगभग कुल्लू के राजा ने स्पिति-नरेश चेतसेन को रटांग दर्रे के निकट हराया। उसके कुछ वर्षों बाद लद्दाख और कुल्लू के राजाओं ने मिलकर चेतसेन को पराजित किया। उसे जागीर दी गई, और स्पिति के तीन ग्राम कुल्लू को मिले, शेष भाग लद्दाख के हिस्से में आया। इस प्रकार सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पिति में इस सेन वंश के शासन का अंत हुआ। यदि ये तिथियां ठीक हैं, तो समुद्रसेन का काल सन् 600 से पूर्व का होना चाहिए। बाद के पचास-साठ वर्षों में तो छः सेन हो नहीं सकते। इससे जाहिर है कि निर्मंड का ताम्रपत्र चौथी-पांचवीं शताब्दी का है। कम से कम वह सातवीं शताब्दी का नहीं हो सकता। अनुमानतः वरुणसेन सेन वंश का संस्थापक था। ताम्रपत्र के अनुसार उसने अनेक सामन्तों को अपने अधीन किया था।

इस क्षेत्र में सामन्तों का यह सर्वप्रथम उल्लेख है। आठवीं शताब्दी में तो चम्बा में राजा मेरुवर्मन के किसी अषाढ़ नामक सामन्त का अभिलेख प्राप्त है, जिसमें उसने एक मंदिर-निर्माण की चर्चा की है।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति में सामन्त शब्द दो ग्रामों के सीमा-विवाद को सुलझाने वाले व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है। जातकों के अनुसार सामन्त का अर्थ पड़ोसी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामन्त पड़ोसी खेतिहार है। अशोक के अभिलेखों में इसका व्यवहार पड़ोसी राजा के लिए हुआ है। ईसा की पांचवीं शताब्दी तक आते-आते सामन्त का प्रयोग अधीनस्थ राजा के लिए होने लगा था। कालिदास ने रघुवंश में सामन्त उस पड़ोसी राजा को कहा है, जिसे अधीनस्थ कर लिया गया हो।

महासामन्त शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग गुप्त सम्राटों के गुनेधर (507 ई०) ताम्रपत्र में हुआ है। यों सन् 482 में सेन्द्रक निकुम्भाल्लशक्ति के कसेरे पत्र में राज सामन्त विषय भौगिक का उल्लेख है। कदम्ब राजा कृष्णवर्मन को भी देवगिरि पत्र में सामन्तराज विशेषरत्न कहा गया है। गुनधर के पत्र में महाराज श्री महासामन्त विजयसेन का नाम है जो महा प्रतिहार, महासेनापति, महापीलूपति और पंचाधिकरणोपरिक (पांच जिलों का प्रशासक) था।

स्पिति के सेन राजाओं की महासामन्त उपाधि से दो संभावनायें सामने आती हैं। ये महासामन्त गुप्त साम्राज्य के अन्य महासामन्तों की तरह सम्राट् द्वारा नियुक्त सैनिक और प्रशासनिक अधिकारी हो सकते हैं, जिन्होंने मगध का नियंत्रण ढीला हो जाने पर अपने नाम से दानपत्र देने आरम्भ कर लिए। दूसरी संभावना यह कि ये राजा पहले स्वतंत्र रहे हों, किन्तु गुप्तों की शक्ति को देख उन्होंने नाम मात्र गुप्त प्रभुत्व स्वीकार कर लिया हो। महाराजा तो वे थे ही, महासामन्त की उपाधि उन्होंने यह प्रदर्शित करने के लिए धारण की हो, कि गुप्तों का बलशाली साम्राज्य भी उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखता है और उन्हें पड़ोसी राज्य स्वीकार करता है। उस युग में जब

अनेक राज्य गुप्तों ने समाप्त कर दिए हों, तथा उतने ही राजाओं को अपना करदाता बनाया हो, पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखना वस्तुत: गौरव की स्थिति रही हो। अत: यह कह सकते हैं कि स्पिति का यह सेन वंश शूलिकों का था और गुप्त साम्राज्य उसे पड़ोसी राज्य मानता था, यही कारण है कि ताम्रपत्र में गुप्तों का उल्लेख नहीं। लोक चेतना में इसका विक्रमादित्य द्वारा दिया जाना इस कारण बना हो कि सेन शासक गुप्तों के मित्र थे और ताम्रपत्र विक्रमादित्य के शासन के दिनों में प्रदान किया गया हो।

स्पिति राज्य—वस्तुस्थिति जो भी रही हो, यह ऐतिहासिक तथ्य है कि सातवीं शताब्दी से पूर्व सैंकड़ों वर्षों तक स्पिति जैसे सीमान्तक क्षेत्रों में सशक्त भारतीय राज्य था, जिसके अधिकार-क्षेत्र में हिमाचल का उत्तरी भाग तो था ही, अपितु जिसकी सीमायें तिब्वत में कैलाश मानसरोवर को छूती थीं। कैलाश मानसरोवर के साथ हिमाचल का सदा गहरा सम्वंध रहा है और ये दोनों स्थान यहां के लोगों के लिए उसी प्रकार तीर्थस्थान थे जैसे हरिद्वार और प्रयाग। आज भी पूर्व में हाटकोटी, उत्तर में कल्पा चीनी और पश्चिम की ओर कुल्लू में रवीर गंगा के मार्ग कैलाश यात्रा के मुख्य मार्गों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन मार्गों द्वारा प्रति वर्ष सैकड़ों की संख्या में भारतीय यात्री कैलाश मानसरोवर जाया करते थे। वुशैहर की वाणासुर लोकगाथा इस तथ्य को सिद्ध करती है। इस लोकगाथा के अनुसार प्राचीनकाल में जव मानसरोवर में ब्रह्मपुत्र नदी का जल गिरता था, तव हिमाचल के इस नायक ने ही उसका वहाव पश्चिम की वजाय पूर्व की ओर किया था। इससे संकेत मिलता है कि वाणासुर उन दिनों इस प्रदेश का अधिपति रहा होगा जव प्राकृतिक कारणों से ब्रह्मपुत्र का वहाव वदल गया।

सातवीं-आठवीं शताब्दी में हर्षवर्धन के साम्राज्य के पतन, कुलिन्द और औदुम्वर जनपदों के अन्त और कन्नौज के यशोवर्मन और कश्मीर के ललितादित्य के आक्रमणों से जर्जरित त्रिगर्त की निर्वलता के फलस्वरूप सारे हिमाचल में एक वार फिर राहणू और ठकुराइयां वल पकड़ गईं। कई विद्वान् इस कारण सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी के समय को राणा-ठाकुर युग कहते हैं। इनमें से कुछ राहणू और ठकुराइयों को ग्यारहवीं शताब्दी में नये राजवंशों ने समाप्त किया। वहुत सारी ठकुराइयां और राहणू सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में ही दवाई जा सकीं। इस पर भी सतलज उपत्यका में क्योंथल, ठियोग, कोटरवाई, खनेटी, कुम्हारसेन, वलसन, दरकोटी, देलठ आदि राहणू और ठकुराइयां उन्नीसवीं-वीसवीं शताब्दी तक अपना पृथक् अस्तित्व उसी रूप में वनाए रख पाईं।

छठी-सातवीं शताब्दी में राजस्थान की ओर से राजपूत गुर्जरों का इस प्रदेश में आगमन हुआ। उन्हीं दिनों वुन्देलखण्ड तथा देश के मैदानी भागों से कतिपय साहसी राजकुमार पुराने कुलिन्द क्षेत्र में आए। उनमें से एक ने विलासपुर के कहलूर राज्य की स्थापना की। ग्यारहवीं सदी में सिरमौर की स्थापना जैसलमेर से आए राजकुमार

ने की बताई जाती है। अपुष्ट आधार पर बिलासपुर राज्य की नींव बुन्देलखण्ड से आए वीरचन्द्र नामक चन्देरी राजकुमार ने सन् 697 ई० के आसपास रखी। इसी वंश के एक अन्य राजकुमार ने नालागढ़ (हिन्दीड़) राज्य की स्थापना की। सातवीं शताब्दी के आसपास सुकेत और बाघल के राज्यों की अपने आधुनिक स्वरूप में नींव रखी जा चुकी थी, क्योंकि बिलासपुर वंशावली के अनुसार वीरचन्द ने इन दो राज्यों तथा बेजा, धामी और क्योंथल की ठकुराइयों को भी जीता था। सिरमौर के प्रथम राजवंश की स्थापना भी सातवीं-आठवीं शताब्दी के मध्य हो चुकी थी।

मावी—इन्हीं वर्षों में गांव के शासक के रूप में एक नया नाम बार-बार सामने आता है। ये शासक मावी या मवाणा थे। मावी शब्द उपाधिसूचक है या जातिसूचक, निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। किन्हीं परम्पराओं से यह शब्द राणा और ठाकुरों की तरह उपाधिसूचक लगता है। इनके अनुसार मावी या मवाना गांव का अधिकारी होता था, जिसका कार्य कर वसूल करना होता था। भूतपूर्व जुब्बल राज्य में इस प्रकार के मावियों के 24 खण्ड थे। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के पश्चात् पूर्वोक्त कारणों से किसी सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के अभाव में राणा और ठाकुरों की देखादेखी छोटे-छोटे भूमिपति भी अपनी जागीरें बना गए। अधिकांश में मावी हूण और गुर्जर थे। कुछ विद्वान इन्हें जाट भी मानते हैं। हूणों और गुर्जरों के स्वभाव के अनुकूल ही ये मावी मुंहजोर, जिद्दी और महत्त्वाकांक्षी थे। किसी की अधीनता स्वीकार करना इनके लिए असह्य था। आज भी किसी कलहत्रस्त गृहस्थी को, जिसके सदस्य एक-दूसरे की बात न मानें, 'मावी ए पांगर' (मावी का परिवार) की संज्ञा दी जाती है। आरम्भ में ये मावी अपने हूण या गुर्जर कबीलों के मुखिया रहे होंगे, किन्तु धीरे-धीरे इन्होंने कबीले की सारी सत्ता हथिया ली होगी। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद ज्यों-ज्यों नए स्थापित राज्यों की जड़ें मज़बूत होती गईं, मावियों की शक्ति क्षीण होती गई और कुछ अर्से के बाद ये केवल नाम छोड़कर अशेष हो गए। संभवतः राजपूतों में इनका समीकरण कर दिया गया हो।

पहाड़ी समाज में पिछले एक हज़ार वर्षों में जातीय सम्मिश्रण और समीकरण के फलस्वरूप एक नई चेतना का आभास मिलता है। त्रिगर्त सम्पन्नता के शिखर पर था। उसका सहयोग मध्यदेश से कश्मीर तक के शासक प्राप्त करने में लगे थे। इस प्रदेश के शासकों का देश के राजपरिवारों के साथ सम्पर्क बढ़ गया था। एक-दूसरे के यहां आना-जाना था। परिणाम यह हुआ कि समूचा पहाड़ी समाज नए स्वप्न देखने लगा, उसे भविष्य सुनहरा लगने लगा। इस वातावरण में कला ने पंख पसारे। हिमाचल के एक कोने से दूसरे कोने तक, स्पिति-लाहुल से ऊना-नालागढ़, बिलासपुर तक, सिरमौर, डोडराक्वार से चम्बा तक सृजन का क्रम आरम्भ हो गया, जिसने हमें कला के कुछ एक उत्कृष्ट उदाहरण दिए हैं। आज भी स्पिति के कई मठों की दीवारों पर, लाहुल के मृकूला देवी के मंदिर में, भ्रमौर में लक्षणा और शक्ति देवी के मंदिरों और मूर्तियों में, जगतसुख, बिलासपुर, निरत और हाटकोटी, बैजनाथ, बिजौरा, त्रिलोकपुर

और कांगड़ा में भव्य मन्दिर, सुन्दर मूर्तियों और मनोहर चित्रकला के दर्शन होते हैं।

इन कलाकृतियों का सृजन इस बात का साक्षी है, कि उस युग में राजनीतिक परिस्थितियां यहां के लोगों के अनुकूल रही होंगी। किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। त्रिगर्त को दुर्दिनों का सामना करना पड़ा और उसके हाथ से बहुत सारा इलाका छिन गया। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में देश के अन्य भागों से राजपूत कुमारों ने आकर सत्ता के लिए दीर्घकालीन संघर्ष छेड़ दिया। राणा-ठाकुरों के विरुद्ध इन राजपूत राजकुमारों का कलहपूर्ण संघर्ष आने वाली छः-सात शताब्दियों तक थोड़े-थोड़े अन्तर पर चलता रहा और राजा केवल सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में जाकर राणा-ठाकुरों की सत्ता को निर्णयात्मक रूप से समाप्त करने में सफल हो पाए।

राजाकाल—ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी को हम राजायुग का आदिकाल कह सकते हैं। इस बीच लगभग सारा प्रदेश राजा-रजवाड़ों के प्रभुत्व में आना आरम्भ हो गया था। जो प्रवृत्ति प्रागैतिहासिक काल में त्रिगर्त जैसे गणराज जनपदों के एकराज जनपद में परिवर्तित होने से शुरू हुई थी, वह इस युग में पूरी हुई। कुम्हारसेन, जुब्बल, नूरपुर, कुटलेहर जसवान, मंडी आदि राज्य इसी काल में स्थापित हुए।

कांगड़ा—कांगड़ा (त्रिगर्त) संभवतः संसार का प्राचीनतम तथा चिरकालीन राज्य था। वंशावली के अनुसार इस राज्य के लगभग 500 राजा हुए हैं। महाभारत में जिस सुशर्मण का उल्लेख है. वह वंशावली का 234वां राजा है। इसका अर्थ यह है कि त्रिगर्त वंश के आधे राजा महाभारत से पूर्व राज्य कर गए थे, तथा महाभारत के उपरान्त उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध सन् 1828 तक, जब त्रिगर्त राज्य सदा के लिए समाप्त हो गया, उसके 260 राजाओं ने शासन किया। यदि एक राजा का राज्य-काल हम सामान्य 20 वर्षों के बजाय औसतन पन्द्रह वर्ष भी मानें तो त्रिगर्त राज्य 500 × 15 = 7,500 वर्षों तक बना रहा। इस गणना के आधार पर महाभारत का समय 266 × 15 = 3,990 वर्ष पूर्व ठहरता है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि कांगड़ा वंशावली के अनुसार महाभारत का युद्ध ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व हुआ है।

त्रिगर्त ने अपने सुदीर्घ जीवन में कई उथल-पुथल देखे, भाग्य के विभिन्न चक्रों का सामना किया। कभी राज्य का इतना विस्तार हुआ कि समूचा सतलज, व्यास और रावी प्रदेश उसमें समा गया, तो कभी वह भी समय आया जब राज्य केवल कांगड़ा दुर्ग की चारदीवारियों तक ही सीमित रहा, और कई बार दुर्ग से भी हाथ धोने पड़े। किन्तु एक बात सदा रही। त्रिगर्त वीरों ने युद्ध में अपनी कुशलता आदिकाल से स्थापित की। इस राज्य के शम्बर जैसे नेताओं ने चालीस वर्षों तक आर्यों के नेता दिवोदास के मुंह में चने चबाए, और अन्त में भी धोखे में आकर प्राण गंवाए। त्रिगर्तों ने सहज में किसी की पराधीनता स्वीकार नहीं की, और यदि साम्राज्यों की अतुल शक्ति के आगे झुकना भी पड़ा, तो पहला अवसर मिलने पर अपना अधिकार और आधिपत्य पुनः स्थापित किया। त्रिगर्तों की कहानी ही, एक अर्थ में हिमाचल के

दक्षिणार्द्ध की अपनी कहानी है, इस राज्य के विकास और पराभव का काल उस क्षेत्र के उत्थान और पतन का दर्पण है।

कुल्लू—त्रिगर्त जैसा दूसरा प्राचीन राज्य कुलूत (कुल्लू) का रहा है। महाभारत युग में यह राज्य क्रियाशील था, बौद्धकाल के प्रारम्भिक वर्षों में स्वयं महात्मा बुद्ध यहां आए थे। त्रिगर्त के विपरीत, किन्तु बुशैहर और चम्बा जैसे अन्य पुरातन राज्यों की तरह कुल्लू, जिसे कुल्लूत कहा जाता रहा है, भारतीय सम्राटों की गणना में सीमान्तक राज्य था, अतः छुट-पुट विसंगतियों को छोड़ यह प्रदेश देश के सीधे केन्द्रीय शासन से मुक्त रहा। स्थानीय रूप में भले ही चम्बा, स्पिति, मंडी, बुशैहर जैसे पड़ोसियों ने इसके ऐश्वर्य को अनेक वार आघात पहुंचाया हो। वर्तमान काल में प्राप्त वंशावली में 100 के करीब राजाओं का उल्लेख है, जिसमें स्पष्टतया दूसरे प्राचीन वंशों के राजाओं की सूची नहीं है।

बुशैहर—कुल्लू के पूर्वी पड़ोसी, बुशैहर राज्य की उपलब्ध वंशावली में 122 राजाओं की गणना है। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से बाद के राजाओं के शासन-काल के अनुसार इस राजवंश के प्रत्येक राजा का औसतन शासन-काल 22 वर्ष का ठहरता है। इस लिहाज से बुशैहर के राजवंश का प्रथम राजा लगभग 2,700 वर्ष पूर्व हुआ है। परम्परा मानती है कि महाभारत काल में यहां वाणासुर नामक राजा का शासन था, जिसकी पुत्री ऊषा से कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का विवाह हुआ था। सोलहवीं शताब्दी में केहरीसिंह राजा ने तिब्बत के शासक को करारी हार देकर तिब्बत में बुशैहर के व्यापारिक अधिकारों को सुरक्षित किया था।

इन राज्यों की वंशावलियों की सत्यता सिद्ध करने के लिए यद्यपि अन्य लिखित सामग्री का अभाव है, किन्तु चम्बा का राज्य ऐसा रहा कि उसके वर्मन राजवंश के सोलह सत्रह सौ वर्षों तक के लम्बे शासन-काल की पुष्टि पुस्तकों, अभिलेखों, ताम्रपत्रों और पनिहारों से होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांगड़ा के कटोचवंशीय गुलेर, सिब्रा और दातापुर राज्यों को छोड़, जो पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में स्थापित हुए, अन्य सभी राज्य तीन-चार सौ वर्ष पूर्व बन चुके थे। मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में हिमाचल प्रदेश में चम्बा, कांगड़ा, गुलेर, जसवान, सिबा, दातारपुर, कुटलहर, नूरपुर, मंडी, बंगाहल, कुल्लू, सुकेत, बिलासपुर, नालागढ़, सिरमौर, रामपुर बुशैहर, देलठ, ढाडी, कुम्हार सैन, सांगरी, खनेटी, दरकोटी, जुब्बल, रावीगढ़, थरोच, बलसन, धूंड, रतेश, ठियोग, मधान, कोटी, क्योंथल, भज्जी, धामी, कुनिहार, अर्की (बाघल), सोलन (बघाट), महलोग, मांगल, कुठार और बेजा जैसी इकतालीस रियासतें थीं।

दिल्ली आधिपत्य—चौदहवीं शताब्दी से अठारह शताब्दी के मध्य तक इन रियासतों के शासकों का कार्यकलाप दिल्ली के सुलतानों और मुगल बादशाहों को खिराज देना, वार्षिक नजराना अथवा पेशकश पेश करना, उनके फरमानों, आदेशों का पालन करना, गद्दी संभालने पर खिलत और मनसब प्राप्त करना, मुगलों के दरबार

में राजकुमार या अन्य निकट संबंधी को जमानत के तौर पर रखना, अपने राज्य को सुदृढ़ तथा स्थायी बनाने के लिए दुर्ग बनाना, ठाकुरों और राणाओं से युद्ध करना और राज्य-विस्तार के लिए पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करना रहा है। जब कभी शाही हुकम आया तो मुगल सेना की सहायता करना भी उनका कर्तव्य था। जहांगीर के दरबार में एक समय 22 पहाड़ी राजकुमार जमानत के रूप में रहते थे। यद्यपि पठान और तुर्की सुलतानों ने इन राजाओं की भूमि अपनी सल्तनत में शामिल नहीं की, परन्तु अकबर ने अपने आधिपत्य में आए पहाड़ी राजाओं के राज्यों के उपजाऊ भाग अपने साम्राज्य में मिला लिए थे। अकबर के प्रसिद्ध माल मंत्री, राजा टोडरमल ने कांगड़ा घाटी का उपजाऊ भाग मुगल साम्राज्य में शामिल कर लिया था। सतलज के पश्चिमी भाग के अन्य राज्यों से भी इसी प्रकार का वर्ताव किया गया था। कहा जाता है कि भूमि का इस प्रकार निपटारा करने के बाद टोडरमल ने अकबर को कहा था कि "मैं मांस-मांस काट साथ लाया हूं और हड्डियां रहने दी हैं।"

अकबर ने कांगड़ा किले को जीतने का भी प्रयत्न किया था, किन्तु वह सफल नहीं हुआ। इस कार्य में सफलता उसके पुत्र जहांगीर को मिली जिसने सन् 1619-20 में इसे अपने अधिकार में कर लिया। तब से सन् 1783 तक कांगड़ा राज्य की प्रभुता और सम्पन्नता का प्रतीक यह दुर्जेय किला मुगलों के अधिकार में रहा।

औरंगजेब के सत्तारूढ़ होते ही दिल्ली के साथ इन राज्यों के संबंधों में तनाव आ गया। शाही फरमानों की खुल्लम-खुला अवहेलना की जाने लगी, विशेषकर उन फरमानों की जिनमें मन्दिरों को गिरा देने का आदेश दिया गया था। इस प्रकार की आज्ञायें, इस प्रदेश के शासकों और प्रजा के आत्मसम्मान पर कठोर प्रहार था। फल यह हुआ कि त्रिगर्त ने विद्रोह कर दिया। चम्बा के राजा चतरसिंह ने मन्दिरों को गिराने के बजाय उन पर सोने के कलश लगवाए।

सन् 1707 में औरंगजेब की मृत्यु, उसके 32 वर्ष बाद नादिरशाह के आक्रमण, अफगान और मरहठों में दिल्ली पर प्रभुत्व के लिए संघर्ष तथा सन् 1752 में अहमदशाह दुर्रानी के हमले से उत्पन्न अराजकता ने हिमाचल के शासकों को न केवल चैन से सांस लेने का अवसर दिया, अपितु उनमें अपने परम्परागत वैभव को पुन: प्राप्त करने का मोह भी आया।

पंजाब अहमदशाह अब्दाली के अधिकार में आ गया था और सन् 1758 में कांगड़ा के महाराणा घमंडचंद को उसने जालन्धर का गवर्नर नियुक्त कर लिया था। अठारहवीं शताब्दी में समूचे हिमाचल क्षेत्र के लोगों में एक नया उत्साह था और त्रिगर्त जैसे बड़े प्राचीन राज्य पंजाब पर अधिकार करने की योजना बना रहे थे। महाराजा संसारचंद के दरबार में अभिवादन ही 'लाहौर प्राप्त' कहकर किया जाता था। किन्तु ऐसा लगता है कि वह अपने क्षेत्र से बाहर की राजनीतिक हलचलों से भली भांति परिचित नहीं था।

संसारचन्द—जब संसारचन्द सन् 1775 में दस वर्ष की आयु में त्रिगर्त-

सिंहासन पर बैठा तो पूर्व की ओर नेपाल में गोरखा शक्ति का उदय हो चुका था। पंजाब में सिख सत्ता सुदृढ़ हो रही थी। संसारचन्द साहसी और महत्त्वाकांक्षी युवक था, वह अपने राज्य को एक बार पुनः मैदान और पहाड़ में फैलाना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सेना की संख्या बढ़ाई, इसके संचालन में सुधार किया और अफगान सैनिकों को भी भरती किया।

सन् 1786 में 166 वर्षों बाद कांगड़ा का किला उसके अधिकार में आ गया। इससे उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई। संसारचन्द ने आसपास के छोटे-मोटे राज्यों को अपने अधीन करना आरंभ किया और पहाड़ी इलाकों पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उसने चम्बा, मंडी, सुकेत, कहलूर और सिरमौर पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया।

संसारचन्द की महत्त्वाकांक्षा और लगातार चढ़ाइयों से पहाड़ी राजाओं पर आतंक छा गया था। उनके सौभाग्य किन्तु प्रदेश के दुर्भाग्य से सन् 1803 में नेपाल की गोरखा सेना पश्चिम की ओर राज्य-विस्तार के लिए बढ़ रही थी। उस वर्ष नेपाल ने गढ़वाल पर विजय प्राप्त कर ली थी और पहाड़-पहाड़ बढ़ते हुए सतलज उपत्यका के सभी राज्य उसकी सेना के हाथ आ गए थे। तभी बिलासपुर के राजा ने गोरखों को संसारचन्द पर आक्रमण करने में सहायता देने का आश्वासन दिया। सन् 1805-6 के जाड़ों में जब गोरखा सेना सतलज को पार कर सुकेत आई, तो बिलासपुर, बसोहली और कांगड़ा के आसपास के राजाओं ने दस हज़ार के लगभग सैनिक गोरखा सेनापति को दिए। संसारचन्द सम्मिलित गोरखा और राजपूत सेना का मुकाबला नहीं कर सका और शरण लेने के लिए उसे कांगड़ा किले में आ जाना पड़ा। गोरखों ने तीन साल तक कांगड़ा राज्य को लूटा। परिणाम यह हुआ कि "कांगड़ा की उपजाऊ घाटी में खेती के नाम पर कोई पत्ती नजर नहीं आती थी। शहरों में घास उग आई थी और मैदान के बाजारों में सिंहनियां बच्चे देने लगी थीं।" संचारचन्द ने गोरखों के विरुद्ध महाराजा रणजीतसिंह से सहायता मांगी। ज्वालामुखी में दोनों राजाओं की भेंट हुई और एक संधिपत्र पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार किले और उसके चहुं ओर के क्षेत्र का अधिकार रणजीतसिंह को दिया गया और बदले में रणजीतसिंह ने कांगड़ा राज्य की रक्षा करना मान लिया। सन् 1809 में रणजीतसिंह की सेना ने गोरखों पर आक्रमण किया और उन्हें सतलज के पार खदेड़ दिया। किले पर रणजीत-सिंह का अधिकार होने से तथा संचारचन्द की शक्ति खत्म हो जाने से सारे पहाड़ी राज्यों पर सिखों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस प्रकार लगभग एक सौ वर्षों के भीतर यह प्रदेश फिर स्वतंत्रता खो बैठा।

सन् 1846 में प्रथम सिख-ब्रिटिश युद्ध के परिणामस्वरूप लाहौर दरबार ने जालन्धर, दोआब, व्यास और सतलज के बीच का कांगड़ा, कुल्लू, लाहुल, स्पिति का इलाका अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया। सतलज के पूर्वी किनारे की रियासतों को अंग्रेजों सन् 1814 में गोरखों को पराजित करने के पश्चात् अपने संरक्षण में ले लिया था।

कोटगढ़ जैसे सामरिक महत्त्व के थोड़े-से स्थानों को अपने कब्जे में रख बाकी का इलाका उन्होंने वहां के राजा-राणाओं को लौटा दिया था। चम्बा सन् 1848 में अंग्रेजों के आधिपत्य में आया, जहां उन्होंने स्थानीय राजा को ही मान्यता दी।

15 अगस्त 1947 को भारत में अंग्रेजी राज की समाप्ति के साथ-साथ इन रियासतों पर से भी विदेशियों का प्रभुत्व हटा। 15 अप्रैल 1948 को चम्बा, मंडी, सुकेत, सिरमौर और रामपुर बुशैहर समेत 30 रियासतों का हिमाचल प्रदेश के नाम से एक संघ स्थापित हुआ। सन् 1954 में विलासपुर राज्य का भी इस संघ में विलय कर दिया गया। सन् 1966 में पंजाब के पुनर्गठन के कारण कांगड़ा, कुल्लू, लाहुल, स्पिति तथा नालागढ़ और ऊना भी हिमाचल में शामिल हो गए। इन सबका सम्मिलित रूप ही वर्तमान हिमाचल प्रदेश है।

प्रशासन—हम देख ही चुके हैं कि अपने गणतन्त्रात्मक स्वरूप में हिमाचल प्रदेश खूंदों, ठकुराइयों और जनपदों अथवा राज्यों पर आधारित था, किन्तु उसकी प्रशासनिक व्यवस्था कैसी थी और उसका विकास कैसे हुआ, जनता की स्थिति क्या थी, शासन और जनता का पारस्परिक संबंध क्या था, इसकी पर्याप्त जानकारी सुलभ नहीं है।

जहां तक गणतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रश्न है, हमें कुछ सूत्र आज भी मिलते हैं। इन सूत्रों में महत्त्वपूर्ण है मलाणा गांव और डोडराक्वार तथा किनौर, महासू, सिरमौर और कुल्लू में सन्थांग परम्परा।

मलाणा—कुल्लू की पार्वती घाटी में लगभग आठ हजार फुट की ऊंचाई पर प्राचीन गांव मलाणा में गणतंत्र की मौलिक व्यवस्था आज भी उसी रूप से कार्य कर रही है, जैसे तीन-चार हजार वर्ष या उससे भी पहले। समूचे हिमाचल में यह एक गांव ही क्यों उदाहरणस्वरूप रह गया, इसका एक प्रमुख कारण उसकी अगम्यता और अलगाव है। वहां के मार्ग विकट हैं और निकट में कोई अन्य वस्ती नहीं है। जरी के सामने पहाड़ी पर 'चौकी' गांव है। वही मलाणा का सुगमतम प्रवेश-द्वार है। वहां से लगभग सात मील चट्टानों की दुरूह भयावह चढ़ाई है।

यह मलाणा गांव कब वसा, वहां के निवासी कौन हैं, उनकी भाषा क्या है, इस पर अधिकारपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह पृथक् सुव्यवस्थित खोज का विषय है। किन्तु अभी तक जो अनुमान लगाए गए हैं, उनके अनुसार मलाणा आदि नागों के गांव हैं, भोटों किन्नरों की कोई बस्ती है, अथवा खशों की प्रारंभिक अवस्था की यादगार है। यहां की 'कणोश' या 'कणांशी' भाषा में किसी को भोटी के चिह्न मिले और किसी विद्वान को मुंडा बोली के तत्त्व दिखाई दिए। इन्हीं अनुमानों के अनुसार इस गांव की प्राचीनता भी चार हजार वर्षों से हज़ार-दो हज़ार वर्षों या इससे भी कम ठहरती है।

यदि एक विशेषता निर्विवाद है तो वह है यहां की शासन-प्रणाली, जो संभवतः पूरे भारतवर्ष में अपना पृथक् स्थान रखती होगी। इस गांव की सम्पूर्ण व्यवस्था

'जमलू, नामक देवता के इर्द-गिर्द घूमती है। वह यहां का सार्वभौम शासक है। 'जमलू' के तीन प्रतिनिधि हैं—कारदार, गूर और पुजारी। गूर द्वारा जमलू अपने आदेश और निर्णय सुनाता है। पुजारी पूजापाठ के लिए जिम्मेदार है। कारदार इन दो प्रतिनिधियों के सुचारु रूप से कार्य करने का जिम्मेदार है। इसके अतिरिक्त वह गांव का मुखिया भी है, और स्थानीय गणतन्त्र का प्रधान भी।

मलाणा में शासन के दो मुख्य सदन हैं—एक का नाम है 'जेठरा' और दूसरे का नाम 'बारी' या कोरम है। जेठरा के लिए मलाणा के आठ छद्दियों (मौलिक वंशों) से एक-एक प्रतिनिधि चुना जाता है। इन आठ प्रतिनिधियों में से एक का देहान्त हो जाने पर सबों का दोबारा निर्वाचन होता है, अतः जेठरा की अवधि उसके प्रतिनिधियों की आयु पर निर्भर है। जेठरा के कारदार, गूर और पुजारी सहित ग्यारह सदस्य होते हैं। 'बारी' में मलाणा के प्रत्येक परिवार का एक वयस्क पुरुष सदस्य होता है। ये सदस्य प्रति वर्ष बदलते रहते हैं।

गांव की सभी सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक अथवा प्रशासनिक समस्याओं पर जेठरा और बारी, दोनों में विचार होता है, और निर्णय सर्वसम्मति से होते हैं। मतभेद की स्थिति में अन्तिम निर्णायक 'जमलू' देवता होता है, जो अपने 'गूर' द्वारा अपने अभिमत से जेठरा और बारी को सूचित करता है। उसका निर्णय सर्वमान्य होता है। मिल-बैठकर आपस में ही सब विवादों को निपटाने और समस्याओं को सुलझाने का यह अनूठा उदाहरण है और यही कारण है कि किसी मलाणा-निवासी को कभी अदालतों-कचहरियों में जाते नहीं देखा गया।

डोडराक्वार—पूर्व में, डोडराक्वार मलाणा जैसा ही अगम्य स्थान है। डोडराक्वार उत्तर में 13,000 फुट ऊंचे छिरांगचा पर्वत, दक्षिण में उत्तर प्रदेश के टिहरी जिले के पंचगाई प्रदेश से पूर्व में 11,500 फुट मांझी कांठे से और पश्चिम में 14,500 फुट चांगसिल पर्वत से घिरा है। प्रवेश-द्वार केवल छः महीने के लिए खुला रहता है। डोडराक्वार में परिवार का योग्यतम व्यक्ति बिरादरी की पंचायत के लिए चुना जाता है। यह पंचायत बिरादरी और परिवार के अन्दरूनी झगड़ों को निपटाती है। सामाजिक जीवन का आधार यह बिरादरी पंचायत ही है। जो फैसले पंचायत न कर सके, उसे 'क्वार जाख' देवता, जो मलाणा के जमलू की तरह जातीय देवता है, तय करता है, उसका निर्णय सर्वमान्य है। 'क्वार जाख' कई बार परिवारों को उनके मकान, जमीन और जायदाद तक से बेदखल कर लेता है।

पुराने जमाने में भी संभवतः ठीक यही स्थिति रही होगी। प्रत्येक खूंद का नेता उसका वास्तविक शासक होता होगा, जिसको सलाह देने के लिए सम्पन्न-प्रभावशाली परिवारों के सदस्यों की एक समिति होती होगी।

सन्थांग—यह समिति विचार विमर्श करने के लिए जिस स्थान पर बैठती थी, उसे किन्नौर में सन्थांग, ऊपरी महासू में थौड़, सिरमौर में भोज, सतलज उपत्यका में थांणी या थाठ कहते हैं। सन्थांग को चौगान और 'शना' का पर्यायवाची भी कहा जा

सकता है, विशेषतः वहां जहां इसका उपयोग सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक उत्सव मनाने के लिए किया जाता है। किन्नौर में साधारणतया देवता के मन्दिर के साथ का खुला मैदान सन्थांग कहलाता है। सन्थांग में बैठ कर देवता दिवानी और फौजदारी मामलों तक का निर्णय करता था, अपराधियों को दंड देता था तथा आधिव्याधि में लोगों की सहायता करता था।

ऐसा लगता है कि सन्थांग वस्तुतः संस्कृत साहित्य का सन्थागार ही है। बौद्ध युग में जनपदों के लोगों के एकत्रित होने और बैठने के स्थान को 'सन्थागार' कहा जाता था। ये सामुदायिक जीवन के केन्द्र थे। कपिलवस्तु में बुद्ध के महानिर्वाण के तुरन्त बाद एक सन्थागार के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

इन सन्थागारों में भी प्रायः पत्थरों का बना एक विशेष गोल स्थान होता था, जो देवता की गद्दी या सिंहासन भी माना जाता था। आज भी अनेक पुराने गांव में इस प्रकार के पत्थरों के गोलाकार अवशेष हैं, जिन पर बड़े-बड़े पत्थर बिछाए गए हैं। डोर की ओर पत्थर की पीठिकायें हैं, जिनके सहारे ग्राम अथवा खूंद प्रतिनिधि बैठा करते थे। कुल्लू की सतलज उपत्यका में इन्हें 'थाणी' या चौतड़ा कहते हैं। इन थाणियों पर बैठ कर ये प्रतिनिधि कुछ वर्ष पहले तक मंदिर, धर्म और समाज सम्बंधी निर्णय करते रहे हैं।

यद्यपि आज ये चौतड़े, थौड़ या थांपी अपना सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक महत्त्व खो चुके हैं, किन्तु इनके पीछे जो पवित्रता, शुचिता, दैवीपन और आदर की भावना थी, वह बनी हुई है। यदि कोई व्यक्ति इस पर खड़ा होकर अपने निरपराध होने की सौगन्ध खा ले, तो उसे निर्दोष समझा जाता है। सामान्य लोगों में धारणा यह है कि थौड, थांपी आदि पर न तो कोई झूठ बोल सकता है न कोई दुष्कर्म कर सकता है। इसके विपरीत आचरण करने वाले को कठोर, भयावह फल भुगतना पड़ता है। मालूम होता है कि इन सन्थाग, थाणियों या थाण का प्रचलन उसी क्षेत्र में रहा है, जहां कभी खशों और उनसे पहले की अन्य जातियों की प्रमुखता रही है।

समूचे प्रदेश में आरंभिक दिनों में जनपदात्मक गणतंत्रीय शासन-व्यवस्था रही। यह कब बदली, निश्चित तिथि का निर्धारण तो असंभव है, किन्तु प्रतीत होता है कि आर्यों के सम्पर्क से अथवा सुरक्षा की विवशताओं से संघीय गणतंत्र एकाधिपत्य एकराज में परिवर्तित होते गए। यह परिवर्तन ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी में पूरा हुआ। तब से शासन की छोटी से छोटी इकाई, खूंद से लेकर त्रिगर्त जैसे बड़े राज्यों में एक ही व्यक्ति का प्रभुत्व रहा है। खूंद भी बदल कर ठकुराइयां बनीं, खूंदों के प्रतिनिधियों का नेता ठाकुर बन गया। राणाओं की राहणुएं बनीं और ठकुराइयों और राहणुओं की नींव पर त्रिगर्त, कुल्लू, बुशैहर जैसे पुराने राज्य तथा सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच प्रदेश के अन्य क्षेत्रों के राज्य बने। खूंदों के सब अधिकार ठाकुर को मिल गए। अब मौलिक इकाई में देवता और ठाकुर, राहणू में देवता और राणा तथा राज्य में देवता और राजा, इन शासक-द्वय के हाथ में सारी शक्ति केन्द्रित हो गई।

राजा देवता—शासक और देवता के इस सम्मिश्रण से वहुधा राजा राणा में ही लौकिक तथा दैविक और धार्मिक सत्ता का समाहार हो गया और कहीं देवता ही शासक बना और कहीं शासक ही देवता भी बना। क्योंथल रियासत में राजा ही देवता भी वन गया किन्तु कुल्लू और मंडी में राज्य देवता का रहा और राजा केवल उसका कारदार अथवा प्रतिनिधि वन कर राज्य करता रहा। राजा और देवता का एकीकरण इस सीमा तक हुआ कि देवता राजा कहलाने लगे और राजा देवता। राजा के अभिवादन के लिए 'जयदेआ' (जयदेव) शब्द स्पष्टतः इसका प्रमाण है। उसके स्वागत के लिए देवता की धार्मिक छड़ी, चंवर, छत्र और वाद्ययंत्र प्रयुक्त होते रहे हैं।

संभवतः देवता और राजा के एकीकरण का मुख्य कारण भूमि का आधिपत्य या स्वामित्व था। आरंभ में वरीन्दों ने जव बस्तियां वसाई थीं, तो व्यक्ति-विशेष या परिवार-विशेष का भूमि पर अधिकार नहीं था। वह सबकी सांझी थी, उस पर सबका वरावर का अधिकार था। इस स्थिति को वनाए रखने के लिए संभवतः भूमि का स्वामित्व वरिन्द के कुलदेवता, देऊ या देवी को दिया गया, जिससे सभी के अधिकार सुरक्षित रह सके, भूमि सांझी वनी रहे।

भूमि पर देवता के इसी स्वामित्व ने राजा और देवता को एक स्वरूप करने में सहायता पहुंचाई। आरम्भ में भूमि ही महत्त्वपूर्ण थी। उस काल की आर्थिक व्यवस्था का केवल मात्र यही आधार था। यदि राजा का भूमि पर अधिकार नहीं, तो उसका शासन कैसा ? देवता के साथ एकाकार हो जाने से राजा ने दैवी गुणों को भी अपने में समाविष्ट कर लिया। फलस्वरूप राजा भूपति भी बना और धर्म-संस्थापक भी।

भूमि और धर्म का नियंता हो जाने से अव उस व्यक्ति की ही पूजा होने लगी। अपनी प्रजा के आदर-सम्मान, भक्ति और सेवा का केवल मात्र वह पात्र वना। वह अपनी प्रजा के भाग्य का विधाता वना। प्रजा की सामाजिक स्थिति और भौतिक अवस्था सब उसी की इच्छा पर निर्भर हो गए। वह खश को ब्राह्मण भी वना सकता था, राहू अथवा कनैत को ठाकुर और राणा की गद्दी पर वैठा सकता था और ब्राह्मण को क्षत्रिय और राणा ठाकुरों को सामान्य नागरिक में भी परिवर्तित कर सकता था। यदि राजा की कृपादृष्टि है तो उसका कृपापात्र जागीर प्राप्त कर सकता था, यदि दृष्टि वक्र हो गई, तो पुश्तों से जमा धन-दौलत, जमीन-जायदाद सभी छिन भी जाते थे। राजा सभी अधिकारों का स्रोत वन गया। अपनी-अपनी ठकुराई और राहणू में यही स्थिति ठाकुर और राणा की थी, अतः जहां भी राजा का उल्लेख हुआ है, उसी के अन्तर्गत ठाकुर और राणा भी आ जाते हैं।

इस प्रकार की असीम शक्ति हाथ में केन्द्रित हो जाने से यह स्वाभाविक था कि ये राजा-राणा निरंकुश हो जाएं और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भूल केवल व्यक्तिगत सौख्य और वैभव के लिए राज्य की सम्पदा तथा प्रजा की सामर्थ्य का प्रयोग करें। उनका काम पास-पड़ोस के अन्य शासकों से, राजाओं से सतत् संघर्ष करना रह गया था। मत्स्यन्याय के अनुरूप बड़ा राज्य सभी छोटे राज्यों को निगल

जाना चाहता और जब उस बड़े राज्य में स्वयं कमजोरी आ जाती तो कोई अन्य महत्त्वाकांक्षी राजा उसे छिन्न-भिन्न कर आत्मसात् कर लेता। जीतने और हारने का यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलता रहा। इस स्थिति में प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान उन्हें कैसे आता ?

राजा भूपति था। सारी भूमि पर उसका अधिकार था। लोगों का भूमि पर कोई स्वामित्व नहीं था, वे केवल मुजारे थे, खेतिहार थे, भूमि से अन्न उत्पादक थे। हां वे लोग जब तक राजा को कर देते रहते थे, उस खेती को पुश्त-दर-पुश्त, उपभोग कर सकते थे। यदि किसी परिवार के सभी सदस्य बिना किसी उत्तराधिकारी के मर गए, तो उसकी भूमि पुनः राजा को लौट जाती थी। राजा भूमि को प्रायः पट्टे पर देता था और यदि किसी कारणवश वह अप्रसन्न हो गया, तो पट्टा मनमूख भी कर देता था। भूमि का कर साधारणतया उपज का एक तिहाई भाग होता था, जिसकी उगाही के लिए वजीर, विष्ट अथवा चौधरी नियुक्त होतेथे। किन्तु कई बार ये कर उगाहने वाले निर्धारित मात्रा से अधिक भी वसूल कर लेते थे, जिसके कारण साधारण कृषक को अत्यधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। सामान्यतः जनता का कर्तव्य राजा को कर देना, उसकी चाकरी करना, उसकी बेगार भरना और युद्ध के समय सेना में भरती होना होता था। राजा स्वयं बड़ा जमींदार होता था, और मुगलकाल में तो हिमाचल के राजाओं को जमींदार ही कहा जाता था। उनकी खेती का काम लोगों को बेगार में करना होता था। कतिपय प्रभावशाली परिवारों को छोड़, सभी कुटुम्बों को बेगार निभानी पड़ती थी। इसके बदले में लोगों को कमाने के लिए भूमि मिलती थी। अन्यथा गांव वालों का जीवन स्वावलम्बी था। परम्परा से चली आई मिलजुल कर निर्वाह करने की भावना बलवती थी। सहकारिता के आधार पर मकान बनाने जैसे बड़े काम किए जाते थे। सारा गांव पत्थर, सलेट आदि उपलब्ध कराने में मकान बनाने वाले की सहायता करता था। इसी प्रकार सिचाई के लिए 'कुल्हें' या छोटी नहरें भी प्रायः लोग स्वयं खुदवाते थे। ग्राम-जीवन वस्तुओं के अदल-बदल के आधार पर चलता था। शासन का कार्य केवल राजा के हितों की रक्षा करना ही रह गया था।

लोक कथाओं के अनुसार मध्ययुगीन राणा और ठाकुरों का शासन क्रूर था। प्रजा को लूटना-खसूटना इनका मनोरंजन था। इनका वचन ही कानून था, और ये जब चाहते, जिसे चाहते मौत के घाट उतार देते थे। यही नहीं, लोगों के धन-धान्य को ये अपना ही माल समझते थे। इस प्रकार के अनेक प्रसंग हैं कि इन ठाकुरों, राणाओं का जब जी चाहता, अपने आदमी भेजकर किसी के घर से कोई भी वस्तु उठवा लाते थे।

यदि इन कथाओं को सच्चा मानें, तो इनमें से कई शासकों का स्वभाव कठोर था, इनकी प्रकृति दुष्ट थी और मनोरंजन के साधन तथा आहार-विहार एकदम राक्षसी। इस प्रकार के वृत्तान्तों की कमी नहीं है, जिनमें बताया गया है कि किसी

राणा या ठाकुर को शिशु-मांस का भोजन प्रिय था, तो किसी अन्य की रुचि स्त्रियों के स्तनों को भून कर खाने की थी। लगता है गाय का दूध अनेक शासकों को अरुचिकर था और उन्हें केवल नारी का दूध पचता था।

संभव है यह केवल मात्र अतिरंजित चित्रण हो, जिसे ठाकुर-राणा के साथ संघर्ष के दिनों में प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए राजाओं ने प्रचारित किया हो और जनता की अवचेतना में सत्य बनकर बैठ गया हो; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि विश्वभर में निरकुंश शासन में जनता की स्थिति सुखद नहीं रही। यदि राणा और ठाकुरों ने ये अत्याचार न भी किए हों, तो भी उनके तथा राणा के कर्मचारियों के अविवेकी और क्रूर होने के आधुनिक काल तक उदाहरण मिलते रहे हैं। कर उगाहने वाले, बेगार लेने वाले तथा परगने, टप्पे और कोठी के अधिकारी वर्ग को जनता को लूटकर अपना स्वार्थ पूरा करने की सदा फिकर रहती थी। राजधानी से दूर के कर्मचारी प्राय: निरंकुश होते थे। उन्हें राजा को निश्चित मात्रा में कर देना होता था, किन्तु स्वयं वह उससे कहीं अधिक इकट्ठा करते थे। कर उगाहने में प्राय: वे अमानुषिक व्यवहार करते थे। किसी अन्य व्यक्ति की समृद्धि उन्हें खलती थी, यही कारण है कि कुछ साल पहले तक धनीमानी कुटुम्बों का यह कायदा था कि धन द्रव्य को दबाकर रखा जाए, घर में कोई मूल्यवान चीज खुली न रहे और खान-पान और वेशभूषा में भी कोई ऐसी बात न हो, जिससे उनकी सम्पन्नता प्रकट हो जाए। वैभव गिने-चुने परिवारों तक ही सीमित था, जिनमें राज परिवार के सदस्य, राणा, ठाकुर, मियां आदि राजा के रिश्तेदार, तथा वजीर, कायथ और भाहतो जैसे ऊंचे-नीचे राज कर्मचारी शामिल थे। लोगों का जीवन इस वर्ग के हाथ में था, लगता है मनुष्य के जीवन का कोई विशेष मूल्य नहीं था।

डूम—राजा का सीधा शासन राजधानी और उसके आसपास के इलाके तक ही सीमित रहता था, अन्यत्र राज्य कर्मचारी ही शासक थे। साधारण जनता का राजा के साथ सीधा सम्पर्क नहीं था। वह दूर था, अत: उसके स्वभाव और प्रकृति की उसे जानकारी नहीं थी। दूसरे देवत्व का आरोप हो जाने से वह आदरणीय और पूज्य भी बन गया था। वह पिता तुल्य था जो कोई गलत काम नहीं कर सकता था। यही कारण है कि सामान्यत: प्रजा विद्रोह नहीं करती थी। कहावत थी कि "राम और राज के आगे किसका जोर चलता है," किन्तु जब उसके दुर्दैन्य की पराकाष्ठा हो जाती थी, शोषण सहन-शक्ति से आगे बढ़ जाता था, भविष्य अन्धकारपूर्ण बन जाता था और छुटकारे की सभी संभावनाएं नष्ट हो जाती थीं, केवल तब प्रजा विद्रोह करती थी।

यह विद्रोह साधारणतया अहिंसात्मक असहयोग का रूप लेता था। इसके तीन रूप थे : (1) वैयक्तिक विद्रोह, (2) डूम, और (3) देवी-देवताओं के माध्यम द्वारा। वैयक्तिक विद्रोह और डूम का प्रयोजन प्रशासन की त्रुटियों को सुधारना होता था, जबकि देवी-देवताओं की सहायता राजा को ही बदलने के लिए ली जाती थी।

वैयक्तिक विद्रोह आत्मोत्सर्ग का ही दूसरा नाम था। इसमें व्यक्ति अपने को

अग्नि की भेंट कर शासक वर्ग की सुप्त आत्मा को जगाने का प्रयास करता था। मुख्यत: इसके लिए कोई ब्राह्मण आगे आता था, ताकि 'ब्रह्महत्या' का गंभीर पाप राजा या उसके कर्मचारियों को लगे और उन्हें प्रायश्चित्त के लिए अपनी-अपनी क्रूरताएं कम करनी पड़ें, जिससे साधारण जनता को राहत मिल सके।

डूम सामूहिक विद्रोह था। जनता जब राजा का ध्यान किसी विशेष शिकायत की ओर दिलाना चाहती थी, तो लोग अपने घरों को छोड़ जंगलों में चले जाते थे। बेगार देना बन्द कर देते, राज-आज्ञा नहीं मानते थे। फसलें बरबाद हो जातीं, और राजकाज रुक जाता था। वे गांव और घर तभी लौटते जब मांगें पूरी हो जाती थीं। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी में कुठार (1857), रामपुर बुशैहर (1859), सुकेत (1862 तथा 1876), सिरमौर (1871-72), नालागढ़ (1876-77), बिलासपुर (1885), चम्बा (1895), बाघल (1904), मंडी (1909) तथा रामपुर बुशैहर (1906) में डूम हुए थे।

जब सभी शांतिमय उपाय असफल हो जाते, वैयक्तिक विद्रोह और डूम से भी राजा के कान पर जूं तक न रेंगती, तो प्रजा राजदेवता या कुलदेवता की शरण में जाती तथा अपने उद्धार की प्रार्थना करती। राज्य के किसी प्रत्याशी का पक्ष प्रजा ले लेती और राजा को पदच्युत करने में उसकी सहायता करती। मध्य युग में जितने नए राज्य स्थापित हुए, या पुराने राज्यों में नए वंशों ने शासन डोर संभाली, प्राय: उन सब नए राजाओं ने राजदेवता की तृष्टि कर प्रजा का सहयोग प्राप्त किया था, और स्वयं प्रजा ने उन्हें राणा और ठाकुरों के पंजों से उद्धारक के रूप में स्वीकार किया था।

पंचम अध्याय

सांस्कृतिक पर्यवेक्षण

संस्कृति इन्द्रधनुष की भांति रहस्यमयी है। वर्षा के बाद आकाश में इन्द्र-धनुष बड़ा सुन्दर और आकर्षक लगता है। पकड़ में न आने के कारण उसकी मनोहरता और भी बढ़ जाती है। किन्तु इन्द्रधनुष का प्रकट होना, उसका लोप, उसकी बनावट, प्रकृति और सभी कुछ एक रहस्य-सा है। यही स्थिति संस्कृति की भी है।

संस्कृति शब्द बड़ा व्यापक है। उसका स्वरूप निर्धारित करने में विद्वान एक मत नहीं हैं। समाजशास्त्री, साहित्यकार, इतिहासकार और नृतत्त्व वैज्ञानिक भिन्न-भिन्न परिभाषायें प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सभी उन अन्धों के समान हैं जिन्हें हाथी की रूपरेखा और आकार का ब्योरा देने का काम सौंपा गया हो। छूने से जिसे जो स्थिति मालूम हुई उसके अनुसार हाथी का स्वरूप वैसा ही बन गया।

संस्कृति का अभिधेयार्थ सम्यक् कृति, अच्छा करना, श्रेष्ठतर बनाना, सुधारना, संशोधित करना अथवा परिमार्जित करना माना गया है। इस प्रकार संस्कृति का अर्थ मन का विकास, रुचि का सुधार, आचार-विचार का परिमार्जन और विवेक का संवर्धन है।

यह परिभाषा स्पष्टतः यह मान कर चलती है कि संस्कृति किसी पूर्व अवस्था में लाए गए सुधार का परिणाम है। फलतः संस्कृति से पहले और संस्कृति के बाद के दो विभिन्न स्तर बनते हैं, जिसके अनुसार किसी व्यक्ति या समूह की संस्कृति का मान-दण्ड उसका ज्ञान, उसका साहित्य, संगीत एवं कला से प्रेम या व्यवहार के संस्कार है। या यों कहें कि संस्कृति उन व्यक्तियों के समूह के कलात्मक तथा बौद्धिक विकास का नाम है।

किन्तु संस्कृति से पूर्व और संस्कृति के उपरान्त की पृथक् अवस्थाओं को मानना उचित नहीं है। संस्कृति मानव के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन की रीति का नाम है, जिसकी न तो कोई पहले की स्थिति होती है, और न ही बाद की परिमार्जित

अथवा परिष्कृत स्थिति ही। जीवन को उसका वास्तविक मूल्य प्रदान करने वाले तत्त्व संस्कृति हैं, अतः मानव के वे सब संस्कार जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए समाज के सर्वांगीण जीवन का निर्माण करते हैं, संस्कृति के अंग हैं। यदि सरल शब्दों में कहें, तो हम क्या करते हैं, क्यों करते हैं, कसे करते हैं, हमारे कार्य किन विचारों, भावों, इच्छाओं और उद्देश्यों से प्रेरित हैं और हम किस प्रकार जीते हैं अर्थात् हमारे सोचने और करने के सारे व्यवहार-प्रकार संस्कृति हैं। इसमें व्यक्ति, देश, समाज और जाति की आत्मा निहित है, उनके चिन्तन-मनन, रहन-सहन, वेश-भूषा, कला-कौशल, सभी का समावेश है। हमारे वेदन, भावना, अनुभूति, अभिव्यक्ति, आस्था, निष्ठा, आकांक्षा, इच्छा और कार्य संस्कृति द्वारा प्रेरित हैं, हम इसी से ज्ञान, विश्वास, कला, आचार-विचार, विधिविधान और रीतिरिवाज को ग्रहण करते हैं, इस प्रकार संस्कृति जन्म-प्रसूत भी है, और ज्ञान-प्रसूत भी। वह वैयक्तिक भी है, वर्गगत और जातिगत भी है।

संस्कृति के निर्माण में भूगोल और इतिहास का वहुत बड़ा हाथ रहता है। मूल रूप में संस्कृति समस्त संसार में एक समान है। क्योंकि जैसा वेस्टर मार्क ने कहा है, "अन्ततः मनुष्य एक ही जीव श्रेणी का प्राणी है। मनुष्य का चित्त एक रूप है, उसकी अवगतियां और उदात्तीकरण की वृत्तियां समान मार्ग से चलती हैं। उसकी अवनर्मिल (Abnormal) और उन्नर्मिल (Subnormal) अवस्थाएं निश्चित परिस्थितियों में समान रूप से क्रियाशील होती हैं। जीव तात्त्विक संवेग समान भाव से सर्वत्र मानस सूक्ष्म-वोधों को उकसाते हैं, अतः व्यक्तिगत स्तर पर वैविध्य होने पर भी मानव चित्त एक है। मनुष्य चाहे पूर्व का हो या पश्चिम का, वह भले ही जापान, चीन का निवासी है, या अमेरिका और यूरोप का, वह मिस्र में रहता है या आस्ट्रेलिया में, वह अदृष्ट दैवी शक्ति से भयभीत है, अनागत का उसे डर है, अतीत के प्रति उसमें अगाध श्रद्धा है और रूढ़ियों में उसे विश्वास है किन्तु भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणों से उसमें वैविध्य भी काफी आ गया है और ज्यों-ज्यों जो वर्ग और समुदाय विज्ञान और टेकनोलोजी के क्षेत्र में अधिक उन्नति करता है, उसका सांस्कृतिक स्तर अन्य वर्गों और जातियों से उसी अनुपात में भिन्न होता जाता है।

भारतवर्ष अपने में एक महाद्वीप हैं। इसकी संस्कृति को सामान्यतः तीन भागों में बांटा जाता है : (1) पार्वतीय सीमान्तक, (2) सिन्धु-गांगेय प्रदेशीय तथा (3) दक्षिणी। इन तीनों क्षेत्रों की मूल संस्कृति का एक स्वर है, एक स्रोत है, किन्तु भौगोलिक और ऐतिहासिक विभिन्नता के अनुरूप इन उप संस्कृतियों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी है और प्रत्येक अपनी-अपनी विशेषतायें भी हैं। आश्चर्य की वात यह है कि इन तीन उप संस्कृतियों की जो प्रमुख विशेषतायें हैं, वे सभी किसी न किसी रूप में हिमाचल में मिलती हैं। जैसा कि हम पूर्व अध्यायों में देख चुके हैं, जातीय और राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से हिमाचल अपने आप में लघु भारत है। भारत की प्रायः सभी जातियों का आगमन यहां हुआ। देश के सभी राजनीतिक परिवर्तनों में यह

प्रदेश भागीदार रहा और उसके सभी सांस्कृतिक और धार्मिक आन्दोलनों से यह प्रभावित होता रहा। इसके बावजूद इसका अपना पृथक् अस्तित्व और विशिष्ट व्यक्तित्व बना रहा है। सही अर्थों में हिमाचल प्रदेश एक शीतागार (कोल्ड स्टोर) की तरह है जिसमें जो वस्तु भी रखी गई, वह सही सलामत अपनी पूर्व अवस्था में पड़ी रही है। यही कारण है कि समूची भारतीय संस्कृति अपने पूर्ण वैभव में इस क्षेत्र में उपलब्ध है। यहां पर लोक संस्कृति का लगभग वही रूप वर्तमान है जो तमिलनाडु में है, असम की पहाड़ियों में है, गंगा के किनारे और पंचनदीय क्षेत्र में है। कलात्मक अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यमों ने मुक्त वातावरण में निर्बाध ढंग से यहां विकास के अवसर पाये हैं। यहां अनुपम, अनूठे चित्र चित्रित किए गए, भव्य मूर्तियों का निर्माण हुआ और संगीत की विशिष्ट स्वरलहरी से देश का वायुमंडल गुंजारित किया गया है। इसके अतिरिक्त हिमाचली संस्कृति की कतिपय अपनी विशेषतायें हैं, जिसने समग्र रूप में अखिल भारतीय संस्कृति को गौरव प्रदान किया है। हिमाचली संस्कृति की पृथक् चर्चा करने का अभिप्राय उन क्षेत्रीय विशेषताओं को दिखाना है।

समूचे देश की भांति हिमाचल प्रदेश को भी तीन भागों में बांटा जा सकता है :

(1) सीमान्त क्षेत्र, जिनके अन्तर्गत लाहुल-स्पिति और किन्नौर आते हैं।

(2) मध्य खण्ड, इसमें सिरमौर, महासू, सुकेत, मंडी, कुल्लू, कांगड़ा का पूर्वोत्तरी भाग और चम्बा के इलाके हैं।

(3) शिवालिकीय पट्टी प्रदेश में नालागढ़, बिलासपुर, ऊना और कांगड़ा का दक्षिण-पश्चिमी भाग सम्मिलित है।

सीमान्त प्रदेश में भारतीय संस्कृति का सीमान्त रूप मिलता है। लाहुल स्पिति और किन्नौर में किन्नर-किरात-मोट तत्त्वों के ऊपर हिन्दू एवं लामा बौद्ध परम्पराओं का सम्मिश्रण हुआ है। वहां पर हिन्दू और बौद्ध मान्यताएं और जीवन-पद्धतियां इस प्रकार घुलमिल गई हैं कि यह कहना कठिन हो गया है कि मूल रूप में कौन किससे प्रेरित है। मलाणा में किसी प्राचीन संस्कृति के अवशेष आज भी प्राप्य हैं।

मध्य खण्ड में अर्ध पौराणिक, अर्ध वैदिक और अर्ध लोक संस्कृति की अपूर्व खिचड़ी है। यहां का एक व्यक्ति यदि सीताराम राधेश्याम के नामोच्चारण को अपशकुन समझ यह कहता है कि :

"गीआ न लामणू
झझोटी न बामणू,
दोती दोती राधेशाम सीताराम,
ऐहा कौरी तेरे पारी पांडो भाई छेथो
एबे रोहो होऊं छेंपों।"

(भाई, तुम यह करते क्या हो, अतः उठकर न गीत गाते हो न लामण, झझोटी

और बामणू जैसे अन्य प्रेम गीतों का गान करते हो। पहला काम तुम राधेश्याम सीताराम को जपने का करते हो। तुम्हारे इसी परम्परा विरुद्ध कार्य करने के फलस्वरूप सामने के मकान में रहने वाले भाई की मृत्यु हो गई, अब क्या तुम यह चाहते हो कि मेरा भी अन्त हो जाए ? तो दूसरा व्यक्ति भक्ति भाव से विभोर होकर उन्हीं राधेश्याम या सीताराम से अनुनय विनय कर कहता है कि :

भीलणी दे कोकणु बी मिटठे करी चखी गेया,
ब्राह्मण सुदामा कच्चा भत्त खाई तारेया,
कोवणु दी मरी गई छोई की ज्वाल दित्ती,
हाथिए की तन्दुए दे ग्राहे ते निकाले या,
थम्मणे की फाड़ी परल्हादुए की लाज राखी,
दँते हरनाकशे की नक्खां संग फाड़ेया,
इयां मिज्जो देखुए की तार गाजे जदुनाथ,
तां तिज्जो जाणा मैं मोर मुकुट वालेया।

(हे मोर मुकुट वाले यदुनाथ, मैं तुम्हें तारनहार तभी मानूंगा यदि तुम मुझे भी भीलनी, सुदामा, गज और प्रह्लाद की तरह अपना लो।)

शिवालिकीय क्षेत्र पर सिन्धु-गांगेय प्रदेशीय संस्कृति की अपेक्षाकृत अधिक छाप है, जो नृत्य के प्रति दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाती है। नृत्य हिमाचल प्रदेश के सीमान्त और मध्य खण्ड के मानव का स्वभाव है। मंडलाकार नाच अथवा नाटी उसकी सांस्कृतिक परम्परा का प्रमुख बाह्य प्रकाशन है, जब कि शिवालिकीय पट्टी का हिमाचली नाटी से उतना लगाव नहीं रखता। उसके मेलों में मनोरंजन के अनेक साधन हैं, किन्तु नाच का, नाटी का नितान्त अभाव है। इसी प्रकार उसके मेलों में देवता अपने दलबल सहित रथ पर आरूढ़ हो उपस्थित नहीं होता है। वह अपने मंदिर के एकान्त में अपनी समाधि में कहिए चाहे अपने देवत्व की गरिमा में मग्न रहता है। वह जनता के सामाजिक जीवन के प्रति निर्लिप्त-सा है, उसमें भाग नहीं लेता है।

प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक काल में इस क्षेत्र ने देश के अन्य भागों की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक उथल-पुथल में कन्धे से कन्धा मिलाकर बराबर का भाग लिया। यह इसीलिए संभव हुआ कि जालन्धर तक का इलाका लम्बे अर्से तक उसका ही एक भाग था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश के बाकी प्रान्तों की तरह हिमाचल प्रदेश में भी संस्कृति यह मानती है कि उसके द्वारा मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर अपने आप को सामाजिक आचार चेतना के अनुरूप ढालता है। इसकी प्राप्ति के लिए ज्ञान, इच्छा और क्रिया, तीनों का सन्तुलित सामंजस्य आवश्यक है। ज्ञानयोग का विस्तार होता है, और भक्तियोग इच्छाओं और आकांक्षाओं पर नियंत्रण

करता है। कर्मयोग उसे सत्य अनुसरण और निष्काम कर्म करने के लिए प्रेरित करता है।

कठोपनिषद् के अनुसार इच्छा के दो भेद हैं—श्रेय और प्रेय। श्रेय आत्मा के कल्याण की ओर ले जाती है जबकि प्रेय सांसारिक, भौतिक सुखों की उपलब्धि को अपना चरम लक्ष्य समझती है। अपने उच्च स्तर पर भारतीय संस्कृति का आदर्श श्रेय रहा है। यह अनेक पौराणिक और औपनिषदिक गाथाओं से सिद्ध होता है। गौतम बुद्ध, मैत्रेयी और नचिकेता की वार्ताओं से यह शिक्षा मिलती है कि श्रेय सदा प्रेय से श्रेष्ठ है। बालक नचिकेता ने यमराज से मृत्यु और जीवन का रहस्य जानना चाहा था। यमराज ने उसे समझाया कि वह अबोध है, इस रहस्य को समझने की अपेक्षा वह यह वरदान ले ले कि उसे संसार के सारे सुख और वैभव प्राप्त हों। नचिकेता ने इसे यह कह कर ठुकरा दिया कि सुख-समृद्धि के इन साधनों से उसकी आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार मैत्रेयी ने भी पति महर्षि याज्ञवल्क्य के वानप्रस्थ धारण करने के उपरान्त दिए गए धन-दौलत के उपहार को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि उसकी आत्मा भी अमरत्व के लिए उसी तरह लालायित है जैसा कि उसके पति की।

इसी श्रेय और प्रेय के प्रति दृष्टिकोण से शिष्ट वर्गीय और लोक आधारित संस्कृति का विभाजन हो सकता है। राजाओं-राणाओं द्वारा विशाल मन्दिरों, भव्य मूर्तियों और धार्मिक चित्रों का सृजन जहां श्रेय के लिए कराया गया प्रतीत होता है, वहां हिमाचल में साधारण लोगों को केवल प्रेय अभीष्ट है। उसे भौतिकता के प्रति आकर्षण है, उसे इस संसार में सुलभ होने वाले सुखों का अधिक मोह है। मोक्ष उसकी गणना में गौण स्थान पर है। उसकी भक्ति मुक्ति के लिए नहीं है, आराध्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए नहीं है। उसका ज्ञान परलोक या इहलोक के प्रति अधिक जिज्ञासा उत्पन्न नहीं करता है। उसकी भक्ति, उसका कर्म, उसकी इच्छा इस लोक की सुख-समृद्धि को प्राप्त करने के लिए है। ऐसा जान पड़ता है कि आत्मा अथवा मस्तिष्क की अपेक्षा उसे अपने शरीर और मन की अधिक चिन्ता है। भौतिकता उसका आराध्य है, आध्यात्मिकता के प्रति वह उदासीन है।

इस प्रकार हिमाचल प्रदेश में हमें संस्कृति की दो समान धारायें परिलक्षित होती हैं। एक धारा समाज के सुसंस्कृत, शिष्ट अथवा तथाकथित उच्चवर्ग में प्रवाहित है, जिसे शास्त्रसम्मत कहा जा सकता है, दूसरी शेष वर्गों में जिसको लोकाश्रित कह सकते हैं, हरमन गोयतज जैसे कलाविदों ने जातियों के आधार पर ही हिमाचली संस्कृति का वर्गीकरण किया है और उसकी चार तहें में से दो तहें कोलियों की, तीसरी कनैतों की और चौथी राजपूतों और ब्राह्मणों की मानी है, किन्तु इस प्रकार का वर्गीकरण स्पष्टत: भ्रामक है। जैसा हम देख चुके हैं, सभी आदि प्राचीन और अर्वाचीन जातियों, समुदायों और वर्गों का यहां पर इस प्रकार समन्वय हुआ है कि कोई भी वर्ग अपने आपको अछूता नहीं कह सकता है। यदि वर्ग समन्वित हैं, तो उनकी संस्कृति भी

समन्वित ही होगी।

इस समन्वित संस्कृति के दो धरातल हैं। एक धरातल पर लगभग समूची जनता खड़ी है, दूसरे धरातल पर कतिपय वे वर्ग जो शासन अथवा धर्म के साथ निकट से सम्बन्धित रहे। इसी दूसरे वर्ग को ही हम शिष्ट वर्ग कह सकते हैं, क्योंकि इसने इच्छा, क्रिया और ज्ञान द्वारा अपने संस्कारों का परिमार्जन किया है। इन वर्गों के कुछ एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं जिन्हें आसपास के प्रदेश से सुगमता से पृथक् किया जा सकता है। धार्मिक एवं कलात्मक दृष्टि से निम्नांकित केन्द्र प्रमुख हैं :

(1) नगरकोट, कांगड़ा	(कांगड़ा)
(2) टीरा सुजानपुर	(कांगड़ा)
(3) भ्रमौर	(चम्बा)
(4) नग्गर-जगत सुख	(कुल्लू)
(5) निर्मंड	(कुल्लू)
(6) कोठी	(किन्नौर)
(7) हाटकोटी	(महासू)
(8) रेणुका	(सिरमौर)
(9) उदयपुर	(लाहुल)
(10) ममेल-काव	(मंडी)

उपर्युक्त सभी स्थान काफी प्राचीन हैं। टीरा सुजानपुर को छोड़, अन्य सभी केन्द्र कम से कम हजार दो हजार वर्षों से इस समूचे भूखंड में वैदिक और पौराणिक संस्कृति के उत्स रहे हैं। इन्हीं केन्द्रों से भारत की श्रेयमयी संस्कृति का अन्य स्थानों में प्रसार हुआ है, ये सभी जगह संभवत: आर्यों की बस्तियां भी रही हों। यही कारण है कि आर्येतर जनसंख्या आज भी इन केन्द्रों की ओर श्रद्धा की दृष्टि से देखती है और नगरकोट, भ्रमौर एवं निर्मंड जैसे स्थान 'पहाड़ी की काशी' कहलाते हैं। मानचित्र देखने से मालूम हो जाएगा कि इन नगरियों की भौगोलिक स्थिति महत्त्वपूर्ण है। वे एक ओर सामरिक दृष्टि से सुरक्षित क्षेत्र में हैं, दूसरी ओर वहां आनाजाना भी सुगम है। अत: एक ने इन्हें चिर स्थायित्व दिया, तो दूसरी भौगोलिक सुविधा ने इन्हें निकटवर्ती जनता के लिए आकर्षक विन्दु बना दिया है। लम्बे समय तक ये शास्त्रीय शिक्षा-दीक्षा और कर्मकांड के अत्यन्त प्रभावशाली स्थल रहे हैं।

नगरकोट सात-आठ शताब्दियों तक बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां का विहार देश के गिने-चुने विहारों में गिना जाता था, और दूर-दूर से विद्यार्थी और भिक्षु वहां शिक्षा ग्रहण करने आते थे। नग्गर जगत सुख भी ईसा पूर्व दो-तीन शताब्दियों से लेकर सातवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म का इस पहाड़ी इलाके में महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। बाद में नगरकोट और नग्गर दोनों निर्मंड, भ्रमौर, हाटकोटी और कोठी की तरह शिव और शक्ति की पूजा के अग्रणी स्थान बन गए। उदयपुर बौद्ध, वैष्णव तथा शैव

भारत के तीनों प्रमुख धार्मिक आन्दोलनों का मिलन-स्थल है, जहां वे आज भी एक-दूसरे के साथ पूर्ण सद्भाव से वर्तमान हैं।

इसी प्रकार भूतपूर्व रियासतों की राजधानियां वम्वा, नूरपुर, हरिपुर, गुलेर, कांगड़ा, टीरा सुजानपुर, मंडी, सुकेत, सुलतानपुर, रामपुर, कोटखाई, जुब्बल, नाहन, बिलासपुर और नालागढ़ भी शास्त्र-सम्मत संस्कृति के गढ़ रहे हैं। जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे, इन्हीं स्थलों पर हिमाचली कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। इन्होंने इस प्रदेश में अभिजात वर्ग की संस्कृति का विस्तार करने में प्रकाश-स्तम्भ का काम किया है।

संस्कृति के धरातलों और धाराओं की चर्चा करते हुए हमें सदैव यह ध्यान रखना होगा कि उन सबका मूल एक ही है, भूमि समान है। जो शिष्ट वर्ग भी हैं, उनके अन्तर्मानस में भी वे संस्कार हैं जो सामान्य जनता अथवा लोक में हैं। भले ही वे श्रेय की प्राप्ति पर जोर दें, किन्तु प्रेय को भी वे किसी न किसी रूप में प्राप्त करना चाहते हैं। विष्णु और शिव के विशाल मन्दिरों में जाकर वे पूजा-अर्चना करते हैं, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय देवता और नाग को रिझाना भी वे अपने अस्तित्व के लिए मंगलकारी समझते हैं। यो भी अभिजात संस्कृति लोक संस्कृति में गुम्फित होती है, उससे प्रस्फुरित होती है, पैदा होती है। लोकाचार, स्त्री-आचार आदि का केवल मात्र स्रोत तो लोक संस्कृति ही है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि अभिजात वर्ग की संस्कृति लोक संस्कृति से ऊंची है। इसलिए लोक संस्कृति उससे हीन है। सच्चाई यह है कि एक ही समाज के उच्च और निम्न वर्ग, नागरिक और ग्रामीण संस्कृति के विभिन्न स्तर पर एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे को संवल प्रदान करते हैं।

संस्कृति का प्रतिविम्व धर्मोपासना में ढलकता है। हिमाचल में शास्त्र-सम्मत धर्म और लोक धर्म दोनों की परम्परायें समान रूप से अपना अस्तित्व वनाए हुए मिलती हैं। इस वात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि पूजा, व्रत, त्यौहार, धार्मिक संस्कारों आदि दृष्टि से यहां हिन्दू धार्मिक तथा शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण किया जाता है, किन्तु लोक में अनेक ऐसी धार्मिक प्रवृत्तियां भी विद्यमान हैं जो शास्त्रीय पद्धति से असंबंधित हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के उद्दीपन और संवर्धन के लिए कतिपय उपकरणों की उद्भावना की गई है, जिनमें मन्दिर, देवीदऊ के देहरे जातरे, जांचे और त्यौहार उत्सव हैं।

विभिन्न धर्मों और मतों के प्रचार और प्रसार में साधु, सन्तों, योगियों, वैरागियों, सिद्धों और नाथों ने यहां वहुत काम किया है। ये सिद्ध महात्मा देश-भ्रमण, कैलाश-यात्रा, हिमालय-दर्शन और तप-तपस्या के सिलसिले में इस प्रदेश में आते-जाते रहे, और अपने प्रवचनों, सत्संगों और चमत्कारों के द्वारा जनजीवन को प्रभावित करते रहे हैं। उपर्युक्त सांस्कृतिक केन्द्रों से तो आज भी देश के अन्य भागों के योगियों और साधुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है, जहां वे ग्रीष्मकाल और चातुर्मास्य में आते रहते हैं।

खालसा—परम्परा के अनुसार देश के प्रसिद्ध धर्माचार्यों और प्रवर्त्तकों में से परशुराम, बुद्ध, आचार्य मज्झिम थेर, शंकराचार्य, गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, चरपटनाथ, कबीर, कृष्ण दाय, पेयहारी बाबा, नानक और दूसरे सिख गुरुओं ने यहां आकर धर्म-प्रचार का कार्य किया। गुरु गोबिन्दसिंह ने तो पांवटा साहिब में रह कर ग्यारह वर्ष बिताये और अपनी प्रमुख कृतियों की रचना की। कहा जाता है कि गुरु ने 'देही शिवा वर मोहे एही, शुभ करमण तों कबहिं न टरों' पंक्तियों वाले प्रसिद्ध शिव स्तोत्र को हिमाचली भूमि पर लिखा था। गुरु रामदास के आगमन की स्मृति को बनाए रखने के लिए सिरमौर की पछाद तहसील के चौकी गांव में अभी तक झण्डा मेला मनाया जाता है जिसका उद्देश्य गुरु के सन्देश का प्रचार करना है।

वास्तव में 'खालसा' का जन्म ही हिमाचल प्रदेश में हुआ है। गुरु गोविन्दसिंह ने कल्हूर राज्य के आनन्दपुर नामक स्थान पर सर्वप्रथम दयाराम, साहिबराम, मोहकमचन्द, धर्मदास और हिम्मतराम को खालसा में दीक्षित किया था और तभी अपना नाम भी गोविन्दराय से बदल कर गोविन्दसिंह रखा था। बिलासपुर, नालागढ़ और ऊना का क्षेत्र खालसा की शैशव अवस्था की क्रीड़ास्थली रहा है।

बौद्ध धर्म—बौद्ध धर्म के साथ इस प्रदेश का सम्बन्ध आरंभ से ही रहा है। मंडी का रिवालसर भारतीय एवं तिब्बती बौद्धों के लिए उतना ही पवित्र तीर्थस्थान है, जितने बुद्ध गया, कुशीनगर, लुम्बिनी और सारनाथ हैं। कांगड़ा, कुल्लू, मंडी और सिरमौर में बौद्ध संस्कृति और धर्म के अनेक अवशेष प्राप्य हैं।

परम्परा यह बतलाती है कि भगवान बुद्ध अपने देशाटन और धर्म-प्रचार के सिलसिले में इस प्रदेश में आए थे। त्रिगर्त और कुलूत में उनके आने के ऐतिहासिक प्रमाण भी कुछ लेखकों ने उद्धृत किए हैं। चीनी यात्री युवान च्वांग ने अपनी कुलूत-यात्रा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि सम्राट अशोक ने कुल्लू घाटी के मध्य में भगवान बुद्ध के उस क्षेत्र में आगमन की पुण्य स्मृति में एक स्तूप बनवाया था। वह स्तूप सातवीं शताब्दी ईसवी तक, जब युवान च्वांग यहां आया था, विद्यमान था। इसी प्रकार का एक स्तूप कांगड़ा में धर्मशाला से लगभग छ: मील दूर चेतरू में अब भी देखा जा सकता है। स्थानीय लोग इसे 'भीमटीला' कहते हैं। इस 'टीले' का घेरा 830 फुट है और यह मांजी और गुरलू नालों के संगम पर टूटे-फूटे हाल में है। इसी स्थान पर, कुछ वर्ष हुए, बुद्ध की मूर्ति और एक खंडित सिर भी प्राप्त हुए थे। चाड़ी के स्थान पर वाराहमुखी मारीची वज्रवारा ही की मूर्ति मिली है। यह मूर्ति छठी शताब्दी की मानी जाती है। उसी की समकालीन अष्टधातु की एक फुट लम्बी बुद्ध-मूर्ति नूरपुर में फतहपुर के स्थान पर मिली है।

महावंश में उल्लेख है कि सम्राट अशोक ने आचार्य मज्झिम थेर को चार सहयोगियों सहित इस प्रदेश में धर्म-प्रसार के लिए भेजा था। आचार्य थेर के ये सहयोगी कस्सपगोत, दुन्दुभिसार, सहदेव और मूलक देव थे। कहा जाता है कि उन्होंने कांगड़ा, कुल्लू, सिरमौर और शिवालिक क्षेत्र में धर्म-प्रचार किया था।

ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शताब्दी के कनिहारा अभिलेख में जिस आराम का उल्लेख है, वह संभवतः बौद्ध विहार ही रहा होगा। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि सातवीं शताब्दी में जब युवान च्वांग कांगड़ा आया तो उस समय यहां 50 बौद्ध मठ थे, जिनमें 2,000 भिक्षु रहा करते थे। च्वांग के अनुसार कुल्लू में 20 के लगभग बौद्ध संघ विहार थे, जिनमें 1,000 भिक्षु रहा करते थे। सुलतानपुर कुल्लू से कुछ मील उत्तर की ओर कपिल मुनि के मन्दिर में आज भी अवलोकितेश्वर की पाषाण-मूर्ति की पूजा की जाती है।

पूर्व की ओर प्राचीन सिरमौर की राजधानी सिरमौरीताल में अन्य भग्नावशेषों में एक जीर्णशीर्ण बौद्ध मन्दिर भी है। युवान च्वांग के वर्णन से मालूम होता है कि तब यह क्षेत्र स्रुघ्न नाम से जाना जाता था। थानेसर से यह क्षेत्र 66 मील उत्तर-पूर्व की ओर स्थित था। इसका क्षेत्रफल तब 1,000 वर्गमील था और इसकी पूर्वी सीमा गंगा को छूती थी। यमुना नदी इस प्रदेश के मध्य भाग में बहती थी। यहां पांच बड़े विहार थे, जिनमें 1,000 भिक्षु निवास करते थे। कनिंघम के विचार में स्रुघ्न प्रदेश सिरमौर और गढ़वाल की पहाड़ियों में गिरि और गंगा नदियों के बीच के भू-भाग में स्थित था और राजधानी पांवत में कालसी के निकट संभवतः सिरमौरी ताल में ही थी। यह धारणा वहां प्राप्त बौद्ध अवशेषों से भी पुष्ट होती है। च्वांग ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि यहां महात्मा बुद्ध स्वयं पधारे थे और शास्त्रार्थ में एक विद्वान ब्राह्मण को हराया था, जिसके फलस्वरूप यह सारा प्रदेश बौद्ध धर्मानुयायी हो गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के थोड़े दिनों के उपरान्त ही यह पुनः ब्राह्मण धर्मावलम्बी बन गया। किन्तु शीघ्र ही एक बार फिर बौद्ध धर्म के मूर्धन्य आचार्यों ने यहां अपने मत की स्थापना की।

कांगड़ा, कुल्लू और सिरमौर के बौद्ध विहारों में महायान और हीनयान के प्रकांड विद्वान रहा करते थे। कांगड़ा के विहारों में बौद्ध धर्म की इन दोनों शाखाओं के पठनपाठन की सुविधा थी, किन्तु कुल्लू के विहार मुख्यतः महायानियों के अधिकार में थे और सिरमौर के मठों में हीनयानियों का जोर था। युवान च्वांग ने त्रिगर्त जालन्धर के नगर धन विहार में आचार्य चन्द्रवर्मा के पास चार महीने विद्याध्ययन किया था। सिरमौरी ताल क्षेत्र में उसने आचार्य जयगुप्त के पास शरद् ऋतु से लेकर वसन्त ऋतु तक के छः मास शास्त्रों के अध्ययन में बिताए थे। उस समय यहां हीन-यानियों का प्रमुख केन्द्र था, जहां उनके मत के कुशल व्याख्याकार आचार्य रहा करते थे। देश-विदेश से इन गुरुओं के पास विद्वान, जिज्ञासु और भिक्षु अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए आया करते थे।

त्रिगर्त का उदिल नाम का एक राजा बौद्ध धर्म में दीक्षित हो, उसका प्रबल संरक्षक रह चुका था। आठवीं शताब्दी में जब कोरियाई यात्री हयीचो जालन्धर त्रिगर्त आया, तब तक इस क्षेत्र में महायान और हीनयान, दोनों फलफूल रहे थे और उनके अनुयायियों के अनेक विहार थे।

बौद्ध धर्म के कतिपय अन्वेषकों के मत में महान बौद्ध तांत्रिक पद्म संभव का जन्म रिवालसर में हुआ था और इस कारण रिवालसर का तिब्बती भाषा का अर्थ पद्मा है। इनका कहना है कि सन् 747 ईसवी में तिब्बत में आने का निमंत्रण दिया। तिब्बत में तब निग्-मा-पा पंथियों का प्राधान्य था। ये लोग जादू-टोनों में विश्वास रखते थे। आचार्य शान्त रक्षित जब तिब्बत पहुंचे, तो दुर्भाग्यवश वहां आंधी, तूफान और महामारी जैसी प्राकृतिक व्याधियों का प्रकोप हो गया। निग्-मा-पाओं ने इस स्थिति से लाभ उठा यह प्रचार किया कि शान्त रक्षित और उसके धर्म पर स्वयं देवता क्रुद्ध हैं और ये व्याधियां उनके प्रकोप का फल हैं। इन सबकी जिम्मेदारी शान्त रक्षित पर है और जब तक वह तिब्बत में रहेगा, देश की हानि ही होगी। उन्होंने शान्त रक्षित को तिब्बत से निष्कासित करने का जोरदार अभियान आरम्भ कर दिया।

ख्री-स्रोङ-लुद-ब्चन् और शान्त रक्षित परस्पर विचार-विमर्श के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जादू-टोनों में विश्वास रखने वाली *प्रजा केवल तांत्रिक विद्या के चमत्कार से प्रभावित हो सकेगी, अतः यह उचित होगा कि भारत के किसी प्रमुख तांत्रिक को निमंत्रण दिया जाये। फलस्वरूप तन्त्रयान के प्रबल समर्थक, उत्तरपथ के महान तांत्रिक पद्म संभव को निमंत्रित करने का निर्णय किया गया। कतिपय विद्वान पद्म संभव की जन्मभूमि पश्चिम में स्वात नदी की उपत्यका मानते हैं, किन्तु तिब्बती बौद्धों तथा लाहुल-स्पिति और अन्य सीमान्तक भारतीय बौद्धों की रिवालसर के प्रति श्रद्धा को देखकर यह अनुमान लगाया गया है कि आचार्य पद्म संभव का जन्म संभवतः रिवालसर में ही हुआ हो।

जनश्रुति यह भी है कि महात्मा बुद्ध मंडी बिलासपुर में नबाही, मौंही देहरी और कुलवाड़ी स्थानों में कुछ दिन ठहरे थे। माना यह जाता है कि यदि नबाही, मौंही, नगरोटा (बलद्वारा) और मतौली जैसे ग्रामों में खुदाई की जाए तो पर्याप्त मात्रा में बौद्ध संस्कृति के अवशेष एवं चिह्न प्राप्त हो सकते हैं। मौंही में पत्थर पर उभारी गई एक मूर्ति मिली है जिसमें एक पुरुष ध्यान-मुद्रा में स्थित रथ पर बैठा है। पास में एक दीपधारिणी यक्षणी भी मिली है। स्थानीय लोगों के अनुसार रथवाली मूर्ति रिवालसर के देवता की है, जिससे इस संभावना को बल मिलता है कि वह पद्म संभव की हो। तिब्बती मान्यताओं में गुरु रिम्पोछे (पद्म संभव) उड़ने वाले घोड़े पर बैठ कर ध्यान किया करते थे। यह भी कहा जाता है कि पद्म संभव के जो भी चित्र या मूर्तियां मिली हैं, उनमें उन्हें हिमाचली टोपी पहने दिखाया गया है। टोपी की बात तो खैर कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्राचीनकाल में सभी महात्मा पंडित और सिद्ध पुरुष वर्तमान हिमाचली टोपी की आकृति की टोपियां पहना करते थे।

उपर्युक्त विवेचन से हम देखते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईसा उपरान्त आठवीं शताब्दी तक के तेरह-चौदह सौ वर्षों में बौद्ध धर्म सम्पूर्ण हिमाचल प्रदेश में फलता-फूलता रहा है। इस अवधि में अनेक शासक बौद्ध धर्मानुयायी बने, सैंकड़ों मठ और विहार बने और सहस्रों भिक्षुओं ने यहां रहकर ज्ञानोपार्जन किया है।
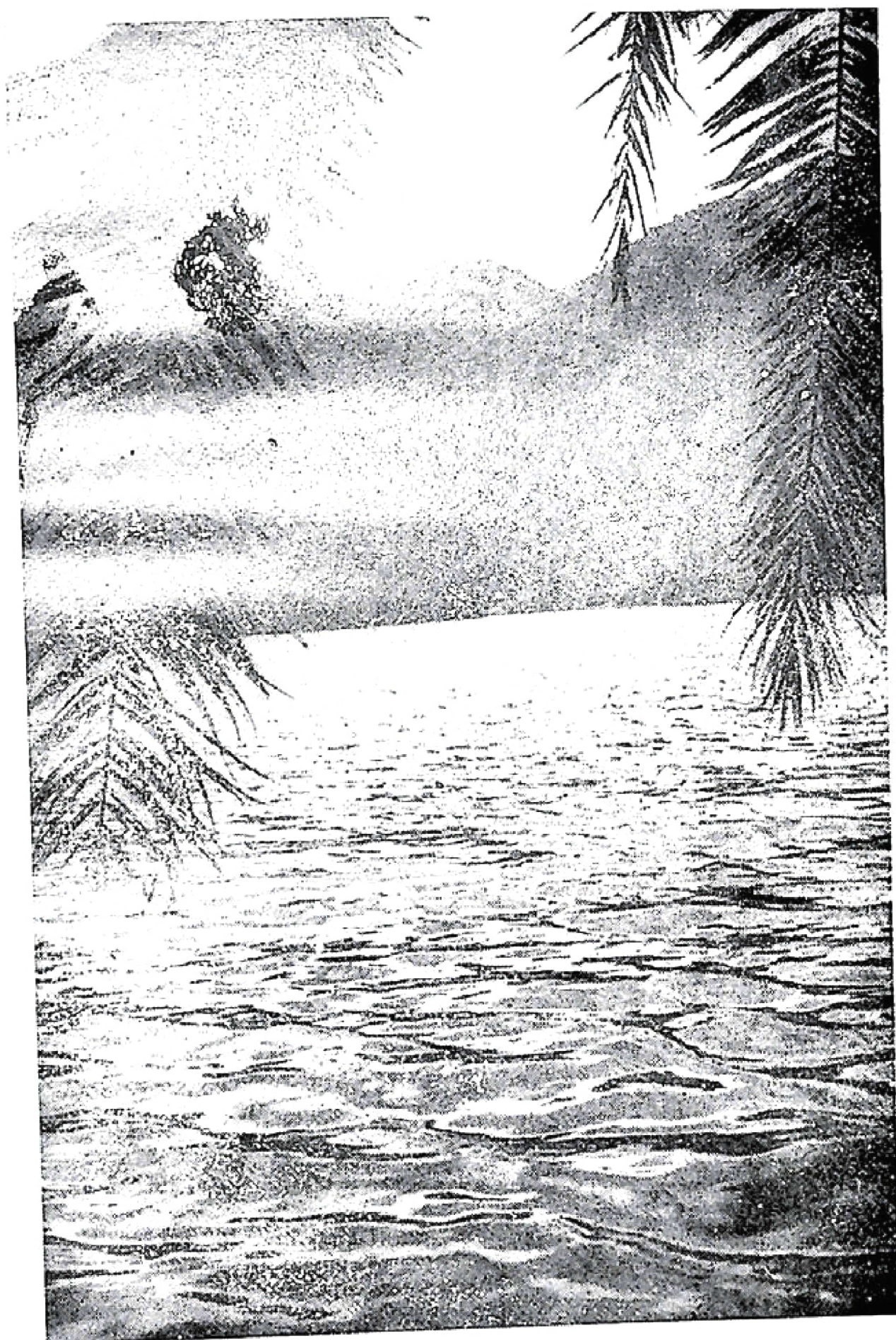
युवान च्वांग ह्वी-चो की साक्षी सेकांगड़ा, कुल्लू और सिरमौर में बौद्ध और ब्राह्मण-हिन्दू धर्म साथ-साथ विकसित होते रहे हैं। कुल्लू में जो 20 बौद्ध विहार थे, उनके आसपास ही अन्य सम्प्रदायों और जातियों के 15 मन्दिर भी थे। इनके अतिरिक्त बड़ी संख्या में गुफायें थीं, जिनमें ऋषि रहा करते थे। युवान च्वांग ने यह भी लिखा है कि स्रुघ्न में पांच बौद्ध विहारों के अतिरिक्त एक सौ देव मन्दिर भी थे।

यह सुखद आश्चर्य की बात है कि बौद्ध धर्म अपने जन्म से लेकर आज तक के अढ़ाई हजार वर्षों में किसी न किसी रूप में हिमाचल प्रदेश में जीवित रहता चला आया है। यहां इस तथ्य का अवश्य ध्यान रखना होगा कि संभवतः किसी काल में भी बौद्ध धर्म इस प्रदेश का केवल मात्र धर्म नहीं रहा है। बौद्ध धर्म के गढ़ लाहुल, स्पिति और किन्नौर में भी हिन्दू और बौद्ध धर्म एक साथ विद्यमान रहे हैं। किन्नौर के मध्य भाग में कोठी गांव तो अबौद्ध देवी-देवताओं और मन्दिरों के लिए आज भी प्रसिद्ध है। उधर लाहुल में केलांग के निकट तांदी गांव पौराणिक संस्कृति के लिए प्रख्यात है। वहां के निवासियों का कथन है कि जब पांडव बन्धु अपने जीवन के अन्तिम दिनों में हिमालयोरोहण पर थे, तब द्रौपदी ने इस गांव में अपना शरीर त्यागा था। यह भी माना जाता है कि भगवान राम के गुरु ऋषि वशिष्ठ की अन्त्येष्टि इसी स्थान पर की गई थी।

किन्नौर, स्पिति और लाहुल में गेलुकपा, डुग्पा, निग्मापा और सस्यापा सम्प्रदायों का प्रभाव है, परन्तु किन्नौर में मठ अधिकांशतः गोलुकपा सम्प्रदाय के ही हैं। स्पिति ही एक ऐसा क्षेत्र है जहां भगवान विष्णु के दस अवतारों में से केवल बुद्ध अवतार की पूजा-अर्चना ही होती है। तावों के प्रख्यात विहार के आठ मंदिरों में से केन्द्रीय मंदिर में वैरोचव और अभिताभ सहित वज्र धातु मंडल की मानवाकार मूर्तियां हैं, यद्यपि दीवार पर मुरली मनोहर का एक भीति चित्र भी है। स्पिति में भी बौद्ध धर्म स्थानीय परम्पराओं से प्रभावित है, इस कारण देवता और दानव पर्वतों, चट्टानों और वृक्षों पर तथा गुफाओं में रहते हैं और इनकी तुष्टि भेड़-बकरियों के बलि प्रदान से की जाती है।

स्पिति का जीवन एक प्रकार से गोम्पा द्वारा नियंत्रित एवं संचालित है और संघ के साथ पूर्ण रूप से गुंफित है। जन्म और मृत्यु से उसका सम्बंध है। परिवार में मृत्यु पर गोम्पा को पैसे, वस्त्र, बर्तन और भोजन सामग्री दी जाती है। जब फसल पक कर तैयार होती है तो सर्वप्रथम भिक्षु को दान दिया जाता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि यदि किसी कारण यहां के जीवन का गोम्पा के साथ का निकट सम्बंध टूट जाए, तो सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था ही छिन्न-भिन्न हो जाए। यदि मठ न रहें, तो ज्येष्ठतम पुत्र को छोड़ अन्य पुत्र कहां जाएं। सबसे बड़े बेटे को तो बाप की जायदाद मिल जाती है, किन्तु अन्य बेटों का तो मठ को छोड़ अन्य आलम्बन ही नहीं है। यदि उन्हें भी पैत्रिक सम्पत्ति का भागीदार मान लिया जाए, तो बटवारे के कारण समूची अर्थव्यवस्था खंडित हो जाएगी।

यह कहा जा सकता है कि 'ओं मणि पद्मे हुम' यहां के जीवन का मूल मन्त्र है, इसी के द्वारा यहां का जीवन चलता है। यह मन्त्र भौतिक दुखों से मुक्ति देता है, पाप ग्रहों का शमन करता है और राक्षसों से रक्षा करता है। यही नहीं, निर्वाण-प्राप्ति में यह सहायता देता है और परलोक में जाकर भी काम आता है। स्पष्टतया यही कारण है कि लाहुल-स्पिति में दीवारों, भीतियों और चोर्टनों पर 'ओं मणि पद्मे हुम' लिखा हुआ मिलेगा।

नाथ और सिद्ध—सातवीं-आठवीं शताब्दियों में देश के अन्य भागों की भांति हिमाचल प्रदेश में बौद्ध धर्म पर तांत्रिक प्रभाव बढ़ता चला गया, और कालान्तर में उसका वज्रयानी स्वरूप नाथों, कापालिकों, तांत्रिकों और वाममार्गियों की सम्पत्ति बन गया। नवीं-दसवीं शताब्दियों में हिमालय की तराई का पूर्व से लेकर पश्चिम तक समस्त भूभाग तांत्रिक मत का क्रीड़ास्थल रहा है।

नाथों और सिद्धों ने देश के धार्मिक जीवन में सुधार लाने का भीष्म प्रयत्न किया था। नाथों के सुप्रसिद्ध गुरु गोरखनाथ ने अपने अनुयायियों, कापालिकों और वज्रयानियों की अनैतिकता और अनाचार के विरुद्ध आवाज उठाई और उन्हें योग द्वारा आत्मसंयम की ओर प्रेरित किया था। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में नाथ सम्प्रदाय जनता में बड़ा प्रिय था। पूर्व में असम और बंगाल से लेकर पश्चिम में पंजाब, उत्तर में नेपाल और दक्षिण में गुजरात और महाराष्ट्र तक उनका प्रभाव था। इस सम्प्रदाय के साधु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते, चमत्कार दिखाते और अपने मत का प्रचार किया करते थे। आरम्भ में नाथ नौ थे और बौद्धों के ८४ सिद्धों में उनकी गिनती की जाती थी। नाथ सर्वत्र योगी या जोगी भी कहलाते रहे हैं।

हिमाचल प्रदेश पर नाथों का बहुत गहरा प्रभाव रहा है। चम्बा नगर के संस्थापक राजा साहिल बर्मा का गुरु चरपत्ति नाथ था। कुल्लू में कृष्णदास पयहारी को वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए नाथों और सिद्धों से कठोर संघर्ष करना पड़ा था। कुल्लू चिरकाल तक नाथों और सिद्धों का अड्डा रहा है। यह इस कारण संभव हुआ कि यहां पहले से ही नग्गर के स्थान पर महायानी बौद्धों का जोर था। महायान समय पाकर वज्रयान में परिवर्तित हो गया जो स्वयं इन नाथों और सिद्धों के लिए अन्तमुक्ति करने में सुगम रहा। परम्परा यह मानती है कि सुलतानपुर का अखाड़ा बाजार मूलतः नाथ बैरागियों ने ही बनाया था। मंडी में 'डूग्घे नाड़े रा सिद्ध', हमीरपुर में 'बाबादयोट सिद्ध', जोगिन्दर नगर में बाबा बालक नाथ का स्थान, सुजानपुर के निकट बालक नाथ का मन्दिर और कांगड़ा में बालक नाथ का टीला, इन नाथों के केन्द्र रहे हैं। इनके अतिरिक्त प्रदेश के अनेक अन्य स्थानों पर सिद्धों और नाथों की मढ़ियां, उनके मन्दिर और राजा भरथरी तथा गोपीचन्द एवं रानी पिंगला और बिरमा के अत्यन्त लोकप्रिय आख्यान, विक्षु, विर्शू, करयाला आदि लोक नाट्यों में नाथों और सिद्धों के चमत्कारों का उल्लेख इनके व्यापक प्रभाव के प्रमाण हैं। नाथ जोगी आज भी पौष मास के द्वितीय पखवाड़े में प्रदेश के कतिपय भागों में रात्रि के प्रथम प्रहर में द्वार-

द्वार पर जाकर राजा गोपीचन्द और भर्तृहरि के विरुद गाते मिलेंगे।

वैष्णव धर्म— इस भूखण्ड में वैष्णव धर्म का प्रवेश गुप्तकाल में ही हुआ परिलक्षित होता है। भ्रमौर में छठी शताब्दी में नरसिंह के मन्दिर की स्थापना हो चुकी थी। वहां के एक तत्कालीन राजा का नाम विष्णु वर्मा था। आठवीं शताब्दी में जब 'कीरों' ने भ्रमौर के प्राचीन राज्य को पराजित किया तो वहां का शासक वैष्णव आधार लिए लक्ष्मी वर्मन नाम का था। सूर्य और कार्तिकेय की पूजा छठी और आठवीं शताब्दियों के बीच में प्रचलित हो गई थी। दसवीं शताब्दी में सूर्य-पूजा सूर्यनारायण या लक्ष्मीनारायण की पूजा में परिवर्तित हो गई थी। विशुद्ध वैष्णव भक्त के प्रसार में कश्मीर के ललितादित्य ने भी बहुत काम किया। त्रिगर्त पर जब उसका अधिकार हुआ तो देश के मैदानी भागों से लाकर विद्वान और सामान्य लोग उसने इस पर्वतीय प्रदेश में बसाये। तब तक अन्यत्र वैष्णव धर्म समृद्धि उपलब्ध कर चुका था फलतः नवागंतुक मुख्यतः इसी धर्म का पालन करने वाले थे।

विष्णु का कृष्ण स्वरूप बारहवीं शताब्दी में लोकप्रिय हुआ और स्वयं कृष्ण का गोपाल वंशीधर रूप 16वीं शताब्दी में उभर कर सामने आया। लोक तक वह केवल 18वीं शताब्दी में ही पहुंच पाया, यद्यपि कांगड़ा के चितेरे राधिकावल्लभ-नन्दगोपाल, मुरलीधर कृष्ण का चित्रण कुछ समय पूर्व से करने लग पड़े थे।

वैष्णव मत की रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत रघुनाथ अथवा रघुवीर की पूजा का प्रचलन 17वीं शताब्दी में मुख्यतः हुआ, जो 7वीं से 16वीं शताब्दियों के बीच नए राज्यों की स्थापना के साथ यह मत यहां प्रविष्ट हो चुका था।

वैष्णव धर्म के सम्बंध में एक विचित्र-सी स्थिति सामने आती है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो जब पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में देश के अन्य भागों में राम और कृष्ण भक्ति की लहर पूरे जोरों पर थी, हिमाचल प्रदेश में भी अधिकतर राजवंश वैष्णव मतावलम्बी हो गए थे। यदि पूर्ण रूप से नहीं, तो कम से कम उनका अपना आराध्य देवता मुख्यतः विष्णु था, यही कारण है कि अनेक राजाओं ने विशाल वैष्णव मन्दिर तथा मसरूर के विख्यात पाषाण ठाकुर संरक्षित और प्रोत्साहित होने पर भी साधारण जनता में वैष्णव भक्ति अपने पांव नहीं जमा सकी और विष्णु एक ओर यदि राजा का पूज्य देव बना रहा तो दूसरी ओर उसके पूजक समाज के केवल दलित वर्ग में ही मिल पाए। प्रजा के बहुत बड़े भाग ने उसे स्वीकार नहीं किया। कुल्लू के राज-परिवार ने सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वैष्णव धर्म अपनाया, राज्य रघुनाथ के चरणों में समर्पित किया और राजा स्वयं उसका 'छड़ी-बरदार' बना। 'छड़ी-बरदार' ने अपने 'स्वामी' रघुनाथ के प्रभुत्व को स्थापित करने का हर संभव उपाय किया। उसने नियम बनाया कि राज्य का प्रत्येक देवता रघुनाथ की अधीनता स्वीकार कर दुशैहरे के अवसर पर उसका अभिवादन करे। गिनती के लिए 360 से ऊपर देवी-देवता राजा का आदेश पालन करते, किन्तु इतनी बड़ी संख्या में एक भी शास्त्रीय देवता नहीं था। स्थानीय देवताओं में से भी जमलू और हिडम्बा ने रघुनाथ.के प्रभुत्व को स्वीकार करने से साफ

इन्कार कर दिया। वे किसी भी मूल्य पर किसी के द्वारा अपनी सार्वभौमिकता पर प्रहार सहन नहीं कर सकते थे।

अब स्थिति यह है कि किन्नौर, महासू, कुल्लू और मंडी में विष्णु और नारायण मुख्यत: हरिजनों के देवता बन कर रह गए हैं, यों नाम उनका 'वड़ा देऊ' है।

जान पड़ता है वैष्णव धर्म का सात्विक रूप हिमाचली मानव को अधिक आकृष्ट नहीं कर सका है, कारण संभवत: यहां की भौगोलिक परिस्थिति रही हो। यहां कठोर प्रकृति से प्रतिदिन का वास्ता है, संघर्ष का नाम ही जीवन है, ऐसी स्थिति में पुचकार तो आवश्यक है, थोड़ा-वहुत डराव भी अनिवार्य-सा लगता है। हिमाचली मानव को शायद महसूस हुआ हो कि सात्विकता को सर्वस्व मानकर कहीं वह निष्प्राण न बन जाए। दूसरे आदिकाल से यह क्षेत्र युद्धप्रिय लोगों का रहा है, नागों से लेकर आज के डोगरों तक सैनिक वृत्ति में उनकी रुचि रही है। तीसरे, मांस यहां के भोजन का विशिष्ट अंग रहा है और वैष्णव मत में मांस-भक्षण पर प्रतिवन्ध इन लोगों के जीवन और परम्परा के प्रतिकूल पड़ा होगा।

शैव धर्म—शैव और शाक्त धर्म प्रागैतिहासिक काल से इस प्रदेश के लोक धर्म रहे हैं, और जनपदीय शासन के दिनों उन्होंने अधिक शक्ति ग्रहण की। शक और कुषाण तो शैव थे ही, कश्मीर का हूण राजा मिहिरकुल और थानेसर के सम्राट हर्षवर्धन के पूर्वज भी शैव थे। स्पिति का सेन वंश, कुल्लू भ्रमौर के वर्मन शासक, औदुम्वर, त्रिगर्त और कुलिन्दों के राजागण सभी शैव थे। उनके सिक्के उनकी शिव-भक्ति के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

हम देख चुके हैं कि किसी देश की भौगोलिक स्थिति वहां के इतिहास और संस्कृति को विशेष दिशा देते हैं। धर्म के अध्ययन से यह वात और भी पुष्ट हो जाती है। अरव और फिलिस्तीन ने यदि असहिष्णु और अपरिवर्तनशील एकेश्वरवाद को जन्म दिया, इसका मुख्य कारण उन प्रदेशों की एकरंगी प्रकृति है, जहां सिवाय क्षितिज तक फैले रेगिस्तानी टीलों, इक्का-दुक्का नग्न चट्टानों और नीले पिघलते से आकाश में से वरसती आग के कुछ नहीं है। इस स्थिति में मानव को अनायास एक ऐसी सर्वशक्तिशालिनी सत्ता की उपस्थिति का आभास होता है जो सशक्त, क्रूर और कठोर हो, जो चाहती है कि उसके सामने सभी शीश झुकाएं। दूसरी ओर भारत में जन्म लेने वाले धर्मों ने सर्वशक्तिशालिनी सत्ता को स्वीकार किया, किन्तु उसमें असहिष्णुता और हिंसा के गुणों को नहीं देखा। उन्होंने सहिष्णुता, विश्ववन्धुत्व और अहिंसा पर वल दिया। इस प्रकार की विचारधारा एवं कल्पना का सीधा सम्वंध यहीं की प्रकृति से है, जो अनेकानेक रंग-रूप और स्वरों में मुखरित होती है। यहां की शस्य श्यामला भूमि, पुष्प और फलाच्छादित वृक्ष, मादक उषा तथा मनोहर सन्ध्या ने मानव-मन पर एक इन्द्रजाल-सा फेंका, किन्तु साथ में उसे एक अनूठी सजीवता भी दी, जिससे वह अपनी वस्तु तो श्रेष्ठ मानता ही है, दूसरों की वस्तु को भी वुरा नहीं कहता है। वह अपने मत की पुष्टि करता है, उस पर विश्वास रखता है, किन्तु दूसरे के मत के विश्वास का

खंडन भी नहीं करता है। वह सहअस्तित्व के आदर्श का पालन कर उससे समझौता कर लेता है और उसे सनातनता प्रदान करता है।

पर्वतीय क्षेत्र में प्रकृति सभी रूपों में प्रकट होती है। उसका सुन्दर लुभावना रूप भी और विकृत विकराल स्वरूप भी देखने को मिलता है। वस्तुत: यहां की प्रकृति विरोधी गुणों का सम्मिश्रण है जो एकदम एक सुन्दरता और भयानकता उसकी विशिष्टता है। मन के लिए वह अनुपम सौन्दर्य का कोष है, परन्तु शरीर के लिए क्रूर, कठोर, कुचल देने वाला तत्त्व बन जाती है। हिमाच्छादित शिखरों का सौन्दर्य, हरीभरी उपत्यकायें और चरागाहें, रंग-बिरंगे पुष्प, गहन जंगल, गहराई में गिरती फेनिल सरितायें, कलकल करते झरने और चहचहाते पक्षी यहां के मानव को प्रकृति के वैभव और मादकता का भागीदार बना देते हैं। दूसरी ओर कठोर जीवन, जीवन पर लदी कठोरता का भार, सीधी, तीखी रीढ़-सी पर्वत की चढ़ाई और वैसा ही सीधा-तीखा जीवन, हिंसक पशुओं की भरमार और प्रकृति की प्रचंडता और उसके क्रूर प्रभावों से संघर्ष, मानव का परिहास-सा करते दीख पड़ते हैं। इन विपरीत तत्त्वों को देख यहां का मानव प्रकृति के भयावह रूप से प्रभावित हो जाए, सहम जाए, तो आश्चर्य क्या ?

प्रकृति के कोमल रूप ने पहाड़ी मानव के मन को झंकृत किया और कठोरता ने उसमें पग-पग पर डर और निराश्रय के भाव को जन्म दिया। एक स्वरूप उसके कंठ की निर्झरिणी के बांध को तोड़कर एक सरस, मधुर आह्लादकारिणी धारा से जनमन को आप्लावित करने में समर्थ हुआ, उसके अंग-प्रत्यंग को थिरकाने का कारण बना, तो दूसरे स्वरूप ने उसे भीरु बनाकर उसके मस्तिष्क को सदा सुरक्षा का माध्यम ढूंढ़ने पर बाध्य किया। उसकी अपरिष्कृत बुद्धि, उसकी अविकसित कल्पना आरम्भ में किसी स्वतंत्र अस्तित्व वाले तत्त्व का सृजन न कर पाई; फलत: उसने प्रकृति के दृष्टिगोचर उपकरणों में ही इस माध्यम को ढूंढ़ने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार पर्वतीय मानव के मन में आनन्द और डर के भाव ने साथ-साथ जन्म लिया। यह स्थिति स्वाभाविक ही थी। आनन्द के भाव ने कालोपरान्त किसी ऋषि के मुख से यह कहलवाया कि "आनन्दाद्धयेव खलु भूतानि जायन्ते" अर्थात् आनन्द से ही भूतमात्र उत्पन्न होते हैं। जेमस जी० फ्रेजर, वेस्टर मार्क और एस० रैनेक प्रकृति के पाश्चात्य अन्वेषकों ने उल्लास को मानव अभिव्यक्ति का मूल कारण माना है। वे आदिम जातियों की रीति-नीति का निपुण अध्ययन करने पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं। उन्होंने महसूस किया कि अतिशय भावावेग की अभिव्यक्ति का प्रथम मानवीय प्रयत्न नृत्य के माध्यम से हुआ है। संगीत और भाषा के साथ नृत्य मानवीय अभिव्यक्ति का सर्वपुरातन प्रयत्न है। यह मजे की बात है कि जहां अन्यान्य कलाएं क्रमश: विकसित होती गई हैं, वहां नृत्य अपनी आदिम अवस्था में ही चरम उत्कर्ष पर पहुंच गया मालूम पड़ता है। डा० कर्व शेख्स ने 'वर्ल्ड हिस्ट्री आफ डान्स' में कहा है कि "यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि प्रस्तर युग के बाद नृत्यकला ने बहुत ही कम ग्रहण किया है। रचनात्मक नृत्य का इतिहास प्रागैतिहासिक काल में शुरू होता है।" एक अन्य विद्वान

सुसाली के लेंगर ने 'फीलिंग ऐण्ड फार्म' नामक पुस्तक में कहा है कि "नृत्य वन्य जीवन का सर्वाधिक गंभीर बौद्धिक व्यापार है। देश और काल से परे किसी अज्ञात लोक के सम्मुखीन होने का प्रयास है। नृत्य एक ऐसी मानस धारणा है, जो व्यक्ति जनातीत है और जीवन और मृत्यु से व्यवहित होकर भी शेष प्रकृति से परिवेष्टित और पोषित है। इस दृष्टि से देखा जाए तो नृत्य का प्रागैतिहासिक मूल बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है। यह धार्मिक चिन्तन की वह प्रक्रिया है जो संसार में अति मानव शक्तियों की धारणा उत्पन्न करती है। वस्तुतः नृत्य उन्हीं धारणाओं को संमूर्तित करने का प्रयास है। ये शक्तियां नृत्य द्वारा उत्पन्न नहीं की जातीं या उत्पन्न होती हुई अनुभूत नहीं होतीं, बल्कि नृत्यक्रिया द्वारा उद्बोधित, समाहृत, प्रतिस्वद्धित या प्ररोचित हुआ करती हैं। आदिमानव की अतिमानवीय कल्पना के सामने ये यथार्थ हैं, प्रतीक नहीं हैं।"

सभी आदिम जातियों में मंडलावंत नृत्य पाया जाता है। नाही सरीखे मण्डलावंत नृत्य के केन्द्र में कोई न कोई अति मानवीय शक्ति विद्यमान होती है। हिमाचल प्रदेश में यह शक्ति देवी-देवता अथवा उनके गुरु या चेलों में रहती है। यह अविसंवादित तथ्य है कि इस प्रकार के नृत्य का मूल प्रेरक मनोभाव उल्लास है। विविध प्रकार की चारियों से वलयित, ताल द्वारा नियंत्रित, धारावाहिक मंडलावर्त नृत्य जीवन के किसी अज्ञात रहस्यकेन्द्र से उल्लसित होता है। विवाह, फसल का आना, वर्षा, वसन्त आदि अवसरों पर मनुष्य की अन्तर्निहित चेतन-सत्ता ने अपना उल्लास प्रकट करने के लिए इस माध्यम का सहारा लिया होगा। यही कारण है कि हिमाचली मानव का मनप्राण नृत्य में है। उसका समस्त सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन नृत्य पर केन्द्रित है। यही नहीं स्वयं उसके देवी-देवता, यहां तक कि विष्णु और गणेश भी नाचने में रुचि रखते हैं।

उधर पहाड़ी मनुष्य डर को कैसे भूल जाए, आसपास की भूमि से कैसे विमुख रहे। वह उड़ान में ही खोया रहता, नृत्य में ही भूला रहता यदि वास्तविकता उसे कदम-कदम पर भूमि पर ही ठहरे रहने को बाध्य न करती। क्षितिज की समीपता, ऊंची-ऊंची चोटियों से अविष्ठित उपत्यकायें, गहन वन, उन वनों के शेर, बाघ, भालू, चीते जैसे हिंसक जन्तु, बड़ी-बड़ी चट्टानें, ढंकार, शैल, गहरी खड्डे, द्रुतगामिनी हिमानी जल की तीखी चीरती-सी धारायें, सबने मिलकर उसे अपने स्थान से ही चिपके रहने को मजबूर किया है।

पहाड़ का जीवन ही बड़े जोखम का है, जरा-सी चूक हुई कि हजारों फुट नीचे फिसल पड़े गहरे खड्ड में जा गिरे या किसी वेगवती नदी की लपेट में आ गए। सामान्यतः छः आठ महीने ही खुलकर घर से बाहर भीतर आ पाते हैं। कुट पवन के थपेड़ों, बर्फीली झंझावात और फुटों बर्फ से दो चार होना पड़ता है। पर्वतवासियों को यदाकदा प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों, पदार्थों, वृक्षों, पत्थरों, चट्टानों आदि में भयावने, क्रूर एवं हानिकारक गुणों का आभास हुआ होगा, जिससे वे डर गए। उन्हें अपने चारों ओर भय और खतरा ही नजर आने लगा होगा। अपने बचाव के लिए उन्होंने इन क्रूर

प्रतीकों, आत्माओं और पदार्थों को तुष्ट करने का संकल्प किया, उनकी मनौती मनानी शुरू की। किसी सीमा तक अभय हो, उन्होंने महसूस किया कि कष्टों का, डर का अन्त नहीं हो पाया। अपनी ही परछाईं का डर और आकस्मिक आधिव्याधि उनके पीछे लगे ही रहे। वे सोचते गए और इस नतीजे पर पहुंचे कि इस प्रकार के कोई और भी क्रूर तत्त्व होंगे जो अदृश्य हैं। परिणाम उसने राक्षसों, दैत्यों, और दानवों की कल्पना की। इसी भाव ने प्रेतात्मा का सृजन किया। अपने से अधिक शक्तिशाली किन्तु अत्याचारी जीव जिसे वह जीते जी कोई क्षति नहीं पहुंचा सका, मृत्यु के उपरान्त भी भय का कारण बना रहा। समय बीतने पर मृत राजाओं और नेताओं की भी एक श्रेणी बन गई। अतः वृक्ष, चट्टान राक्षस और प्रकृति पूजन तथा दैत्य-पूजा, सभी उसी डर के भाव के प्रतीक बन गए।

प्रकृति ने पहाड़ी मानव को डराया, फलतः वह उसके प्रत्येक तत्त्व से डरने लगा, बिजली, जोर की वर्षा, बादलों की गड़गड़ाहट, क्षिप्रगामिनी नदी उसे भयाक्रान्त करने लगे। सुरक्षा प्राप्त करने के लिए उसने उन्हें ही देवता बना डाला। पर्वत-शिखर को उसने देवी काली कहा और तेज पवन को लांकडावीर। देवदार के प्रत्येक बड़े तने में उसे एक देवता बसा हुआ दिखा। उसने गुफा गह्वर में पड़ी कंकरियों में देवी देऊ की आत्मा को आरोपित किया। वह पर्वत-शिखर पर अकेले चढ़ते हुए डरता है, गुफा में प्रविष्ट होने से झिझकता है, देवदार के निकट जाना नहीं चाहता, परन्तु करता वही है जो करना नहीं चाहता। वह पर्वत पर अकेले चढ़ता है, चढ़ता ही नहीं कई बार अपनी भेड़-बकरियों सहित वह पर्वत-शिखर को अपना घर ही बना डालता है। गुफा में प्रवेश ही नहीं करता, उसे रेनबसेरा बना लेता है। देवदार को काटता है, चीरता है। डोगरों की विश्वमान्य वीरता संभवतः डर को जीतने के इसी भाव की ज्वलन्त अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार उसके जीवन में डर और निडरता का सदा चलने वाला संघर्ष है, जिसने दैव और किसी पारलौकिक शक्ति में उसका विश्वास जागृत किया। हम कह सकते हैं कि उसके धार्मिक विश्वास प्राकृतिक और भौतिक बाधाओं, उनके रहस्यों और अदृश्य शक्तियों के अज्ञान-ग्रस्त कौतूहल से सम्बंधित हैं, इसलिए उनमें पारलौकिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण हो उठा है। उसने वनस्पतियों और जीवों में पारलौकिक शक्ति के दर्शन ही नहीं किए, वरन् उसने जड़ और चेतन को अपनी अन्तर्जगत की भावना से भिन्न एक व्यक्तित्व भी प्रदान किया है।

इस व्यक्तित्व में अनिष्ट कारण और मांगलिक गुणों का भी उसने आरोप किया तथा जो देवी देऊ केवल दंड देते, कठोरता बरतते, निष्ट करते वे अब अवसर पड़ने पर सहायता भी करने लगे, उनमें करुणा का भाव जागा और वे कल्याणकारी भी बन गए। इससे पूर्व पूजा के पात्र यदि प्रत्येक अपराध या भूलचूक को अक्षम्य और दंडनीय समझते थे, यह नया व्यक्तित्व क्षमा करना भी जानता था। इस प्रकार की भावना के उपयुक्त सिद्ध हुआ शिव या महादेव, जिसका प्रभाव इस प्रदेश के जन-जीवन पर अत्यन्त व्यापक है। शिव को परमदेव के रूप में स्थापित करने में यहां के भूगोल ने

तो सहायता की, उससे भी अधिक प्रेरणा यहां के मूल निवासियों की जातीय परम्परा से प्राप्त हुई है। शिव नागों का आराध्य देव था और वे पिंडी के रूप में उसकी पूजा करते थे। वैसे भी आदि ऐतिहासिक काल में विश्व की सभी आर्योतर जातियां शिव, शंकर की पूजा करती मालूम पड़ती हैं। एक विद्वान के अनुसार संयुक्त अरब गणराज्य के दक्षिण में इलियोपिया के चन्द्रशैल से निकली नील नदी के अधिष्ठाता माने जाते थे। इनकी मूर्ति के सम्मुख एक वृषभ की मूर्ति भी बनाई जाती थी। दक्षिण अमेरिका के पेरू देश में ईश्वर को 'सिबु' नाम से पुकारा जाता था, वहां भी प्राचीन स्थलों की खुदाई में शिवलिंग जैसी मूर्तियां मिली हैं। इस्लाम के जन्म से पूजा होती थी, उसे 'लाट' या 'लात' कहा जाता था। शिवलिंग पिंडी का ही रूप है।

पहाड़ी मानव को शिव का रौद्र रूप कतई पसन्द नहीं आया। पहले के देवी-देवताओं, आत्माओं की रौद्रता से त्राण पाने के लिए ही तो वह महादेव की शरण आया था। शिव के साथ शक्ति देवी की पूजा अनिवार्य हो गई। जिस डर के भाव ने शिव को देवाधिदेव बनाया, उसी ने देवी अथवा काली को भी समुचित आदर दिया, बल्कि देवी में मातृत्व का आरोप होने के कारण वह किन्हीं अवस्थाओं में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुई क्योंकि पिता की अपेक्षा माता अपने बच्चों की सुख-सुविधा और सुरक्षा के लिए अधिक तत्पर, व्यग्र और चिन्तित रहती है। लगता है पिता महादेऊ की अपेक्षा माता देवी, भगवती, अम्बिका अथवा दुर्गा जनमन को अधिक आकर्षित कर पाई।

इसी सन्दर्भ में कतिपय ऐसे राजा या नेता भी हुए, जिन्होंने जीवन-काल में जन-कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनके कार्यों से जनमानस इतना प्रभावित हुआ कि उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके गुणों से लाभान्वित होते रहने के उद्देश्य से उन्हें देवता मान लिया गया। डूम, श्री गुल और महासू कतिपय इस प्रकार के उदाहरण हैं।

मानव का दैवीकरण—मानव का दैवीकरण सर्वाधिक नागों का हुआ है। नागराजा और नेता राजनीतिक तौर पर भले ही खशों और आर्यों से पराजित हो चुके थे, किन्तु सर्वसाधारण जनता में अपने सहजातीय बन्धुओं के प्रति अगाध श्रद्धा और आस्था थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि नाग मुखियों को देवताओं की पंक्ति में बैठा दिया गया। उनमें भी सद् और असद्, करुण और क्रूर गुणों का आरोप हुआ। विशेष बात यह हुई कि अपने आराध्य शिव के प्रतीक पिंडी में वे स्वयं समा गए और कालान्तर में आराध्य और आराधक का भूतपूर्व एकीकरण हो गया।

नागों की प्रतीक सर्वत्र पिंडियां हैं। नागों में एक ओर शिवत्व, दूसरी ओर वरुणत्व और तीसरी ओर देऊत्व के गुण आ गए। अपने शिव रूप में नाग कल्याणकारी देवता है। अपने पूजकों के लम्बे जीवन और सुख-समृद्धि के लिए वह सदा तत्पर है। उन पर आने वाली आधि-व्याधि से जूझता रहता है। वरुणरूप में भी मुख्यतः उसके सद्गुण ही सामने आते हैं। वह जल का देवता, वर्षा का स्वामी बन जाता है, और जब भी अनावृष्टि या अतिवृष्टि हो, उसकी शरण जाकर परित्राण मिल सकता है। इस रूप में

नागदेवता में कुछ-कुछ असद् तत्त्व भी समाने आ जाते हैं। यदि उसकी आज्ञा का ठीक ढंग से पालन न किया जाए, तो वह रुष्ट भी हो जाता है, और वर्षा रोककर कृषकों की खेती नष्ट कर सकता है, या अधिक वर्षा बरसा कर खेत के खेत बहा देता है। अपने देऊ स्वरूप में वह अन्य ग्राम देवता का स्थान ले लेता है और उसका क्रियाकलाप किसी प्रकार भी उससे भिन्न नहीं होता है।

धर्म का जो स्वरूप आज हमें हिमाचल में देखने को मिलता है, वह प्रकृति-पूजा, मृतक-पूजा, दैत्य-पूजा, पशुभक्ति, जादू-टोना तथा शास्त्रीय धर्म की खिचड़ी है, जिसके पकाने में भूगोल, इतिहास, जाति, समाज और अर्थव्यवस्था तथा पास-पड़ोस ने बड़ा योगदान दिया है। प्रत्येक घर और प्रत्येक गांव का कोई न कोई देवता है जो उपर्युक्त किसी न किसी श्रेणी का है। सामान्यतः हम देवताओं के तीन वर्ग मान सकते है—कुल देवता या कुलजां, ग्राम देवता तथा जातीय देवता। अनेक परिवारों में कुल देवता प्रायः कोई पितर होता है। ग्राम देवता आम तौर पर कोई नाग या अन्य स्थानीय देवी या देऊ होता है। जातीय देवता के रूप में कोई शास्त्रीय देवता पद ग्रहण करता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो धर्म के क्षेत्र में दो धारायें अबाध गति से बहती हुई दीख पड़ेंगी। एक ओर जनता का थोड़ा-सा भाग तुलनात्मक रूप से शास्त्रीय स्वरूप के प्रति निष्ठावान है, तो दूसरी ओर जनता के एक बहुत बड़े भाग की आस्था स्थानीय देवी-देवताओं, नागों और श्रीगुल, डूम और महासू में है। किन्तु दोनों वर्ग किसी भी विशुद्ध अनामिश्रित धर्म के स्वरूप का पालन नहीं करते हैं। शास्त्रीय धर्म को मानने वाले भी देवी देऊ और नागों को मानते हैं, अवसर पड़ने पर उनकी पूजा करते हैं, उनकी मनौती मनाते हैं। उधर नाग और देवी देऊ के भक्त, जब भी सुविधा हो, शास्त्रीय देवी-देवताओं की पूजा-आराधना कर लेते हैं। इस क्षेत्र में अतिवाद पर विश्वास रखने वालों की संख्या अधिक नहीं है। समग्र रूप से सम्प्रति न तो विशुद्ध शास्त्रीय धारा है और न ही लौकिक।

हिमाचली शिव—हां, यह निर्विवाद तथ्य है कि मूल रूप में हिमाचली धर्म शिव और नागों के चहुं ओर घूमता है, अतः हम उसे शैव-अन्तर्भुक्त हुए दीख पड़ते हैं। किन्तु हिमाचली शैवमत में देश के अन्य भागों में प्रचलित शैवमत जैसी आध्यात्मिक परिकल्पना नहीं है। उसका आध्यात्मिक पक्ष न तो कर्नाटक के वीर शिव जैसा है और न ही तो तमिलनाडु में प्रचलित शैव सिद्धान्त, शिवाद्वैत अथवा ईश्वर अविकार बाद के समान। उसका सम्बंध कश्मीर के स्वातन्त्र्यवाद, आभासवाद आदि से भी विशेष नहीं। शिवपुराण और शिवसिद्धान्त दीपिका में वर्णित शैवमत, जिसके अनुसार पति, पशु और पाश सृष्टि के तीन बीज तत्त्व हैं, हिमाचली कल्पना से बाहर है। शैवमत की शास्त्रीय व्याख्या में शिव को वेदान्त का ब्रह्म माना गया है, किन्तु हिमाचली शिव महादेव तो है, ब्रह्म नहीं। उसका कार्य कुछ-कुछ ब्रह्मा जैसा है, जो सृष्टिकर्ता है। शिव की एक चम्पाली ऐंचली के अनुसार शिव का पिता 'न्योर गुरु' है और माता

मनसादेवी है। न्योर गुरु के आदेश पर शिव ने धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, पवन, जल आदि प्राकृतिक उपकरणों का सृजन किया है। उसने बैल के सींगों पर धरती को टिकाया है। दिन-रात, चर-अचर, जीव-उपजीव सभी को शिव ने उत्पन्न किया। विष्णु और ब्रह्मा, जो शिव के सहोदर हैं, इस कार्य को करने में असमर्थ रहे।

हिमाचली शिव आशुतोष है, नटराज है, वह लोगों के दुख-सुख में भाग लेता है, उनके पर्व-त्यौहारों में सम्मिलित होता है। वह महादेव है, देवाधिदेव है, किन्तु विचित्र बात यह है कि स्वयं वह इन उपाधियों के प्रति उदासीन है, अपनी महानता में विनम्र है। उसने कभी यह दावा नहीं किया कि वह सृष्टिकर्ता है, न ही तो उसने अपना प्रभुत्व अन्य देवताओं पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। अपनी इस स्थिति में वह केवल निराकार है। वह एक भाव का प्रतिनिधित्व करता है, एक गुण का प्रतीक है।

कहीं-कहीं वह मानव जैसा व्यवहार करता है। शिवरात्रि के अवसर पर गाए जाने वाले एक गीत के अनुसार रणसीवीर नाम का कोई व्यक्ति उसे शिवरात्रि पर अपने घर आने का निमंत्रण देता है। महादेऊ निमंत्रण स्वीकार करता है, किन्तु साथ में ही पूछ बैठता है, "रणसीवीर, बताओ, तुम्हारे घर पर कितने बकरे, मेंढ़े, घी, तेल, आटा और चावल है ?" यह उत्तर पा कि "खाड़ू बकरे इतने कि उनके सींगों का ढेर लग जाए, घी-तेल से अढ़ाई घड़ी तक घराट चल सके और आटा-चावल इतनी मात्रा में कि पड़े-पड़े सुडिया लग जाए" महादेव प्रसन्न हो जाता है। निश्चित समय पर वह रणसीवीर के घर चलने लगता है, किन्तु अकेले जाने को मन नहीं करता। वह पार्वती को स्वयं निमंत्रित कर ले जाना चाहता है। बेचारी गिरिजा बहुत समझाती है कि उसका बिना बुलाए जाना अशिष्ट है तथा मार्ग दुर्गम एवं बीहड़ है। हिमवती की सारी अनुनय-विनय अनसुनी कर महादेव उसे अपने साथ ले ही जाता है। वह केवल यह कह कर रह जाती है कि "भोले ईश्वर, तू मुझे कहां ले आया। देख, मेरा पैर कांटों से छलनी हो गया है, कंकरों-पत्थरों से टकरा कर लहूलुहान हो गया है। कैलाश से धरती की यह यात्रा कितनी कष्टकारक है।" पर शिव है कि कहता है, "गिरिजा, तू देख तो सही मैं किस प्रकार नाचता हूं।"

प्रदेश के कई भागों में शिवरात्रि के दिन शिव लताकार बन जाता है। लता की तरह यह महादेऊ जौ के पौधों, बेलपत्र, 'ऊजर जौटी' नामक एक नीले रंग के पुष्प, पाजा वृक्ष की पत्तियों और नारंगी या खट्टे से सूत्र में पिरोकर बनाया जाता है। साधारणत: शिव की लिंगस्वरूप में ही पूजा की जाती है, यद्यपि प्रदेश में कहीं-कहीं उसकी संगमरमर की मूर्तियां भी स्थापित हैं।

ग्राम देवता—हिमाचल देवताओं का क्षेत्र है, शास्त्रीय देवताओं के अतिरिक्त सहस्रों अन्य देवता हैं, जिनका पृथक् उल्लेख असंभव है। इनमें बहुत बड़ी संख्या कुल अथवा ग्राम देवताओं की है। इन देवताओं के प्रति लोगों के भाव भी अद्भुत हैं। यदि एक ओर यहां के मानव के जीवन में 'देऊ' है, जिसकी आवश्यकता उसे कदम-कदम

पर, प्रातः उठते ही पड़ती है, तो दूसरी ओर वह उसी 'देऊ' को नदी में फेंक सकता है। उसका सत (शक्ति) क्षीण हो जाने पर उसे कूड़े-करकट के बीच भी डाल सकता है। कहीं-कहीं ऐसे उदाहरण भी मिले हैं जहां किसी राजा ने देवता को दंडित किया और जेल में डाल दिया। कैद से मुक्ति तभी मिली, जब भविष्य में सद्‌व्यवहार का आश्वासन दिया। एक ओर देवता का इतना डर कि उसके प्रति मन में लेशमात्र भी अश्रद्धा का भाव न आने पाए और उसके एक इशारे पर खेत में जुते हुए बैलों तक को छोड़कर दो-दो चार-चार दिनों तक उसके रथ को आसपास के गांव में घुमाया जाए, तो दूसरी ओर उसके साथ बराबर का व्यवहार भी किया जाता है। देवता के प्रति सखाभाव यहां की निजी विशेषता है।

गूर—देव सखा की कल्पना तो सहज थी, उसमें मानवीय गुणों का आरोप सरल था, किन्तु उन गुणों की अभिव्यक्ति कैसे हो, किस माध्यम द्वारा हो, यह जटिल प्रश्न था। इस कठिनाई पर काबू पाने के लिए यहां के मानव ने अनोखी सूझ से काम लिया, उसने अपनी कल्पना से एक ऐसे पात्र का सृजन किया, जो अद्वितीय है। यह पात्र गूर, चेला, गरोगच्छ, मालीय दीवा है। देवता उसके माध्यम से कार्य करता है, अपनी इच्छा व्यक्त करता है, अपने आदेश प्रसारित करता है, और अपने उपासकों के कष्टों के निवारण का उपाय सुझाता है। वह उसे अपना प्रतिनिधि बना डालता है। और उन क्षणों में अपना सारा 'सत' अथवा शक्ति उस गूर में हस्तांतरित कर देता है। तब वह गूर देवता का प्रवक्ता नहीं अपितु स्वयं देऊ या देवी बन जाता है।

गूर में 'देवता के आने' का भी एक निश्चित क्रम है। देवता यदि मन्दिर में अवस्थित है तो उसके मुखोट अथवा मीहरे के सामने गूर उपस्थित होगा, यदि वह सजा-सजाया अपने रथ या पालकी में है, तो उसके सम्मुख खड़े होकर गूर वे सारी क्रियायें करेगा जिसके फलस्वरूप देवता के सत का उसके शरीर में आगमन माना जाता है। रथारूढ़ देवता के गूर में देवागमन की क्रिया कुछ इस तरह की है कि किसी विशेष अवसर पर देवता का रथ इतने जोर से हिलने-डुलने लगेगा कि उसे उठाने वाले उपासकों की गर्दन भी रथ के दो लठों के बीच मुड़ती-सी प्रतीत होती है। इस झंझावातीय हिलन का अर्थ यह होता है कि देवता अपनी 'प्रजा' से बातचीत करना चाहता है। सब लोग उत्सुकता से विनीत भाव में देवरथ के इर्दगिर्द खड़े हो जाते हैं, और गूर रथ के सम्मुख नेत्र बन्द कर वरदहस्त मुद्रा में खड़ा हो जाता है, उसके नाक के पास धूप दिया जाता है उधर ढोल और नगाड़े बड़े जोरों से बज उठते हैं, उन पर ताल तीव्रतर हो जाता है जिससे वातावरण में एक कंपकंपी-सी फैल जाती है। दो-चार मिनटों के उपरान्त गूर कांपने लगता है, मानो शीत के कारण उसका तापमान बहुत चढ़ गया हो। थोड़ी देर में वह एक झटके के साथ सिर की टोपी उछाल देता है, जिसे उसके पीछे खड़ा व्यक्ति बड़ी दक्षता से संभाल लेता है। अब वह देवता बन जाता है। आरम्भ में वह 'गड़ाई' देता है, जिसमें वह अपने जन्म और प्रताप की चर्चा करता है। 'गड़ाई' के उच्चारण के पश्चात् वह पूछता है, "बताओ, मुझे तुम लोगों ने क्यों याद किया है।"

यह वाक्य उपस्थित लोगों के लिए देवता से प्रश्न पूछने का संकेत होता है। गूर की एक मुट्ठी में चावल के दाने होते हैं, वह जितने भी दाने प्रश्नकर्ता की हथेली में रख दे, उत्तर उसके अनुरूप होगा। यदि चावल के दानों की गिनती सम में हो, तो उत्तर 'न' में, यदि विषम में हो तो 'हां' में माना जाता है। प्रश्न चाहे व्यक्तिगत हो या सामूहिक, देवता से उत्तर-प्राप्ति का यही तरीका है। 'न' को 'हा' में परिवर्तित कराने के लिए प्रायः देवता से विनय की जाती है, अपने निर्णय में संशोधन करने की प्रार्थना की जाती है। भूलचूक और अपराध के लिए क्षमा मांगी जाती है। अपनी दीनता-दास्यता सिद्ध करने के लिए देवता से कहा जाता है कि हम तो तेरी प्रजा हैं, तेरी भेड़ें हैं, तू ही हमारा सर्वस्व है, तेरी आज्ञा शिरोधार्य है, अतः तू हमारी दशा पर तरस खा, हमारे बिगड़े कामों को सुधार।

जब कभी ऐसा भी होता है कि कई बार देवता समस्या का समाधान करने या कष्ट का निवारण करने में अपनी अरुचि या असमर्थता प्रकट करता है। असमर्थता की स्थिति में वह अपने से बड़े किसी अन्य देवी देऊ को 'प्रकट' करने अर्थात् उससे दुख के निराकरण का उपाय पूछने का सुझाव देता है। जहां वह अरुचि की बात करता है, वहां 'प्रजा' द्वारा किया गया कोई अपराध इसका कारण बताया जाता है। देवता सर्वप्रथम उस अपराध के लिए दंडस्वरूप जुर्माना की मांग करता है। प्रजा दंड-पूर्ति का वचन देती है। यदि देवता इस पर भी सन्तुष्ट न हो और वर्षा जैसे सामूहिक जनकल्याण के कार्य में आनाकानी करे, तो कई बार स्वयं देवता को ही चेतावनी दी जाती है कि उसे तब तक अपना 'सत' गूर से वापिस लेने नहीं दिया जाएगा जब तक कि उनकी मांग पूरी न हो जाए। किन्तु ये क्रूर उपाय यदाकदा ही बरते जाते हैं।

दुख-दर्द, बीमारी, खुशी-गमी, लड़ाई-झगड़े, कृषि-कर्म, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, नौकरी, चोरी आदि सभी परिस्थितियों में देवता का सहारा लिया जाता है, उससे न्याय मांगा जाता है। ऐसे भी उदाहरण मिले हैं, जहां किसी शासक के अत्याचारों का प्रतिरोध करने का तरीका भी देवता से पूछा गया और देवता की अनुमति मिलने पर शासक के विरुद्ध उसके प्रतिद्वन्द्वी की सहायता कर उसे अपदस्थ किया गया। मध्य युग में तो देश में मैदानी भागों से आने वाले राजा और राजकुमारों ने स्थानीय ठाकुर और राणाओं के विरुद्ध देवताओं की सहायता सर्वत्र ली। यह भी देखा गया है कि देवता ने किसी अन्य देवता के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस आज्ञा का पालन करने के लिए दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध होता है। यदि इस आदेश का उल्लंघन किया जाए तो 'दे दोष' लग जाता है, जिससे जन्म-जन्मान्तर तक छुटकारा नसीब नहीं होता है। कहीं-कहीं देवता गांव के झगड़ों के निपटारे के लिए अपनी अदालत तक लगा लेता है और उसके समक्ष दोनों पक्ष, वादी और प्रतिवादी वैसे ही बयान देते हैं जैसे किसी मैजिस्ट्रेट के सामने देते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि देवता प्रेम में मनुष्यों से भी होड़ लेते हैं, उनसे ईर्ष्या करते हैं। किन्नर प्रदेश की एक बड़ी देवी 'उखा' उषा है। उषा वैदिक उषा का प्रतीक भी है और कोई ऐतिहासिक नारी भी है, जो अपने रूप-लावण्य,

प्रेम की उत्कटता तथा गुणों के कारण देवत्व पद को प्राप्त कर पाई है। उसके रामपुर, सराहन, शांगला, कोठी और नबार में मन्दिर हैं।

यह उखा, इन्द्र द्वारा प्रेरित, सृष्टि के आदि काल से ऋषि अह्न का व्रत और तप खंडित करने का प्रयत्न करती आ रही है। वह अह्न की तपस्या खंडित नहीं कर पाई। उसका सौन्दर्य ऋषि के तेज का सामना नहीं कर सका। हजारों लाखों बार उषा का जीवन समाप्त हुआ, नई आशाओं ने जन्म लिया, पर अह्न का मन विचलित न हुआ। आज भी उषा अह्न का मन विचलित करने प्रतिदिन आती है, किन्तु ऋषि के तेज के सम्मुख अपने शरीर को भस्म करवा लुप्त हो जाती है। यही उखा जब कभी किसी पार्थिव रूपसी को देखती है, तो जलभुन जाती है। उसका अह्न पर तो जोर नहीं चला, परन्तु मानवी सुन्दरी को अनिष्ट पहुंचाने में वह सदा तत्पर रहती है और कई बार तो उन अभागिनों की जीवन-लीला ही समाप्त करा देती है।

शिव के समान ही इन देवताओं का व्यवहार भी पूर्णतः मानवीय होता है। उनकी माता होती है, भाई और बहनें होती हैं। जब दो समान स्तर के देवता आपस में मिलते हैं, तो उनका एक-दूसरे के प्रति अत्यन्त भद्र बर्ताव होता है, दोनों झुककर एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। कहीं-कहीं इन देवताओं में कौटुम्बिक वैमनस्य भी रहता है, वे मान-अपमान के प्रति सर्वदा जागरूक रहते हैं। देवता भाई-बहनों में प्रायः स्नेह का भाव ही दीख पड़ता है। समय-समय पर देवता भाई बहिन देवी के पास आता है, उसके लिए भेंट लाता है। बहिन भाई के घर आती है। साधारणतः कनिष्ट भाई अथवा बहिन बड़े भाई या बहिनों के पास जाते हैं, उनके पास जाकर अपने कष्टों, समस्याओं का उल्लेख करते हैं, कहीं किसी का मन्दिर टूट-फूट गया या भवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया हो तो बड़ा भाई या ज्येष्ठ बहिन तुरन्त उस त्रुटि को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने शूर द्वारा सारी प्रजा को इस स्थिति से अवगत करा शुल्क प्राप्त कर अतिथि को दे देते हैं। शुल्क की राशि या मात्रा सब परिवारों के लिए समान होती है और वह सभी को अनिवार्य रूप से देना होता है।

बलि प्रेम—इन देवी-देवताओं की एक बहुत बड़ी विशेषता उनका मांसाहारी होना है। प्रायः सभी ग्राम देवी देऊ और अन्य दैवी और पारलौकिक शक्तियों को मांस प्रिय है, सभी बलिदान में रुचि रखते हैं। शिव हम देख ही चुके हैं, शिव रात्रि के उत्सव में केवल तब सम्मिलित होता है, जब उसे पर्याप्त संख्या में खाडू बकरे उपलब्ध हो जाने का आश्वासन मिलता है, संस्कार हों, त्यौहार या उत्सव हों, पर्व हो, मेला या जातर हो, भूमि-पूजन हो, काली-पूजा हो, नए मकान की छत पड़ गई हो या कृषि का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ हो, मनौती हो, बकरे या भेड़े की बलि आवश्यक है, लगता है इस बलि के न होने से दैवी शक्तियों की तुष्टि हो ही नहीं सकती है। इसके अतिरिक्त जब कभी मांसाहार की तृष्णा हो, तो यह जरूरी नहीं कि बलि के लिए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा की जाए, जरूरी केवल यह है कि बकरा या खाडू सुलभ हो। दो-चार परिवार मिलकर, या एक ही परिवार बकरे को अपने कुल देवता के

अर्पण कर उसका वध कर देते हैं और मांस प्राप्त करते हैं। बिना समुचित देव-समर्पण के शायद ही कोई बकरा मारा जाता हो। समर्पण के लिए प्राय: नर ही होता है, और इसकी विधि कई क्षेत्रों में बड़ी सरल है। बकरे को खम्यान या कमरे के बीच खड़ा किया जाता है, एक व्यक्ति उसके दोनों कानों में अक्षत और पुष्प तथा कुछ जल भरता है। इसकी पीठ पर भी दो-तीन स्थानों में अच्छा-खासा जल डाला जाता है। जब वह अपने सारे शरीर को जल, पुष्प और अक्षत से मुक्त करने के लिए हिलाता है, तो समझा यह जाता है कि उसकी बलि देवता को स्वीकार है। इस अवसर पर बलि प्राप्त करने वाले देवता की 'जय' की जाती है। इस तरह से देवता और मानव दोनों की क्षुधा मिट जाती है।

भेड़ और बकरे की बलि का अभिप्राय तो देव-अनुकम्पा के साथ-साथ भोजन के लिए मांस प्राप्ति भी हो सकता है, परन्तु भैंसा, मुर्गा, मछली आदि अन्य पशुओं की बलि का एकमात्र उद्देश्य क्रूर ग्रहों या शक्तियों के दुष्प्रभाव को दूर करना होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बलि का यह क्रम अत्यन्त प्राचीन है। एक-दो विद्वानों को तो सिन्धु घाटी में उपलब्ध एक मुद्रा पर भी बलि का दृश्य अंकित मालूम पड़ा है। यह आधार हो या नहीं, किन्तु हिमाचल में संभवत: प्रारम्भ से ही बलि का प्रचलन रहा ज्ञात होता है। इसका प्रभाव न केवल स्थानीय तीज-त्यौहारों पर पड़ा बल्कि वैष्णव उत्सव भी बलि-प्रथा से अछूते न रह पाए। शिव, काली और परशुराम नरमेध यज्ञ के अधिष्ठाता बनते हैं। ''नारण' अथवा नरेण (नारायण) भी इस प्रकार के यज्ञ में रुचि रखता है। परम वैष्णव भगवान रघुवीर भी कुल्लू में दुशैहरे के समापन पर भैंसा आदि सात पशुओं की बलि सहन करता है। चम्बा में बलोह गांव में दुशैहर तभी सम्पूर्ण समझा जा सकता है जब शस्त्र-पूजा के उपरान्त पांच पशुओं की बलि दी जाएं। दुर्गाष्टमी के दिन तो मंडी में काव, सिरमौर में राजगढ़ के निकट शा गांव जैसे स्थानों पर महिष बलि पूजा अनुष्ठान का अभिन्न अंग माना जाता रहा है।

बलि प्रथा के इस प्रकार समूचे प्रदेश में मान्यता के पीछे क्या भाव है, इसका स्पष्ट उत्तर जटिल है। ऐसा प्रतीत होता है कि बलि प्रथा का कारण डर का भाव ही रहा हो, जिसने व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर अनादृष्ट, पारलौकिक अमंगलकारी तत्वों से छुटकारा पाने का यह उपाय ढूंढ़ निकाला हो। अपनी आदिम अवस्था में उसने जीव को ही इस बलि के उपयुक्त समझा हो, और उसके अवचेतन मन में यह भाव आज भी काम कर रहा हो। इस रीति में मानव की स्वार्थपरता की स्पष्ट झलक मिलती है। मुझ पर कोई कष्ट न आए, मेरा जीवन खतरे में न पड़े, मेरा अनिष्ट न हो, मेरी सुख-समृद्धि बढ़े, इसे निश्चित करने के लिए यदि बलि चाहिए, तो वह भी हाजिर है। मेरी जान बच जाए, इसके लिए दूसरी कोई जान जाती है, तो उसे जाना ही होगा। स्पष्टत: यही भाव इस प्रदेश में कुछ एक वर्ष पहले तक संयोजित नरमेध जैसे अनुष्ठानों के पीछे रहा हो।

भूंडा—वैदिक युगीन अश्वमेध, गोमेध और नरमेध जैसे मेधी यज्ञों में से भूंडा नामक यज्ञ इस प्रदेश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्सव रहा है। अनेक विज्ञ व्यक्तियों के मत में भूंडा उपर्युक्त सभी मेधी यज्ञों का सम्मिश्रित रूप है। यद्यपि एक-दो लोक गीतों में इसे अश्वमेध यज्ञ का नाम दिया गया है, परन्तु सामान्य परम्परा इसे नरमेधी यज्ञ मानती है। संभवतः इस यज्ञ का सीधा संबंध सिन्धु सभ्यता से है, और इस तरह हिमाचल जनजीवन को उस सभ्यता का अवशेष कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में इन मेधी यज्ञों में विख्यात ऋषि भाग लेते थे और यज्ञ के पूर्ण होने पर पूर्णाहुति के अवसर पर, नरमेध यज्ञ में नर और अश्वमेध यज्ञ में अश्व की बलि देते थे। उसके उपरान्त हवनकुंड से अस्थियां एकत्र कर ली जाती थीं और ऋषि अपने मन्त्रों द्वारा उन बलि दिए गए नरों या अश्वों—पशुओं को पुनः जीवित कर देते थे। कालान्तर में मनुष्यों के स्थान पर मेढ़ों और बकरों की बलि दी जाने लगी।

भूंडा से सम्बन्धित कर्मकांड पुरातन नरमेध के समान है। इस यज्ञ के प्रचलन के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति यह है कि एक बार जमदग्नि ऋषि किसी कारण अपनी पत्नी अम्बिका (रेणुका) से रुष्ट हो गए। उन्होंने पुत्र परशुराम को माता के वध की आज्ञा दी। पुत्र ने पिता के आदेश को मान माता का सिर काट डाला, किन्तु मातृ-हत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए इस यज्ञ का आयोजन किया और अपने अनुयायियों को भूमि देकर आदेश दिया कि वे उपज का दसवां भाग भूंडा यज्ञ पर खर्च करें।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि भूंडा शब्द 'बेड़ा' से निकला है। भूंडा के अवसर पर बेड़ा की नैमित्तिक बलि दी जाती है। चूंकि बेड़े का भूंडे से अत्यधिक सम्बन्ध है, अतः संभवतः भूंड़ा बेड़ा शब्द का ही अपभ्रंश स्वरूप हो। कुछ और लोगों का मानना है कि भूंडा, भंडार का ही सूक्ष्म रूप है। इस यज्ञ में मन्दिर का भण्डार खोला जाता है। अतिथियों को उनकी सारी सामग्री इस भंडार से दी जाती है। यह भी कहा जाता है कि भूंडा 'भूमेध' का बिगड़ा रूप है। किन्तु ये सभी मत अपूर्ण हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति कहीं और देखनी होगी।

भूंडा यज्ञ पहले हर बारह वर्ष के अन्तर पर हुआ करता था, किन्तु इधर अब तो तीस-तीस चालीस-चालीस वर्षों के बाद भी होने लगा है। शुरू-शुरू में भूंडा परशुराम से सम्बन्धित स्थानों पर हुआ करता था। एक गीत में उन स्थानों का उल्लेख है जहां यह यज्ञ होना ही चाहिए। इन स्थानों में गण्य हैं, निर्मंड, नगर, निरत, काव, ममेल, बला, नौडणा, बछेच, कुलगांव, दलगांव, पुजारली खडाण और निरर। नौडणा, बछेच कुलगांव, दलगांव और पुजारली पब्बर घाटी में हैं, अन्य सभी स्थान सतलज उपत्यका में हैं। इनके अतिरिक्त व्यास घाटी में बला के स्थान पर भी भूंडा का आयोजन अनिवार्य है।

एक तरह से भूंडा मेले की निश्चित तिथि से लगभग वर्ष डेढ़ वर्ष पहले ही आरम्भ हो जाता है, जब बृहद् हवन का आयोजन होता है। इस हवन के लिए एक

अर्पण कर उसका वध कर देते हैं, और मांस प्राप्त करते हैं। बिना समुचित देव-समर्पण के शायद ही कोई बकरा मारा जाता हो। समर्पण के लिए प्रायः नर ही होता है, और इसकी विधि कई क्षेत्रों में बड़ी सरल है। बकरे को खम्यान या कमरे के बीच खड़ा किया जाता है, एक व्यक्ति उसके दोनों कानों में अक्षत और पुष्प तथा कुछ जल भरता है। उसकी पीठ पर भी दो-तीन स्थानों में अच्छा-खासा जल डाला जाता है। जब वह अपने सारे शरीर को जल, पुष्प और अक्षत से मुक्त करने के लिए हिलाता है, तो समझा यह जाता है कि उसकी बलि देवता को स्वीकार है। इस अवसर पर बलि प्राप्त करने वाले देवता की 'जय' की जाती है। इस तरह से देवता और मानव दोनों की क्षुधा मिट जाती है।

भेड़ और बकरे की बलि का अभिप्राय तो देव-अनुकम्पा के साथ-साथ भोजन के लिए मांस प्राप्ति भी हो सकता है, परन्तु भैंसा, मुर्गा, मछली आदि अन्य पशुओं की बलि का एकमात्र उद्देश्य क्रूर ग्रहों या शक्तियों के दुष्प्रभाव को दूर करना होता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि बलि का यह क्रम अत्यन्त प्राचीन है। एक-दो विद्वानों को तो सिन्धु घाटी में उपलब्ध एक मुद्रा पर भी बलि का दृश्य अंकित मालूम पड़ा है। यह आधार हो या नहीं, किन्तु हिमाचल में संभवतः प्रारम्भ से ही बलि का प्रचलन रहा ज्ञात होता है। इसका प्रभाव न केवल स्थानीय तीज-त्यौहारों पर पड़ा बल्कि वैष्णव उत्सव भी बलि-प्रथा से अछूते न रह पाए। शिव, काली और परशुराम नरमेध यज्ञ के अधिष्ठाता बनते हैं। ''नारण' अथवा नरेण (नारायण) भी इस प्रकार के यज्ञ में रुचि रखता है। परम वैष्णव भगवान रघुवीर भी कुल्लू में दुशैहरे के समापन पर भैंसा आदि सात पशुओं की बलि सहन करता है। चम्बा में बलोह गांव में दुशैहर तभी सम्पूर्ण समझा जा सकता है जब शस्त्र-पूजा के उपरान्त पांच पशुओं की बलि दी जाए। दुर्गाष्टमी के दिन तो मंडी में काव, सिरमौर में राजगढ़ के निकट शा गांव जैसे स्थानों पर महिष बलि पूजा अनुष्ठान का अभिन्न अंग माना जाता रहा है।

बलि प्रथा के इस प्रकार समूचे प्रदेश में मान्यता के पीछे क्या भाव है, इसका स्पष्ट उत्तर जटिल है। ऐसा प्रतीत होता है कि बलि प्रथा का कारण डर का भाव ही रहा हो, जिसने व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों स्तरों पर अनादृष्ट, पारलौकिक अमंगलकारी तत्त्वों से छुटकारा पाने का यह उपाय ढूंढ़ निकाला हो। अपनी आदिम अवस्था में उसने जीव को ही इस बलि के उपयुक्त समझा हो, और उसके अवचेतन मन में यह भाव आज भी काम कर रहा हो। इस रीति में मानव की स्वार्थपरता की स्पष्ट झलक मिलती है। मुझ पर कोई कष्ट न आए, मेरा जीवन खतरे में न पड़े, मेरा अनिष्ट न हो, मेरी सुख-समृद्धि बढ़े, इसे निश्चित करने के लिए यदि बलि चाहिए, तो वह भी हाजिर है। मेरी जान बच जाए, इसके लिए दूसरी कोई जान जाती है, तो उसे जाना ही होगा। स्पष्टतः यही भाव इस प्रदेश में कुछ एक वर्ष पहले तक संयोजित नरमेध जैसे अनुष्ठानों के पीछे रहा हो।

भूंडा—वैदिक युगीन अश्वमेध, गोमेध और नरमेध जैसे मेधी यज्ञों में से भूंडा नामक यज्ञ इस प्रदेश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उत्सव रहा है। अनेक विज्ञ व्यक्तियों के मत में भूंडा उपर्युक्त सभी मेधी यज्ञों का सम्मिश्रित रूप है। यद्यपि एक-दो लोक गीतों में इसे अश्वमेध यज्ञ का नाम दिया गया है, परन्तु सामान्य परम्परा इसे नरमेधी यज्ञ मानती है। संभवत: इस यज्ञ का सीधा संबंध सिन्धु सभ्यता से है, और इस तरह हिमाचल जनजीवन को उस सभ्यता का अवशेष कहा जा सकता है।

प्राचीन काल में इन मेधी यज्ञों में विख्यात ऋषि भाग लेते थे और यज्ञ के पूर्ण होने पर पूर्णाहुति के अवसर पर, नरमेध यज्ञ में नर और अश्वमेध यज्ञ में अश्व की बलि देते थे। उसके उपरान्त हवनकुंड से अस्थियां एकत्र कर ली जाती थीं और ऋषि अपने मन्त्रों द्वारा उन बलि दिए गए नरों या अश्वों—पशुओं को पुन: जीवित कर देते थे। कालान्तर में मनुष्यों के स्थान पर मेढ़ों और बकरों की बलि दी जाने लगी।

भूंडा से सम्बन्धित कर्मकांड पुरातन नरमेध के समान है। इस यज्ञ के प्रचलन के सम्बन्ध में एक अनुश्रुति यह है कि एक बार जमदग्नि ऋषि किसी कारण अपनी पत्नी अम्बिका (रेणुका) से रुष्ट हो गए। उन्होंने पुत्र परशुराम को माता के वध की आज्ञा दी। पुत्र ने पिता के आदेश को मान माता का सिर काट डाला, किन्तु मातृ-हत्या का प्रायश्चित्त करने के लिए इस यज्ञ का आयोजन किया और अपने अनुयायियों को भूमि देकर आदेश दिया कि वे उपज का दसवां भाग भूंडा यज्ञ पर खर्च करें।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि भूंडा शब्द 'बेड़ा' से निकला है। भूंडा के अवसर पर बेड़ा की नैमित्तिक बलि दी जाती है। चूंकि बेड़े का भूंडे से अत्यधिक सम्बन्ध है, अत: संभवत: भूंड़ा बेड़ा शब्द का ही अपभ्रंश स्वरूप हो। कुछ और लोगों का मानना है कि भूंडा, भंडार का ही सूक्ष्म रूप है। इस यज्ञ में मन्दिर का भण्डार खोला जाता है। अतिथियों को उनकी सारी सामग्री इस भंडार से दी जाती है। यह भी कहा जाता है कि भूंडा 'भूमेध' का बिगड़ा रूप है। किन्तु ये सभी मत अपूर्ण हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति कहीं और देखनी होगी।

भूंडा यज्ञ पहले हर बारह वर्ष के अन्तर पर हुआ करता था, किन्तु इधर अब तो तीस-तीस चालीस-चालीस वर्षों के बाद भी होने लगा है। शुरू-शुरू में भूंडा परशुराम से सम्बन्धित स्थानों पर हुआ करता था। एक गीत में उन स्थानों का उल्लेख है जहां यह यज्ञ होना ही चाहिए। इन स्थानों में गण्य हैं, निर्मंड, नगर, निरत, काव, ममेल, बला, नौडणा, बछेच, कुलगांव, दलगांव, पुजारली खडाण और निवर। नौडणा, बछेच कुलगांव, दलगांव और पुजारली पब्बर घाटी में हैं, अन्य सभी स्थान सतलज उपत्यका में हैं। इनके अतिरिक्त व्यास घाटी में बला के स्थान पर भी भूंडा का आयोजन अनिवार्य है।

एक तरह से भूंडा मेले की निश्चित तिथि से लगभग वर्ष डेढ़ वर्ष पहले ही आरम्भ हो जाता है, जब वृहद् हवन का आयोजन होता है। इस हवन के लिए एक

विशेष कुंड होता है, जो निर्मंड जैसे परशुरामी गढ़ों में पांच फुट गहरा और चार फुट चौड़ा होता है। इस कुंड का प्रयोग केवल भूंडा के अवसर पर ही होता है। जिस दिन यह हवनकुण्ड खोला जाता है, जिसे कहीं-कहीं 'कूंड धवाणना' कहते हैं। तब 'कुंड' की उत्तर दिशा में एक विशाल देवी मूर्ति की स्थापना की जाती है। कुण्ड के भीतर एक पात्र रखा जाता है, जिसका नाम 'नाभी कुण्ड' रखा जाता है। कुण्ड के खुल जाने से लेकर भूंडा यज्ञ की समाप्ति तक इस कुण्ड में विद्वान वेदपाठी ब्राह्मण शास्त्रीय विधि से प्रतिदिन प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक हवन किया करते हैं। इस प्रकार यह हवन-क्रिया कई बार दो वर्ष किन्तु सामान्यतः छः महीनों से लेकर एक वर्ष तक चलती रहती है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि हवन-कुण्ड के खुलने की शुभ घड़ी भूंडा यज्ञ से कितने पहले निश्चित होती है।

हवन के शुरू होते ही बेड़ा जाति का एक पुरुष इस नरमेध यज्ञ के लिए चुन लिया जाता है। तबसे उसका तथा उसके समूचे परिवार का पालन-पोषण मंदिर की ओर से ही होता है। बेड़े कुल्लू, सुकेत, बुशैहर और गढ़वाल की एक परिगणित जाति है। इस जाति का कार्य लगभग ब्राह्मण पुरोहितों जैसा है। भूंडा की सक्रिय तैयारी हवन के साथ ही आरम्भ हो जाती है। इस बीच किसी शुभ दिन इलाके के प्रायः सभी परिवार मूंज घास काटकर उस मनोनीत बेड़ा को दे देते हैं। इसी मूंज से वह रस्सी बनती है, जिस पर बिठा कर बेड़े को ऊपर से नीचे सरकाया जाता है। यह रस्सी लगभग छः इंच मोटी होती है। इस रस्सी को वह स्वयं बनाता है। बटाई के दिनों बेड़ा हर रोज सुबह सवेरे मूंज घास और बटी हुई रस्सी की पूजा करता है और दिन-भर निराहार बटाई कर केवल रात को भोजन करता है। रस्सी आठ-नौ सौ गज लम्बी होती है। रस्सी को चूहे न काट लें, इस उद्देश्य से बेड़ा को एक बिल्ली दी जाती है जो चूहों से रस्सी की रक्षा कर सके।

निर्मंड में भूंडा के पहले दिन अतिथि देवताओं का स्वागत होता है। जिस प्रकार कुल्लू के दुशैहरे और मंडी की शिवरात्रि में पास-पड़ोस के सभी देवी-देवताओं का समागम होता है, उसी प्रकार भूंडा में भी निकट-दूर के देवता सम्मिलित होते हैं, किन्तु अन्तर यह है कि दुशैहरा या शिवरात्रि पर तो ग्राम्य देवता आएंगे, परन्तु भूंड़ा में मुख्यतः शास्त्रीय देवता ही भाग ले सकते हैं। इन देवताओं के कलश होते हैं। कोई भी देवता रथ में इस समारोह में नहीं आता है।

अतिथि देवताओं के स्वागत के दूसरे दिन स्थानीय देवताओं के 'गूर' आते हैं, और गांव के चारों ओर चक्कर काटते हैं जिस 'शिखफेर' कहा जाता है। शिखफेर में बकरा, मेढ़ा, सूअर और मुर्गा की बलि दी जाती है।

इसी दिन एक अन्य समारोह होता है जिसे 'जड़ पूजन' कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'जड़ पूजन' का वास्तविक उद्देश्य सती स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा है। 'लाटे की बा' नामक पांच-छः फुट गहरे, दस फुट लम्बे और छः फुट चौड़े जलाशय के ऊपर जिसके जल को गंगाजल की संज्ञा दी जाती है, अम्बिका का कलश और अन्य नौ

छोटे कलशों (करोतियों) को लाया जाता है, बावली जल से भरी होती है। ग्राम वधुएं उस जल में प्रविष्ट हो दस कलशों की पूजा करती हैं। प्राचीनकाल में केवल गाहरी स्त्रियां ही पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। गाहरी स्थानीय ब्राह्मणों का सर्वोच्च वर्ग माना जाता है। यह नियम इतना कठोर था, कि यदि कोई इतर-गाहरी स्त्री पूजा करने का प्रयत्न करती तो मन्दिर के अधिकारी देवता की छड़ी छुआकर उसे हटा दिया करते थे। कहा जाता है, किसी नारी को पूजा के योग्य घोषित करने से पूर्व उसकी मातृ-पितृ-गृह और पति-गृह, दोनों ओर की सात पुश्तों की जांच कर ली जाती थी। यदि वह सात पुश्तों से शुद्ध गाहरी चली आ रही हो, केवल तभी वह पूजा कर पाती थी।

लोगों में यह धारणा घर कर गई है कि बावली में प्रविष्ट होने पर जिस स्त्री के वस्त्र का पल्ला जल में ही रहे, वही पतिव्रता है। बाद में इस कसौटी का स्थान 'दिया भरना' (दीपक जलाना) ने ले लिया। पूजा करने वाली स्त्री, दस दीपक, जो कलशों के आगे रखे होते हैं, तेल से भरती है,किन्तु उसे इस विषय में अत्यन्त सतर्क रहना होता है कि दीपक में डालते हुए तेल की धार न टूट जाए। यदि धार टूट गई, तो उसके पातिव्रत्य पर कलंक लगा माना जाता है। यहएक कठिन मनोवैज्ञानिक परीक्षण है जिसमें सहस्रों लोगों, जिनमें अपने सभी स्वजन भी होते हैं, के समक्ष उत्तीर्ण होना होता है। यदि पूजक पतिव्रता है तो उसमें पूर्ण आत्मविश्वास होता है, उसका हाथ कांपता नहीं है और उसके हाथ से तेल की धार टूटती नहीं है। यदि उसे अपने चरित्र की शुचिता पर लेश-मात्र भी सन्देह है, जिसे केवल वही जान सकती है, तो अवश्य हाथ कांप जाएगा और तेल की धार टूट जाएगी।

भूंडे की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना तीसरे दिन घटित होती है। एक ओर परशुराम अपने मन्दिर से बाहर निकल कर दशनामी साधुओं के अखाड़े में आता है, और दूसरी ओर बेड़ा को बलि के स्थान पर ले जाया जाता है। अब इस बेड़ा को 'जियाई' या 'जेड़ी' कहा जाता है। बलि के स्थान पर जाने से पूर्व जियाई नहा-धोकर तैयार होता है और उसे बाजे-गाजे के साथ सम्मानपूर्वक हवनकुण्ड के पास लाया जाता है। उस समय उसे एक तरह का देवता ही माना जाता है और उसके अनुरूप ही उसकी पूजा होती है। हवन का अधिष्ठाता उस पर जल, पुष्प, अक्षत आदि फेंकता है। पूजा के उपरान्त उसके मुंह में पंचरत्न की पुड़िया डाल दी जाती है। (साधारणतः पंचरत्न केवल मरणासन्न व्यक्ति के मुंह में डाली जाती है।) 'जियाई' उपस्थित लोगों में उपहार बांटता है। मन्दिर का मुख्य प्रबन्धक कारदार तब उसे अपनी पीठ पर उठा कर यज्ञशाला से मन्दिर की कोठी के बाहर लाता है। उस समय वाद्य संगीत, उसकी लय सभी कुछ करुणोत्पादक होते हैं।

बाहर पहुंच कर गण्य-मान्य अतिथि, पुरोहित और मन्दिर के कर्मचारी एक जुलूस की शकल में चल पड़ते हैं। जुलूस का नेता 'जियाई' ही होता है। उसके शरीर पर केवल एक वस्त्र रहता है, गले में लाल डोरी होती है। उसके सिर पर एक अन्य

व्यक्ति नीली छत्री उठा कर चलता है। जुलूस के पीछे पचास-साठ लोग रस्सी को उठाकर आते हैं। समारोह रूप में यह जुलूस उस स्थान पर आता है, जहां पर 'जियाई' को रस्सी पर चढ़ना होता है। उसकी उपस्थिति में रस्सी दो मजबूत चट्टानों या खम्भों में, एक चोटी के ऊपर, दूसरा कुछ सौ गज नीचे, बांध दी जाती है। इससे पूर्व रस्सी और चट्टानों अथवा खम्भों की पूजा की जाती है। इसके उपरान्त 'जियाई' यज्ञशाला में लौट आता है, जहां उसे विधिपूर्वक देवार्पण करते हैं। निर्मंड में सन् 1868 में रस्सी टूटने से जियाई की मृत्यु हो गई थी, तब से यहां जियाई का स्थान बकरा लेता है। अन्यत्र जियाई ही रस्सी पर चढ़ता है। देवार्पण होने के उपरान्त जियाई पुन: जुलूस की शकल में चोटी पर पहुंचाया जाता है। उसके परिवार के सदस्य, अन्य सम्बंधी तथा दर्शक निचले खम्भे के पास ही रहते हैं। उसकी पत्नी श्वेत वस्त्र पहने, सिर के बाल खोल कर विधवा का भेष धारण किए होती है।

रस्सी में एक लकड़ी की घोड़ी (जीन) अच्छी तरह बांधी जाती है, जिस पर जियाई को बैठाया जाता है। उसकी दोनों टांगों में रेत से भरे थैले बांधे जाते हैं जिससे उसका सन्तुलन बना रहे। पुरोहित के संकेत पर घोड़ी की डोर सहसा काट दी जाती है, और जियाई रस्सी पर बड़ी तीव्र गति से नीचे दौड़ता है। खम्भे से बीस-पच्चीस गज तक रस्सी में कपड़ों के थान लिपटे रहते हैं ताकि जियाई की गति धीमी पड़ जाए और वह खम्भे से न टकराये। रस्सी पर जियाई की दौड़ के समय ढोल, नगारा, करनाल, नरसिहा, शहनाई और तुरी बजाए जाते हैं। एकत्रित लोग देवता की जयजयकार करते हैं। ज्योंही 'जियाई' निचले सिरे पर पहुंचता है, उसे मन्त्रोच्चारण के साथ बड़े आदर से भूमि पर उतारा जाता है। यह सारा कार्यक्रम दो-चार मिनटों में ही समाप्त हो जाता है। भूमि पर उतरने के बाद जियाई जिस किसी की जिस किसी वस्तु में, चाहे वह कितनी ही मूल्यवान क्यों न हो, हाथ लगाए, उसे उपहार में दी जाती है।

साधारणत: 'जियाई' की रस्सी पर चढ़ने से मृत्यु नहीं होती, यदि दुर्भाग्यवश यह दुर्घटना हो जाए, तो उसके मृतक शरीर का अन्तिम संस्कार पूरी धूम-धाम से किया जाता है। उसके परिवार को देवता के कोष से जीवन-निर्वाह के लिए जागीर की शकल में खर्च दिया जाता है। एक प्रकार से उसके परिवार के भरण-पोषण का दायित्व समाज अपने ऊपर ले लेता है।

माना यह जाता है कि भूंडा समारोह बारह मुख्य स्थानों पर हुआ करता था, जिससे प्रतिवर्ष यह अनुष्ठान कहीं न कहीं होता रहे। एक अनुश्रुति कहती है कि कुल्लू में बनजार के निकट बला नामक गांव के मार्कंडेय ऋषि और बाला सुन्दरी देवी के मन्दिर में जब यह यज्ञ सम्पन्न हो जाता था, तो वहां से तुरन्त एक दूत निर्मंड पत्र लेकर आता था, जिसमें भूंडा यज्ञ के संविधान सम्पूर्ण होने का उल्लेख होता था। पत्र पहुंचते ही परशुराम के मन्दिर में भूंडा का आयोजन आरंभ हो जाता था और वहां इसकी समाप्ति पर सूचना सुन्दर नगर के ममेल गांव को दी जाती थी, जहां चंडी के मन्दिर की ओर से भूंडा यज्ञ का समारंभ किया जाता था। इस प्रकार एक

स्थान से दूसरे स्थान पर निश्चित क्रम के अनुसार इस यज्ञ का आयोजन होता रहा है।

महासू के चौपाल क्षेत्र में भंडा नामक एक उत्सव प्रतिवर्ष पौषया माघ की संक्रान्ति को होता है, जब स्थानीय देवताओं को भेड़ और बकरे की बलि दी जाती है। बलि पशु को शिव के नाम पर एक बर्ष तक पाला जाता है। बलसन में इस तरह का भूंडा पांचवें वर्ष मनाया जाता है।

भंडे की तरह रस्सी पर किसी पुरुष को डालने की परम्परा का उल्लेख कुल्लू और मनाली क्षेत्र तथा किन्नौर में भी होता है। यह भी कहा जाता है कि कांगड़ा में ज्वालामुखी मन्दिर में भी एक बहुत लम्बे समय तक 'नर बलि' दी जाती रही है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, भूंडा यज्ञ शिव, शक्ति और परशुराम के निमित्त होता रहा है। आर्य-इतर लोगों के आराध्य देब शिव और मातृ-देवी रही है। बलि का प्रचलन संभवत: इन जातियों की देन हो, जो आज भी जीवित है, किन्तु परशुराम का भूंडा से सम्बन्ध रहस्यात्मक है। इस सम्बन्ध में कतिपय संभावनाएं उत्पन्न होती हैं।

एक संभावना यह है कि स्वयं परशुराम अनार्य रहे हों, जभी शिव उनका आराध्य देव था। शिव ही परशुराम के गुरु थे, जिन्होंने उन्हें धुर्नविद्या में निपुण बनाया और साथ में विविध अस्त्र भी प्रदान किए। परशुराम की महत्ता को देखते हुए आर्य ऋषियों ने उन्हें अपने वर्ग में सम्मिलित कर आर्येत्तर जातियों का सद्भाव प्राप्त किया। किन्तु कालान्तर में स्वयं ये ऋषि उनके महत्त्व को सहन नहीं कर सके, इसीलिए आर्य राम के हाथों उन्हें पराजित कराया गया। परशुराम द्वारा मातृहत्या भी आर्य-गुणों से बाहर की बात जान पड़ती है।

किन्तु एक दूसरी सबल संभावना यह है कि परशुराम ब्राह्मण आर्य थे, यद्यपि उनकी माता एवं मातृमह राजकन्याएं थीं। अगस्त्य ऋषि की भांति परशुराम आर्य-संस्कृति के अन्यतम सन्देशवाहक, प्रचारक तथा प्रसारक थे। उन्होंने न केवल दक्षिणी भारत अपितु उत्तर-पश्चिमी सीमान्तक भारत में भी आर्य संस्कृति को फैलाया। स्थान-स्थान पर आर्यों की बस्तियां बसाईं। ऐसा माना जाता है कि गुजरात से लेकर कन्याकुमारी तक विभिन्न प्रदेशों में ब्रह्म-कर्मरत लोगों को एक जगह लाकर उन्होंने बस्तियां स्थापित कीं : सुदूर दक्षिण में नंबूद्री ब्राह्मणों की बस्ती बसाई, गोआ के आसपास गौड देश के सारस्वत ब्राह्मणों को आबाद किया, चितपावन ब्राह्मणों को चिपलून में लाया गया। कोंकण के नम्बूद्रियों, शोपवियों और सारस्वतों का मानना है कि परशुराम ने उन्हें वहां यज्ञ के लिए, श्रद्धा के लिए या भूमिदान के लिए बसाया।

इसी तरह की अनुश्रुति सतलज, व्यास तथा पब्बर घाटी के अनेक लोग करते हैं। यदि यह ठीक है, तो इस प्रदेश में अश्वमेध, गोमेध और नरमेध जैसे यज्ञों का समारंभ परशुराम ने ही किया है और यही कारण है कि मुख्यत: उन्हीं स्थानों में भूंडा जैसे यज्ञ होते रहे जिनका परशुराम के साथ सम्बन्ध रहा है। रेणुका, ममेल, काव, निरत, दत्त नगर तथा निर्मंड स्पष्टत: परशुरामी बस्तियां हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन यज्ञों में नर-बलि का इतना महत्त्व क्यों?

ऐसा प्रतीत होता है कि परशुराम के समय में यहां रहने वाली सारी शिवपूजक आर्योतर जातियों में यह प्रथा सर्वप्रिय रही हो, और वे किसी भी स्थिति में इसे भुला न पाए हों। परशुराम को देश में आर्य-संस्कृति के प्रसार के दौरान स्थानीय वास्तविकताओं से कई तरह के समझौते करने पड़े होंगे। उन समझौतों के फलस्वरूप ही भारत की समन्वित संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। उत्तर-पश्चिम के सीमान्तक क्षेत्र में इसी समझौते के कारण जहां अपनी बसाई हुई बस्तियों को यज्ञकर्म करते रहने का उन्होंने आदेश दिया, वहां अनार्य जातियों का विश्वास और सद्भाव जीतने के लिए उन द्वारा बलि देने की विधि को भी एक यज्ञ का आधार बनाया और इसी आर्य और अनार्य संस्कृतियों के समन्वय का एक परिणाम यह भूंडा यज्ञ है।

इस यज्ञ में भी बलि दिये जाने वाले मनुष्य की जान बचाने का पूरा प्रयत्न किया मालूम पड़ता है। यह निष्कर्ष रस्सी बनाने की विधि, उसके दायित्व, सुरक्षा के लिए बिल्ली का रखना आदि बचाव के उपायों से निकलता है। यदि बेड़े की मृत्यु अभि-प्रेत होती, तो रस्सी बंटाने का दायित्व उस पर न डाला जाता। ऐसा तो शायद ही कोई व्यक्ति रहा हो, जो अपने हाथ से अपनी मृत्यु का वरण करे। इसके अतिरिक्त ऐसी कौन-सी जाति हो सकती है जो सहर्ष प्रतिवर्ष एक वयस्क सदस्य बलिदान के लिए इन सहस्रों वर्षों में देती आई हो ? बेड़ा जाति भी आखिर मानव ही है, कभी तो उसने विद्रोह किया होता और आत्मघात करने से इन्कार किया होता। एक महत्त्वपूर्ण बात और है। भूंडा अनुष्ठान में रस्सी का टूटना महान अपशकुन समझा जाता है, यदि रस्सी टूट जाए, तो सम्पूर्ण यज्ञ निष्फल समझा जाता है और तुरन्त दूसरे भूंडा का आयोजन वांछित होता है। जियाई की मृत्यु रस्सी टूटने से ही हो सकती है। अतः यह कहा जा सकता है कि भूंडा यज्ञ में नर-वध नहीं नर का केवल सांकेतिक बलिदान अपेक्षित है। जिससे आर्य-विधि भी पूरी हो जाए और आर्येतर लोग भी सन्तुष्ट हो जाएं।

काईका—बेड़ों की तरह की एक और जाति है, इसका नाम नौड़ है। नौड़ों के कुछ परिवार मंडी और कुल्लू क्षेत्र में रहते हैं। ये नौड़ काईका नामक समारोह में मुख्य भूमिका निभाते हैं। काईका दो-तीन स्थानों पर 'आदपुरख' फुंगनीदेवी और हूरंग के 'नारण' के उपलक्ष्य में प्रायः पांच सालों में एक बार किया जाता है। इस समारोह में नौड़ न केवल मनुष्यों के, अपितु स्वयं नारण देवता के पापों और दुष्कृत्यों के कुपरि-णामों को दूर करता है। वह देवता तथा लौकिक जीव पर, जिसका भी पापमोचन करना होता है, अन्न के दाने फेंकता है और मंत्र पढ़ता जाता है और देव तथा मानव जब निष्पाप हो जाते हैं, तो स्वयं नौड़ पर मन्दिर का पुजारी पवित्र जल और भेखल पौधे के पत्ते फेंकता है। इस पर नौड़ मृतक की भांति पृथ्वी पर गिर पड़ता है। लोग उसे एक अर्थी पर डालकर मन्दिर से बाहर निकलते हैं। तब वाद्य यंत्र शोक संगीत बजाते हैं। बाहर एकत्रित लोग 'अर्थी' पर घास और वृक्षों की छोटी-छोटी टहनियां फेंकते हैं और कहते हैं कि उनके सभी दोष उसमें लग जाएं। इस प्रकार वह अर्थी गांव के चारों ओर फिराई जाती है। वापसी पर देवता के गूर उसके पुनर्जीवन की प्रार्थना करते हैं,

जो एक-आध घंटे में स्वीकृत हो जाती है और 'मृत' नौड़ जी उठता है।

अपने दोषों और पापों को दूसरों के गले मढ़ने की कायरतापूर्ण मन:दशा संभवत: उसी डर का परिणाम हो, जिससे बाहर निकल पाना वह असंभव समझता हो। इसी भाव ने पहाड़ी मानव को एक अन्य मायाजाल में उलझा दिया। वह मृत्यु, व्याधि, बीमारी, निर्धनता, सम्पन्नता, रूप, सौन्दर्य, शादी-ब्याह, यात्रा सभी को 'भगवान की मरजी', 'भाग की रेखा' मानता है। मरना-जीना, आना-जाना, खाना-पीना प्राय: सभी कुछ दाना-पानी अर्थात् अन्न-जल पर निर्भर है, मानो मनुष्य केवल गुड़िया मात्र है जिसे भाग्य, भगवान और अन्न-जल जहां जाहे, जिधर चाहे जब घुमा-फिरा ले।

षष्ठ अध्याय

सामाजिक जीवन

'अन्न-जल' ने लोगों के मन पर पारलौकिक शक्ति के प्रति आस्था तो उत्पन्न की ही है, साथ में उनके सम्पूर्ण जीवन को यथार्थता भी दी है। अन्न और जल की प्राप्ति उनके जीवन की धुरी है, जिसके इर्दगिर्द उनकी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था घूमती है। यही कारण है कि गांव और अन्य छोटी-बड़ी बस्तियां सामान्यतः उन्हीं स्थानों पर हैं जहां अन्न उत्पादन के लिए भूमि और पीने के लिए जल सुलभ है।

भूमि पर आश्रय—वास्तव में देखा जाए तो प्रत्येक वर्ग या समुदाय की सामाजिक व्यवस्था उसकी अर्थनीति पर आश्रित होती है। हिमाचल प्रदेश के आर्थिक ढांचे का आधार भूमि है। यहां की जनसंख्या का लगभग 95 प्रतिशत भाग कृषिकर्म से निर्वाह करता है, वह चाहे खाद्यान्न के उत्पादन से हो, पशुपालन से अथवा सेब, आम, अंगूर, चाय और आलू की पैदावार से हो।

भौगोलिक कारणों से कृषि योग्य भूमि की यहां पर कमी है, जिससे परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त अन्न-धन उत्पन्न करने के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है। इस कार्य में परिवार के लगभग सभी सदस्यों का सहयोग वांछित होता है। जितने अधिक हाथ काम करने वाले होते हैं, सम्पन्नता की संभावना उतनी अधिक बढ़ जाती है।

संयुक्त परिवार—कृषि की आवश्यकता ही, संभवतः सर्वप्रमुख कारण है जिसने हिमाचल में संयुक्त परिवार परम्परा की नींव डाली है। यह परम्परा इतनी बलवती है कि साधारणतया प्रयत्न यही रहता है कि परिवार के सभी पुत्र विवाहोपरान्त अपनी गृहस्थी बन जाने पर भी अपने उप-परिवारों सहित इकट्ठे रहें जिससे कृषि की विविध मांगों की पूर्ति के लिए जन-शक्ति उपलब्ध हो सके। यदि एक व्यक्ति हल चलाने का काम संभालता है, तो दूसरा भेड़-बकरियां चराने का काम, तीसरा पशुपालन का जिम्मा लेता है, तो चौथा परिवार के अन्य हितों की देखभाल करता है। कई बार देखा गया

है कि अपने-अपने निर्दिष्ट कार्यक्षेत्र में जीवन पर्यन्त संलग्न रहकर वे परिवार की समृद्धि में योगदान देते हैं।

दोघरी—संयुक्त परिवार की अपनी समस्यायें होती हैं। पृथक्-पृथक् रुचियों और विचारों के अनेक प्राणियों का एक ही घर में रहना कई उलझनें पैदा कर सकता है, जिसके परिणामस्वरूप परिवार की सुख-शान्ति और सौहार्द्य पर बुरा प्रभाव पड़ने की आशंका रहती है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार की स्थिति को सामने करने के लिए तथा घर से दूर की भूमि का कुशल नियंत्रण करने के लिए 'दोघरी' या 'छान' का आयोजन किया गया है। दोघरी अथवा छान मुख्य आवास से दूर अन्य गांव या स्थान पर परिवार की जमीन और मकान को कहते हैं।

पहाड़ी क्षेत्र होने के कारण कृषि योग्य भूमि परिवार की सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के उपयुक्त एक ही स्थान पर होती नहीं है। बहुधा गांव में भूमि अपर्याप्त तो होती ही है, उसकी किस्म भी एक जैसी नहीं होती। यदि गांव के पूर्व में खेत गहरी और उपजाऊ मिट्टी के हैं, तो पश्चिम में स्थित खेत कंकरीले और चट्टानी हो सकते हैं। यदि कुछ खेतों में सीलन रहती है, तो दूसरे एकदम खुश्क भी होते हैं, यहां तक कि एक ही खेत का एक भाग उपजाऊ है, तो दूसरा भाग व्यर्थ बंजर हो सकता है। इसके अतिरिक्त पर्वत और धारों की ढलान पर बने सीढ़ीदार खेत जलवायु और समुद्रतल से ऊंचाई के अनुरूप सभी प्रकार की फसलें उगाने के अनुपयुक्त होते हैं, अतः सम्पन्न और बड़े परिवारों की जमीन दो-दो तीन-तीन पृथक्-पृथक् स्थानों पर होती है। यह जमीन एक-दूसरे से पांच-सात मील दूर भी होती है, अतः इस बिखरी हुई जमीन की देखरेख और उस पर कृषि करने के लिए वहां पर संयुक्त परिवार का एक उप-परिवार बस जाता है, अथवा मूल आवास से ही फसली काम करने के लिए परिवार के लोग कुछ दिनों के लिए वहां जाकर ठहरते हैं। इस प्रकार ये दोघरियां संयुक्त परिवार की सत्ता अक्षुण्ण रखने में सहायक होती हैं। संयुक्त परिवार के दो-तीन उप-परिवार इन दोघरियों पर बस जाते हैं। ये उप-परिवार एक प्रकार से स्वतन्त्र भी होते हैं, दैनिक जीवन में उन पर कोई अंकुश नहीं रहता, किन्तु व्याह-शादी, खुशी-गमी, तीज-त्योहार या मेले-उत्सव पर सभी एकत्र हो जाते हैं और मिलजुल कर भाग लेते हैं। वे पृथक् भी हैं और इकट्ठे भी रहते हैं। अतः इस प्रकार के परिवारों में सम्पत्ति के बट-वारे की नौबत अपेक्षाकृत कम आती है। कुछ ऐसे परिवार भी हैं जो तीन-तीन पीढ़ियों से संयुक्त चले आ रहे हैं और फलस्वरूप पितामह के भाइयों के परिवारों से लेकर पोतों तक के परिवार इकट्ठे रहते हैं और एक परिवार के सत्तर-अस्सी सदस्य बन जाते हैं।

किन्तु धीरे-धीरे यह स्थिति बदल रही है। आधुनिक जीवन, नई शिक्षा, परि-वर्तित आर्थिक व्यवस्था, नवीन संदर्भ और बाह्य प्रभाव, सभी संयुक्त परिवार परिपाटी पर बड़ा दबाव डाल रहे हैं, जिससे परिवारों के छोटे-छोटे और पृथक् होने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है।

कृषि की मांग ने अधिकाधिक सदस्यों वाले संयुक्त परिवार और उस परिवार

का सृजन करने के लिए बहुपत्नीकरण को जन्म दिया। इसी कृषि के संरक्षण के सिद्धान्त ने एक विपरीत स्थिति भी उत्पन्न की, जिससे भू-सम्पत्ति को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिए और उसे स्वावलम्बी आर्थिक इकाई बनाए रखने के लिए सभी भाई एक ही पत्नी से विवाह करते हैं। बहुपत्नी और बहुपति प्रथाएं एक ही उद्देश्य की प्राप्ति के दो चरम उपाय हैं। परिवार को संयुक्त बनाए रखने और खेती से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लक्ष्य ने इस विरोधात्मक स्थिति को पैदा किया है। एक में परिवार का फैलाव और दूसरी में उसका सीमित करना दृष्टिगोचर रहा है। जिस परिवार के पास पर्याप्त कृषि योग्य भूमि रहती रही, वहां प्रयत्न यह रहा कि न केवल सभी भाई इकट्ठे रहें, अपितु उनमें से प्रत्येक की एक या दो पत्नियां हों, जिससे कृषि उत्पादन के लिए अधिक व्यक्ति उपलब्ध हो सकें।

बहुपति प्रथा—जिन क्षेत्रों में भूमि कम है और कृषि वर्ष में केवल एक बार ही संभव है और तब भी कुछ इनेगिने मोटे अनाज ही पैदा किए जा सकते हैं, वहां द्रौपदी विवाह ही लोकप्रिय रहा है। द्रौपदी विवाह के अन्तर्गत कई मिलकर एक पत्नी का उपयोग करते हैं, परन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी देखा गया है कि स्त्री के पतियों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में वे पति परस्पर धर्मभाई का रिश्ता स्थापित कर लेते हैं, किन्तु उनकी सन्तान का उनकी सम्पति पर कोई अधिकार नहीं होता है। दूर के रिश्ते के भाइयों की भी कई बार एक ही पत्नी हो सकती है। छः से अधिक भाई हों तो वे दूसरी स्त्री भी घर में ला सकते हैं। ये दोनों उन सभी भाइयों की सहपत्नियां होती हैं। सभी भाई बच्चों के पिता कहलाते हैं, बड़ा भाई 'बड़ा पिता' और छोटा भाई 'छोटा पिता' कहलाता है। किन्नौर में इन्हें 'तेग बाबल' और 'गोता बाबल' कहते हैं। यह भी देखा गया है कि प्रथम सन्तान ज्येष्ठतम भाई की, दूसरी उससे कनिष्ठ की तीसरी उससे छोटे की मानी जाती है, भले ही वास्तव में उनका जनक एक ही पुरुष हो। अनेक बार हास्यकर स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जहां 'बाप' और 'बेटा' तथा पति और पुत्र लगभग समान आयु के होते हैं।

बहुपति प्रथा का प्रचलन किन्नौर और लाहुल में है। स्पिति, चम्बा के पांगी क्षेत्र, कुल्लू के भीतरी भाग, महासू के पूर्वी छोर और सिरमौर के रेणका इलाके में कहीं-कहीं इस परम्परा का अनुसरण किया जाता है। समय के साथ यह समाप्त होती जा रही है।

किन्नौर और स्पिति में गृहस्थी को सीमित बनाए रखने में बौद्ध विहार भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इन विहारों में बालक और बालिकाएं भिक्षु एवं भिक्षुणी का जीवन व्यतीत करती हैं। लामा बनने वाला बालक सात या दस वर्ष की आयु में ही दीक्षित हो जाता है। यह दीक्षा कानम, शूनम, गुरूघंटाल, तावो की अथवा किसी अन्य बौद्ध विहार में ली जा सकती है। ये लामा आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहते हैं। लामाओं की ऐसी श्रेणी भी है, जिनमें विवाह करने का रिवाज है। कन्यायें भी आजन्म कुंवारी रह कर विहार में जीवन व्यतीत करती हैं। उनका मुख्य कार्य स्वाध्याय और धर्म-प्रचार होता है। इन्हें 'जोमो' कहा जाता है।

लाहुल और किन्नौर में सम्पत्ति पर लामा और जोमो को छोड़ सारी सन्तति का अधिकार होता है, किन्तु स्पिति में उत्तराधिकार और सम्पत्ति का स्वामित्व केवल ज्येष्ठ पुत्र का होता है। बाकी पुत्र मठ में जाकर दीक्षित हो आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। गृहस्वामी यदि निस्सन्तान मर जाए, तो उसका छोटा भाई मठ से, जिसे गोम्पा कहा जाता है, आकर गृहस्थी संभाल लेता है। वह प्रायः बड़े भाई की पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करता है। कहीं-कहीं वह नई पत्नी लाकर उससे पुत्र उत्पन्न कर गृहस्थी का स्वामी बन जाता है।

खंग चुंग—स्पिति की एक और विशेषता यह है कि ज्येष्ठ पुत्र ज्योंही विवाह करता है, वह परिवार का मुखिया बन जाता है और पैत्रिक जमीन और मकान को अपने अधिकार में ले लेता है। उसका पिता मुखिया-भार से निवृत्त हो एक दूसरे मकान में रहने चला जाता है। इस मकान को खंग चुंग (छोटा घर) कहा जाता है। यह खंग चुंग दायित्व-निवृत्त माता-पिता का स्थायी निवास होता है। पुश्त-दर-पुश्त पित खंग-चुंग में ही रहता है। यदि विवाह के समय पितामह भी जीवित हो, तो उसके निवास के लिए एक अन्य पृथक् घर होता है। इस घर में केवल पितामह ही रह सकता है। यह व्यवस्था यौवन के सत्कार के लिए हो, या शायद इसलिए कि पुत्र के एका-धिकार में कोई विघ्न न आए। यह भी संभव है कि खंग चुंग द्वारा आयुजनित अनुभव को निकट रखकर दैनिक जीवन के सामने आने वाली समस्याओं का हल ढूंढ़ने में उससे सहायता का लिया जाना वांछित हो।

आयु पूजा—यों भी आयु का सत्कार समस्त हिमाचल प्रदेश की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। आयु पूजनीय है जिसे हर स्थान पर, प्रत्येक अवसर पर महत्ता दी जाती है। चाहे कोई मेला हो या मनोरंजन का अन्य अवसर, पर्व हो, त्यौहार हो, उसकी अगु-आई स्वीकार की जाती है। नाटी आदि नृत्य का नेतृत्व सबसे बड़ी आयु वाला व्यक्ति ही करता है और नृत्य आरम्भ करने से पूर्व देवता के समान उसकी वाद्य यन्त्रों से आरा-धना की जाती है। हां यह आवश्यक है कि आयु के साथ जाति और वर्गगत श्रेष्ठता भी हो, अतः सबसे ऊंची जाति का वयोवृद्ध व्यक्ति ही सामान्यतः इस प्राथमिकता का अधिकारी होता है।

यह जातीय श्रेष्ठता खाने की पंगत (पंक्ति) में भी विशेष रूप से लक्षित होती है। कुछ काल पूर्व तक तो ये पंगतें कई बार भयंकर विवाद का सूत्रपात करती थीं। कलह का कारण पंगत में स्थान होता था। कौन व्यक्ति किस स्थान पर बैठा है, क्या वह उस स्थान का अधिकारी है? सामूहिक भोज या 'धाम' के अवसर पर पंगत की पहली जगह पर साधारणतया वृद्ध पुरुष ही बैठा करता है।

हल घृणा—हिमाचली जन-जीवन का विस्मयकारी पक्ष एक दूसरे क्षेत्र में भी सामने आता है। इस प्रदेश का जीवन कृषि पर आधारित है। प्रायः सभी परिवारों के पास अपनी थोड़ी-बहुत जमीन है, किन्तु खेती कमाने के प्रमुख साधन हल के प्रति यहां प्रतिकूलात्मक दृष्टिकोण है। ब्राह्मणों और राजपूतों के मूर्धन्य वर्गों में हल के

लिए स्पष्ट घृणा है। वे सभी जमीन के स्वामी हैं, लेकिन स्वयं खेती नहीं करेंगे, हल नहीं चलाएंगे। यहां तक कि उनकी श्रेष्ठता, महानता और पवित्रता का मानदंड ही हल है। यदि वे हल न चलाएं तो उनकी शुचिता अक्षुण्ण है। कहीं दुर्दिनों में दुर्भाग्यवश खेत में हल चला लिया तो श्रेष्ठता के उच्च शिखर से गिरकर नीचता और हीनता के गहरे गर्त में पहुंच जाते हैं। जाति में उनका स्थान नीचा हो जाता है और उनके सगे-सम्बन्धी भविष्य में उनके साथ रोटी-बेटी का रिश्ता करने में हिचकिचाहट महसूस करते हैं। स्त्रियों के लिए हल में हाथ लगाना यों भी निषिद्ध है।

यह कहावत सर्वत्र प्रचलित है कि, 'उत्तम खेती, मध्यम व्यापार और निकृष्ट चाकरी', किन्तु व्यवहार में खेती को ही निकृष्ट स्थान दिया जाता है। कृषि के प्रति इन वर्गों में इस द्वेष के संभवतः दो कारण हैं। एक तो यह है कि ये वर्ग देश के दूसरे भागों से आकर यहां बसे। यहां के पहले के निवासी खेतीवाड़ी करते थे। नवागंतुक शक्ति-सम्पन्न रहे हों, अतः स्थानीय लोगों से घुलमिल जाना उन्हें घृणास्पद लगा होगा। अतः अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाए रखने के लिए उन्होंने कृषिकर्म से ही अलग रहना उचित समझा होगा।

यह भी संभव है कि पहाड़ी जमीन इतनी उपजाऊ तो है नहीं कि उससे सहज में रोजी कमाई जा सके। जीवन योग्य उत्पादन लेने के लिए इतना श्रम और समय लगाना पड़ता है कि उसके अलावा दूसरा कोई काम हो नहीं सकता। ब्राह्मणों के विद्याध्ययन, पूजा-पाठ और राजपूतों के शासन-कार्य में इससे रुकावट पड़ती रही हो, अतः उन्होंने इसे अपने जीवन में विघ्न माना हो। कालान्तर में यह भाव रूढ़ि में परिवर्तित हो गया और चाहे ब्राह्मण और राजपूत पढ़ना-लिखना, शासन का कामकाज या देश-रक्षा करें या न करें, हल उनके लिए अछूत बना रहा है। वैज्ञानिक युग और कृषि-क्रान्ति ने भाग्यवश इस अहितकर दृष्टिकोण में सुधार लाना आरम्भ कर दिया है।

सहकारिता—सहकारिता पहाड़ी मनुष्य के लहू में है। प्रकृति यहां इतनी क्रूर है कि अकेला व्यक्ति अपने आपको सर्वथा अकिंचन एवं असमर्थ पाता है, अतः यह स्वाभाविक है कि वह मिलजुलकर रहे, मिलजुलकर काम करे। गांव में अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा कैसा भी परिवार हो, आवश्यकता पड़ने पर सभी मिलकर उसका काम निकाल लेते हैं। कोई व्यक्ति यदि चाहे तो मकान बनवाने से लेकर फसल की बिजाई-कटाई तक गांव वालों से करवा सकता है। इस पद्धति को कहीं-कहीं 'दारगी' या 'हेला' कहते हैं। इस सामूहिक कार्य के बदले में काम करने वालों को केवलमात्र अच्छा भोजन देना और बुलाए जाने पर स्वयं दूसरों के काम में सहायक होने को प्रतिबद्ध होना होता है। यदि दिन-भर का काम हो तो दोनों समय का भोजन, यदि आधे दिन का तो केवल प्रातःकालीन भोजन ही खिलाया जाता है। मकान बनाने के लिए लकड़ या स्लेटें लाना जैसा बड़ा काम हो, तो गांव के हर घर से एक न एक व्यक्ति अवश्य 'दारगी' में सम्मिलित होता है। इस प्रकार बहुमंजिला मकान के लिए भारी-भारी लकड़ और सैकड़ों स्लेटें एक दिन में ही द्वार पर पहुंच जाती हैं। विवाह और यज्ञ जैसे सामाजिक

कार्यों में भी गांव के निवासियों का पूरा सहयोग होता है। लकड़ी काटना, धान कूटना, गेहूं पीसना, सभी काम मिलकर करते हैं। बाहर से आने वाली बारात की देखरेख और विवाहोपरान्त दिए जाने वाले जन-भोज, धाम का प्रबन्ध भी गांव के अपने-पराये कर देते हैं। घर वालों का कार्य तो बहुधा भोज में लगने वाली सामग्री मात्र उनके हवाले कर देना होता है।

मधुर स्वभाव—स्वभाव से पहाड़ों पर रहने वाले लोग मधुर हैं। पिछली शताब्दी के मध्य में जब इस प्रदेश में सिख सत्ता का अन्त और अंग्रेजी एकाधिकार का समारम्भ हुआ था, तब जो पहला अंग्रेज अफसर कांगड़ा में नियुक्त हुआ था, उसने यहां के निवासियों के प्रति अपना मत व्यक्त करते हुए यों कहा था :

"यहां के लोग सरल, मेहनती, मितव्ययी और ईमानदार हैं। व्यवहार में खरे, मिलनसार और सर्वथा विश्वासपात्र हैं, पूरे स्वामिभक्त, अतिथि-पूजक और सहनशील हैं। इन्हें विश्वास और जिम्मेदारी की जगह पर निःशंक नियुक्त किया जा सकता है। इनकी बातचीत के ढंग से यद्यपि हिन्दुस्तानियों की सी दिखावे की नफासत नहीं है, तथापि उसमें अकृत्रिम शिष्टता, शालीनता और भोली सरलता भरपूर पाई जाती है। सत्य पर दृढ़ रहना यहां के शील का विशेष गुण है।" वह अंग्रेज अधिकारी पांच वर्ष तक कांगड़ा का जिलाधीश रहा था। उसके अनुसार उसकी पांच साल की जिलाधीशता में एक भी ऐसी घटना नहीं हुई जब किसी ने जान-बूझकर झूठी गवाही दी हो। "लोग वचन के पक्के हैं, लेनदेन के व्यवहार में लिखित इकरारनामा कभी-कभार करते हैं। मौखिक वचन ही इतना पक्का समझा जाता है जितना लिखित बाँड।" बार्निस नामक इस जिलाधीश का कहना है कि "बुराई के नाम पर इतना ही कहा जा सकता है कि यहां के लोग अत्यन्त अन्धविश्वासी हैं, छूआछात और जातपात की कुप्रथाओं से ग्रस्त हैं, जादू-टोने, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन को बहुत मानते हैं, बीमारी, आपत्ति, यहां तक कि फसल की खराबी को भी किसी देवी-देवता या पीर-फकीर का प्रकोप मानते हैं। अपनी अनख और आन की रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान कर देते हैं। अपमान या बदतमीजी का एक शब्द या अन्यायपूर्ण व्यवहार उनके सदा के असहयोग या वैर के लिए काफी है।"

ठीक यही बात हिमाचल के अन्य क्षेत्रों की भी है। अन्तर केवल इतना है कि यह स्थिति सन् 1850 की थी। इधर के सौ सवा सौ वर्षों में गुणों और अवगुणों दोनों में कमी आई है। फिर भी यह निर्विवाद तथ्य है कि यहां का मानव आज देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक सरल, मृदुभाषी, शान्तिप्रिय, परिश्रमी, निष्कपट और ईमानदार है।

सामाजिक जीवन की एक अन्य रोचक बात यह है कि गांव के सभी लोग एक-दूसरे को किसी न किसी रिश्ते से सम्बोधित करते हैं। यदि कोई वयोवृद्ध पुरुष है, तो वह मामा, चाचा या दादा पुकारा जाता है, इसी प्रकार स्त्री, मामी, बुआ, चाची, नानी और दादी कहलाती है। मुंहबोले इन रिश्तों के लिए भी उसी प्रकार का सम्मान

प्रदर्शित होता है जैसा सगे-सम्बन्धों के प्रति। गांव की युवती सभी युवकों और बालकों की बड़ी या छोटी बहन है, हर युवक भाई है, वह चाहे अमीर घर का हो, या गरीब का, तथाकथित ऊंची जाति का हो अथवा नीची का। इस प्रकार समूचा गांव एक बड़ा कुटुम्ब-सा बन जाता है। किन्तु जिस प्रकार कुटुम्ब में कलह होता है, उसी प्रकार इस वृहत् कुटुम्ब में भी मनोमालिन्य पाया जाता है। परिणाम यह कि कई बार छोटी-छोटी बातों पर विवाद उठ खड़ा होता है, जिसके लिए थानों, अदालतों तथा देवता की शरण जाना पड़ता है। आधुनिक अदालतें तो गांव से दूर जिला या तहसील केन्द्र में ही होती हैं, वहां तक पहुंचने के लिए ऐसा भी देखा गया है कि गांव से दोनों विरोधी पक्ष एक साथ यात्रा पर निकलते हैं। मार्ग में साथ ठहरते, खाना-पीना करते हैं, कचहरी में पहुंच कर एक-दूसरे के विरुद्ध बयान देते हैं, झूठी-सच्ची साक्षी पेश करते हैं, आरोप और प्रत्यारोप लगाते हैं, किन्तु जब इससे निवृत्त हो चुकते हैं, तो वापिसी यात्रा भी साथ ही करते हैं।

आपत्काल, विपत्ति और संघर्ष में भी इस प्रकार मूलभूत मानवीय मूल्यों को बनाए रखना यहां के लोगों की निजी विशेषता है। इसी ने उन्हें मेलों, त्यौहारों और पर्वों में आनन्द प्राप्त करने का मार्ग दिखाया ताकि बीते हुए कल की दुष्चिन्ताओं, आज की समस्याओं और कल की भयावहता से त्राण पा सकें। भले ही यह मुक्ति कुछ एक क्षणों के लिए ही हो।

जैसा हम आगे देखेंगे, मेले तो उनकी सौन्दर्यानुभूति के प्रकाशन और उल्लासाभिव्यक्ति के साधन हैं। पर्वों और त्यौहारों को उन्होंने सामाजिक और धार्मिक तुष्टि का माध्यम बनाया है। इन अवसरों पर वे परस्पर मिलते-जुलते हैं और धर्म के शास्त्रीय तथा लौकिक तत्त्वों से गहरा परिचय प्राप्त करते हैं।

पर्व और त्यौहार—पर्व और त्यौहारों पर आम तौर पर लोग मन्दिरों में देव-पूजा के लिए जाते हैं। कतिपय ऐसे अवसर भी हैं जब नदी सरिता में नहाना पुण्य का काम समझा जाता है। पर्व और त्यौहार मुख्य वही हैं जो भारत के अन्य भागों में भी मनाए जाते हैं, किन्तु यहां पर प्रत्येक संक्रान्ति भी एक प्रकार का पर्व मानी जाती है, विशेषत: वैशाख, जेठ, मार्गशीर्ष और माघ की संक्रान्तियों के दिन सगे-सम्बन्धियों को न्योता दिया जाता है, कुल देवता की पूजा होती है और देवालयों में भजन-कीर्तन होता है। जेठ की संक्रान्ति के दिन प्रदेश के कई भागों में नए अन्न के पकवान बना कर देवार्पण किए जाते हैं। ग्राम के मुख्य मन्दिर में उस दिन मेला लगता है, और ग्राम वधुएं कचौरी, पूले, लूची, पोल्डू और बड़े बनाकर विधिवत् देवता को समर्पण करती हैं। पुरुष मन्दिर के आंगन में देवकीर्तन करते हैं, भजन गाते हैं और नृत्य करते हैं।

छोटे-मोटे त्यौहार तो बहुत हैं और उनकी गिनती भी कठिन है, किन्तु बसन्त पंचमी, होली, फाग, रली, चैत्र और आश्विन के नवरात्रे, नागपंचमी, जन्माष्टमी, दीपावली और दुशैहरा विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ स्त्रियां पूर्णमासी, करवाचौथ और हरितालिका का व्रत रखती हैं।

शिवरात्रि—इन पर्वों पर त्यौहारों में सर्वाधिक महत्त्व शिवरात्रि का है। यह

त्यौहार समूचे प्रदेश में मनाया जाता है, हां इसके मनाने के तरीके अलग-अलग हैं। कांगड़ा तथा शिवालिकीय क्षेत्र में इस दिन मन्दिर में जाकर दूध, बिलपत्र आदि से शिव की पूजा की जाती है। उपवास रखा जाता है। कुल्लू, चम्बा, महासू और सिरमौर में इस दिन प्राय: सभी नर-नारी व्रत रखते हैं, शिवपूजा मन्दिर में जाकर करते हैं किन्तु जब तक संध्या समय घर पर बनाए गए 'महादेव' की पूजा-अर्चना न की जाए, तब तक व्रत पूरा नहीं समझा जाता है। इस 'महादेव' की पूजा ही शिवरात्रि त्यौहार का मुख्य आकर्षण है। कहीं-कहीं यह 'महादेऊ' जौ के पौधों, बिलपत्र, नीले रंग के ऊजर-जोटी नामक पुष्प और ताजा वृक्ष की पत्तियों को धागे से पिरोकर बनाया जाता है। ऊपर से खट्टा फल अथवा उसकी पत्तियां गूंथी जाती हैं। इस दिन नाना प्रकार का भोजन बनाया जाता है, जिसमें कचौरियां, बड़े, चावल के पापड़, लूची और मांस अनिवार्य हैं। महादेव के पूजा-मंडप के लिए आटे के तले हुए हाथी, बकरे, भेड़े आदि पकाए जाते हैं। पूजा के उपरान्त सारी रात नृत्य और संगीत चलता रहता है।

शिवरात्रि का परम आवश्यक अंग बहनों, पुत्रियों तथा उनके बच्चों के लिए त्यौहार पर बने पकवानों का पहुंचाना है। दूसरे दिन इन्हें छावड़ियों या किल्टों में डाल कर दूर-दूर के गांव में, जहां भी वे कुलजायाएं ब्याही हुई हों, पहुंचाया जाता है।

वसन्त पंचमी—वसन्त पंचमी का त्यौहार बिलासपुर में धार्मिक कम, ऐतिहासिक अधिक है। दो दिनों का यह त्यौहार वहां नगर के निकट गुरु का लाहौर नामक स्थान पर मनाया जाता है।

विश्वास यह किया जाता है कि इस स्थान पर गुरु गोबिन्द सिंह का विवाह हुआ था। गुरु गोविन्द तब मुगलों से युद्ध कर रहे थे। उनकी सगाई लाहौर में तय हो चुकी थी, विवाह की तिथि भी पंडित पुरोहितों ने निश्चित कर ली थी, किन्तु मुगलों के साथ चले संघर्ष को देखकर गुरु ने आनन्दपुर से लाहौर जाना उचित नहीं समझा। अत: उन्होंने अपने ससुराल वालों से लड़की लेकर वहीं आने का अनुरोध किया। लड़की लेकर वे आए और आनन्दपुर के निकट एक स्थान पर ठहर गए। लोगों ने उस स्थान को ही लाहौर मान लिया और उसे गुरु का लाहौर नाम दिया। कहा जाता है कि उस स्थान पर तब जल नहीं था। गोबिन्द सिंह ने अपने भाले को तीन बार एक पत्थर पर मारा और वहां से पानी की एक धारा फूट पड़ी। वधू को उस धारा में नहलाया गया। उसी स्थान पर गुरु के घोड़े की टाप भी मौजूद है। तब से वसन्त पंचमी का त्यौहार सिख और बिलासपुर वाले यहीं मनाते चले आ रहे हैं। जो धारा गोबिन्द सिंह के भाले से फूटी थी, उसे त्रिवेणी कहा जाता है, जिसका उतना ही महत्त्व है जितना गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम का है। गुरु का विवाह वसन्त पंचमी को हुआ था। इसलिए आज भी अनेक सिख इस दिन यहां त्रिवेणी पर ब्याह रचाते हैं।

मिंजर—वसन्त पंचमी की तरह ही कुछ अन्य त्यौहार भी हैं, जिन्हें किसी ऐतिहासिक घटना के संसर्ग के कारण ऐतिहासिक स्वरूप मिल गया है। इस प्रकार के पर्वों में बूढ़ी दीवाली अथवा दियाउड़ी और मिंजर उल्लेखनीय हैं।

मिंजर वरुण की पूजा का त्यौहार है। कृषि यहां वर्षा पर आश्रित है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि लोग वरुण की पूजा करें, और उसकी कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए धान और मक्की की बालियां उसे भेंट करें। श्रावण के दूसरे रविवार को इन बालियों की पारस्परिक भेंट से यह त्यौहार आरम्भ होता है। पहले यह परम्परा थी कि इसे लोग एक सप्ताह तक पहनते थे और तीसरे रविवार को समारोहपूर्वक रावी में विसर्जित किया करते थे। राजाओं के समय तो इस अवसर पर मिंजर, फल और मिठाइयां देव मन्दिरों में चढ़ाई जाती थीं। पुनः राजा इन्हें अपने अधिकारियों में बांटता था। अब मिंजर की भेंट को बांटने का काम नगरपालिका करती है।

संभवतः इस मिंजर के दिन दसवीं शताब्दी में साहिलवर्मा या कभी बाद में राजा प्रतापसिंह वर्मा ने किसी युद्ध में विजय प्राप्त की हो। तब से यह पर्व उनकी जीत का प्रतीक बन गया। यह भी हो सकता है कि मिंजरों की भेंट वास्तव में उस सहायता अथवा कर का प्रतीक हो, जिसे प्रजा राजा के कोष को भरने के लिए आपत्काल में स्वेच्छा से देती रही हो।

वरुण-पूजा, विजय-समारोह और राजभक्ति के साथ मिंजर मेले में चमत्कार का समावेश भी हो गया। यह चमत्कार किसी सिद्ध महात्मा ने रावी के प्रवाह को ही बदलकर किया माना जाता है। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि शताब्दियों पूर्व रावी चम्बा नगर के चौगान से होकर बहा करती थी। नदी के दाहिने किनारे चम्पावती देवी का मन्दिर था और बाईं ओर हरिराय का मन्दिर। एक दिन एक महात्मा आए और चम्पावती के मन्दिर में आसन लगाके बैठ गए। वह स्वयं हरिराय के दर्शन करने नदी तैर कर जाया करते थे। और एक दिन राजा और नगर के लोग महात्मा के पास आए और विनती की कि "महाराज, हम भी हरिराय के दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु नदी हम तैर नहीं सकते हैं, इस कारण हमारी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती है।" महात्मा ने नगरवासियों की सहायता से चम्पावती के मन्दिर में एक महान यज्ञ किया। यह यज्ञ सात दिनों तक होता रहा। इस बीच उन्होंने सात रंग के रस्से तैयार किए। इस सतरंगी रस्से का नाम मिंजर रखा गया। यज्ञ की पूर्णाहुति की रात नदी ने अपना बहाव बदल लिया और हरिराय के दर्शन लोगों के लिए सुलभ हो गए।

रली—करवा चौथ और हरितालिका तो सामान्यतः विवाहित स्त्रियों के त्यौहार हैं, कांगड़ा में रली ऐसा त्यौहार है, जिसे केवल अविवाहित कन्यायें मनाती हैं। रली वस्तुतः कन्याओं का वर-प्राप्ति का व्रत है। यह व्रत चैत के सारे महीने रखा जाता है।

संक्रान्ति से एक दिन पूर्व रली व्रत रखने वाली सभी ग्राम अथवा नगर कन्यायें एक स्थान पर रली की स्थापना करती हैं। रली की स्थापना के लिए भूमि में कौड़ियां दबाई जाती हैं। उनके ऊपर शिव और पार्वती की मिट्टी की मूर्तियां रखी जाती हैं। संक्रान्ति के दिन प्रातःकाल लड़कियां फूल चुन लाती हैं और जौ के पौधे, पुष्प, अक्षत और

कुंकुम से रली की पूजा करती हैं। जिस कन्या के घर पर रली स्थापित होती है, पूजा के उपरान्त लड़कियां मिलकर उसे नचाती हैं। सन्ध्या समय पुनः शिव-पार्वती की आरती होती है, प्रसाद चढ़ाया जाता है और कीर्तन होता है।

बैसाख की संक्रान्ति से एक दिन पूर्व काफी बड़ा भोज दिया जाता है। शंकर को दूल्हा बनाकर बारात से नगर का चक्कर कटवाया जाता है। उसके पश्चात् बरात रली के घर आती है। वहां दो पुरोहित विधिपूर्वक रात्रि में शिव और रली के फेरे कराते हैं। अगले दिन रली, शंकर और पार्वती की मूर्तियों का विसर्जन और जलप्रवाह किया जाता है।

'बी मा' विधि माता—जेठ के पहले पखवाड़े में मुख्यतः सतलुज उपत्यका में स्त्रियां बी मा (विधि माता) विधाता का पूजन करती हैं। संक्रान्ति के दिन बी मा की स्थापना की जाती है और प्रातःकाल अन्न-जल ग्रहण किए बिना स्त्रियां उसकी पूजा करती हैं। पूजा के उपरान्त पतिव्रता स्त्रियों की आख्यानों पर आधारित कथायें दी जाती हैं। पंद्रह दिनों के पश्चात् बी मा का विसर्जन किया जाता है। इस अवसर पर स्त्रियों का एक विशेष वर्ग लास्य जैसा नृत्य करता है। विधाता की पूजा पर कही जाने वाली कथाओं में से एक इस प्रकार है—

"एक नदी के किनारे एक वटवृक्ष था। यह वृक्ष बहुत पुराना था। उसमें एक कीड़ा दम्पती रहा करते थे। उन्हें वृक्ष में सब सुविधाएं प्राप्त थीं—खाने के लिए फल, धूप से बचने के लिए छांव, रहने के लिए सुखदायक घर।

वृक्ष में रहते कीड़ा तथा उसकी कीड़ी को बहुत समय बीत गया। एक बार वसन्त ऋतु की समाप्ति पर ग्रीष्म के आरम्भ से ही वर्षा का नितान्त अभाव हो गया। वृक्ष की पत्तियां गर्मी से सूख कर झड़ गईं। ताप का प्रकोप छांव में भी असह्य हो उठा। कीड़ा दम्पती प्यास, भूख और गर्मी से व्याकुल रहने लगा। एक दिन मादा कीड़ा सुबह ही अपनी प्यास बुझाने नदी के तट की ओर चल पड़ी। वहां पहुंचकर उसने देखा, बहुत-सी स्त्रियां पूजा कर रही हैं। कौतूहलवश वह भी देखती रही और उनकी कथा सुनने लगी, जिसे एक वृद्धा स्त्री सुना रही थी। पूजा और कथा की समाप्ति पर मादा कीड़ा ने मिष्ठान आदि प्रसाद खाया और नदी से जल पीकर घर आ गई।

इस प्रकार वह प्रतिदिन नदी तट पर आती, स्त्रियों की पूजा को देखती, कथा सुनती और घर लौट आती। वह प्रसन्न थी कि दुष्काल में भी उसके आहार का समुचित प्रबन्ध हो गया है। आठवें दिन उसने अपने पति को भी साथ चलने के लिए प्रेरित किया। अब वे दोनों नदी किनारे जाते और पेट भर कर आहार करते। भगवान का धन्यवाद देते कि अकाल में भी वह उनकी रक्षा कर रहा है।

सत्रहवें दिन जब वे वहां पहुंचे, तो क्या देखते हैं कि वहां न तो स्त्रियां हैं और न खाने का कोई सामान। काफी देर तक प्रतीक्षा की. किन्तु न किसी स्त्री ने आना था, न कोई आई। खिन्न मन दोनों वापिस लौट पड़े। भविष्य के बारे में जब यह कीड़ा-युगल चिन्तित था, तभी वृक्ष पर एक पक्षी आ बैठा। उसने सूचना दी कि पास के नगर में यज्ञ हो रहा है, यदि वे चाहें तो वहां जाकर पेट भर सकते हैं।

मिंजर वरुण की पूजा का त्यौहार है। कृषि यहां वर्षा पर आश्रित है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि लोग वरुण की पूजा करें, और उसकी कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए धान और मक्की की बालियां उसे भेंट करें। श्रावण के दूसरे रविवार को इन बालियों की पारस्परिक भेंट से यह त्यौहार आरम्भ होता है। पहले यह परम्परा थी कि इसे लोग एक सप्ताह तक पहनते थे और तीसरे रविवार को समारोहपूर्वक रावी में विसर्जित किया करते थे। राजाओं के समय तो इस अवसर पर मिंजर, फल और मिठाइयां देव मन्दिरों में चढ़ाई जाती थीं। पुनः राजा इन्हें अपने अधिकारियों में बांटता था। अब मिंजर की भेंट को बांटने का काम नगरपालिका करती है।

संभवतः इस मिंजर के दिन दसवीं शताब्दी में साहिलवर्मा या कभी बाद में राजा प्रतापसिंह वर्मा ने किसी युद्ध में विजय प्राप्त की हो। तब से यह पर्व उनकी जीत का प्रतीक बन गया। यह भी हो सकता है कि मिंज़रों की भेंट वास्तव में उस सहायता अथवा कर का प्रतीक हो, जिसे प्रजा राजा के कोष को भरने के लिए आपत्काल में स्वेच्छा से देती रही हो।

वरुण-पूजा, विजय-समारोह और राजभक्ति के साथ मिंजर मेले में चमत्कार का समावेश भी हो गया। यह चमत्कार किसी सिद्ध महात्मा ने रावी के प्रवाह को ही बदलकर किया माना जाता है। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है कि शताब्दियों पूर्व रावी चम्बा नगर के चौगान से होकर बहा करती थी। नदी के दाहिने किनारे चम्पावती देवी का मन्दिर था और बाईं ओर हरिराय का मन्दिर। एक दिन एक महात्मा आए और चम्पावती के मन्दिर में आसन लगाके बैठ गए। वह स्वयं हरिराय के दर्शन करने नदी तैर कर जाया करते थे। और एक दिन राजा और नगर के लोग महात्मा के पास आए और विनती की कि "महाराज, हम भी हरिराय के दर्शन करना चाहते हैं, किन्तु नदी हम तैर नहीं सकते हैं, इस कारण हमारी अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती है।" महात्मा ने नगरवासियों की सहायता से चम्पावती के मन्दिर में एक महान यज्ञ किया। यह यज्ञ सात दिनों तक होता रहा। इस बीच उन्होंने सात रंग के रस्से तैयार किए। इस सतरंगी रस्से का नाम मिंजर रखा गया। यज्ञ की पूर्णाहुति की रात नदी ने अपना बहाव बदल लिया और हरिराय के दर्शन लोगों के लिए सुलभ हो गए।

रली—करवा चौथ और हरितालिका तो सामान्यतः विवाहित स्त्रियों के त्यौहार हैं, कांगड़ा में रली ऐसा त्यौहार है, जिसे केवल अविवाहित कन्यायें मनाती हैं। रली वस्तुतः कन्याओं का वर-प्राप्ति का व्रत है। यह व्रत चैत के सारे महीने रखा जाता है।

संक्रान्ति से एक दिन पूर्व रली व्रत रखने वाली सभी ग्राम अथवा नगर कन्यायें एक स्थान पर रली की स्थापना करती हैं। रली की स्थापना के लिए भूमि में कौड़ियां दबाई जाती हैं। उनके ऊपर शिव और पार्वती की मिट्टी की मूर्तियां रखी जाती हैं। संक्रान्ति के दिन प्रातःकाल लड़कियां फूल चुन लाती हैं और जौ के पौधे, पुष्प, अक्षत और

कुंकुम से रली की पूजा करती हैं। जिस कन्या के घर पर रली स्थापित होती है, पूजा के उपरान्त लड़कियां मिलकर उसे नचाती हैं। सन्ध्या समय पुनः शिव-पार्वती की आरती होती है, प्रसाद चढ़ाया जाता है और कीर्तन होता है।

वैसाख की संक्रान्ति से एक दिन पूर्व काफी बड़ा भोज दिया जाता है। शंकर को दूल्हा बनाकर बारात से नगर का चक्कर कटवाया जाता है। उसके पश्चात् बरात रली के घर आती है। वहां दो पुरोहित विधिपूर्वक रात्रि में शिव और रली के फेरे कराते हैं। अगले दिन रली, शंकर और पार्वती की मूर्तियों का विसर्जन और जलप्रवाह किया जाता है।

'बी मा' विधि माता—जेठ के पहले पखवाड़े में मुख्यतः सतलुज उपत्यका में स्त्रियां बी मा (विधि माता) विधाता का पूजन करती हैं। संक्रान्ति के दिन बी मा की स्थापना की जाती है और प्रातःकाल अन्न-जल ग्रहण किए बिना स्त्रियां उसकी पूजा करती हैं। पूजा के उपरान्त पतिव्रता स्त्रियों की आख्यानों पर आधारित कथायें दी जाती हैं। पंद्रह दिनों के पश्चात् बी मा का विसर्जन किया जाता है। इस अवसर पर स्त्रियों का एक विशेष वर्ग लास्य जैसा नृत्य करता है। विधाता की पूजा पर कही जाने वाली कथाओं में से एक इस प्रकार है—

"एक नदी के किनारे एक बटवृक्ष था। यह वृक्ष बहुत पुराना था। उसमें एक कीड़ा दम्पती रहा करते थे। उन्हें वृक्ष में सब सुविधाएं प्राप्त थीं—खाने के लिए फल, धूप से बचने के लिए छांव, रहने के लिए सुखदायक घर।

वृक्ष में रहते कीड़ा तथा उसकी कीड़ी को बहुत समय बीत गया। एक बार वसन्त ऋतु की समाप्ति पर ग्रीष्म के आरम्भ से ही वर्षा का नितान्त अभाव हो गया। वृक्ष की पत्तियां गर्मी से सूख कर झड़ गईं। ताप का प्रकोप छांव में भी असह्य हो उठा। कीड़ा दम्पती प्यास, भूख और गर्मी से व्याकुल रहने लगा। एक दिन मादा कीड़ा सुबह ही अपनी प्यास बुझाने नदी के तट की ओर चल पड़ी। वहां पहुंचकर उसने देखा, बहुत-सी स्त्रियां पूजा कर रही हैं। कौतूहलवश वह भी देखती रही और उनकी कथा सुनने लगी, जिसे एक वृद्धा स्त्री सुना रही थी। पूजा और कथा की समाप्ति पर मादा कीड़ा ने मिष्ठान आदि प्रसाद खाया और नदी से जल पीकर घर आ गई।

इस प्रकार वह प्रतिदिन नदी तट पर आती, स्त्रियों की पूजा को देखती, कथा सुनती और घर लौट आती। वह प्रसन्न थी कि दुष्काल में भी उसके आहार का समुचित प्रबन्ध हो गया है। आठवें दिन उसने अपने पति को भी साथ चलने के लिए प्रेरित किया। अब वे दोनों नदी किनारे जाते और पेट भर कर आहार करते। भगवान का धन्यवाद देते कि अकाल में भी वह उनकी रक्षा कर रहा है।

सत्रहवें दिन जब वे वहां पहुंचे, तो क्या देखते हैं कि वहां न तो स्त्रियां हैं और न खाने का कोई सामान। काफी देर तक प्रतीक्षा की, किन्तु न किसी स्त्री ने आना था, न कोई आई। खिन्न मन दोनों वापिस लौट पड़े। भविष्य के बारे में जब यह कीड़ा-युगल चिन्तित था, तभी वृक्ष पर एक पक्षी आ बैठा। उसने सूचना दी कि पास के नगर में यज्ञ हो रहा है, यदि वे चाहें तो वहां जाकर पेट भर सकते हैं।

आशा लिए कीड़ों की जोड़ी रेंगते हुए यज्ञ-स्थल पर पहुंची, किन्तु विधाता का लेख, इतनी मुसीवत उठाने पर ज्यों ही वे वहां पहुंचे, उन पर उवलती दाल गिर पड़ी और उनकी मृत्यु हो गई।

दूसरे जन्म में मादा कीड़े ने एक राजा के घर कन्या के रूप में जन्म लिया। नर कीड़े ने मछुए के घर वालक के रूप में। राजा कन्या-रत्न पा प्रसन्न हो उठा, उधर मछुआ भी पुत्र का मुख देखकर फूला न समाया। राजकुमारी का सौन्दर्य चन्द्रकला के समान वढ़ने लगा। उसका नखशिख, रूप-रंग, आचार-व्यवहार सवका मन मोहने लगा। मछुए का पुत्र अपने पिता की सहायता करता और मछलियां पकड़कर राजदरवार में वेच आता।

राजकुमारी जव विवाह योग्य हो गई, तो वृद्ध राजा वर की खोज करने लगा। पुत्री की प्रखर बुद्धि को देख उसने निश्चय किया कि उसे स्वयं वर चुनने का अवसर दिया जाना चाहिए। अत: उसने देश-विदेश के राजकुमारों को स्वयंवर में सम्मिलित होने का निमंत्रण भिजवाया।

इन्हीं दिनों राजकुमारी ने स्वप्न में देखा कि पूर्व-जन्म में वह कीड़ा थी। स्वप्न में ही वह पति कीड़े से पूछती है :

'स्वामी आप कहां, किस रूप में, क्या कर रहे हैं ?'

'मैं इस नगर में रहता हूं। मछुए का काम करता हूं और प्रतिदिन मछलियां पकड़ कर राजदरवार में दे आता हूं।'

यह उत्तर मिलते ही उसका स्वप्न टूट गया। अव राजकुमारी मछुए के दर्शन के लिए लालायित हो उठी। वेसवरी से रात खुलने की प्रतीक्षा करने लगी। प्रातःकाल वह अपने पिता के संग दरवार में गई जहां उसने मछुए को जी भरकर देखा। उसके वलिष्ठ शरीर और रूप-यौवन को देख राजकुमारी ने मन में प्रण किया कि वह उसी से व्याह करेगी।

स्वयंवर का दिन आया। सैंकड़ों राजा और राजकुमारों की सभा में राजकुमारी आई, परन्तु उसने जयमाला किसी के गले में नहीं पहनाई। सभा समाप्त हुई, परन्तु राजा की चिन्ता आरम्भ हुई। पुत्री ने वर क्यों नहीं चुना, यह विचार उसके मस्तिष्क में वरावर उठता रहा। मंत्रियों से सलाह की गई और स्वयंवर के लिए प्रजा को भी आमंत्रित किया गया। राज्य के सभी धनीमानी, ऊंची जाति के लोगों को बुलावा दिया गया, किन्तु राजकुमारी थी कि उसने उनकी तरफ आंख उठाकर भी न देखा।

राजा परेशान हो गया। सभासद चिन्तित थे। राजकुमारी का विवाह अवश्य कराना है, किन्तु उसके मन में न जाने क्या है कि वह वर चुनती ही नहीं। एक दिन राजा ने वेटी के मन की वात जानने के लिए पूछा :

'वेटी, क्या कारण है, तुमने वर नहीं चुना, क्या तुम आजीवन कुमारी रहना चाहती हो ?'

'पिताजी, मेरा ऐसा कोई विचार नहीं है। आप सारी प्रजा को बिना किसी भेदभाव के बुला लीजिए, मैं देखूंगी कि उनमें मेरा वर बनने योग्य कोई युवक है या नहीं !'

प्यारी पुत्री की बात सुन राजा ने सारी रियासत में ढिंढोरा पिटवाया कि सब पुरुष अमुक दिन राजधानी में आएं। उस दिन राजकुमारी प्रजा के किसी भाग्यशाली व्यक्ति को अपना पति चुनेगी।

बहुत से लोग सजधज कर नगर में आए। मछुआ भी कौतूहलवश आ गया और तमाशा देखने के लिए एक स्थान पर खड़ा हो गया। राजकुमारी की नजरें उसे खोज रही थीं। उसके सामने आते ही, युवती ने जयमाला उसके गले में डाल दी। वह स्वयं चकित खड़ा था। उपस्थित लोगों में कोलाहल मच गया। कई ओर से आवाजें आईं कि राजकुमारी पागल हो गई है। इसी शोरोगुल में, अवसर पा, मछुआ और राजकुमारी भाग गए। सिपाही उनकी खोज में चारों ओर दौड़े और उन्हें कैदी बना कर राजा के सामने उपस्थित किया।

वृद्ध राजा उन्हें देखते ही आग-बबूला हो गया। एक तो बेटी की बेवकूफी पर क्रुद्ध था, दूसरे उसके भाग जाने के प्रयत्न ने आग पर घी छिड़क दिया। उसने राजकुमारी से कहा :

'दुष्टा, कुलटा, तूने मेरे वंश पर कालिख पोत दी है। क्या इसी दिन के लिए पाल-पोसकर मैंने तुम्हें बड़ा किया था ? इससे अच्छा था, मैं निस्संतान ही रहता।'

राजकुमारी शान्त भाव से सुनती रही। उसने बड़ी विनम्रता से निवेदन किया :

'पिताजी, विधि के विधान को रोकना मनुष्य के सामर्थ्य से बाहर की बात है। आप बताइये, पतिव्रता पत्नी अपने पति को छोड़ क्या कभी किसी अन्य पुरुष का हाथ पकड़ सकती है ? यह मछुआ मेरे पूर्वजन्म का पति है।'

ऐसा कह राजकुमारी ने सारी घटना उसे सुनाई। कहानी सुन, पिता का हृदय पसीज गया। उसने दोनों को गले लगाया, उनका विधिवत् ब्याह किया और राज-सिंहासन उनके हवाले कर स्वयं जंगल में तपस्या करने चला गया।"

संस्कार—जीवन को संस्कृत करने के लिए, श्रेष्ठ बनाने के लिए कतिपय विधान किए जाते हैं। भारतीय परम्परा में इस प्रकार के सोलह संस्कारों का उल्लेख है। ये संस्कार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि।

हिमाचल प्रदेश में ये सभी सोलह संस्कार शायद ही कभी प्रचलित रहे हों, हां उनमें से किसी का कोई न कोई रूप अवश्य समाज द्वारा समादृत रहा है। मोटे तौर पर गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्न प्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि संस्कारों का यहां रिवाज रहा है। धीरे-धीरे गर्भाधान, जातकर्म,

निष्क्रमण और अन्नप्राशन भी लुप्त हो रहे हैं, अत: व्यवहार-रूप से इस प्रदेश में नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन और विवाह ये चार संस्कार ही होते हैं। समाज के तथाकथित निम्नवर्गों में साधारण जनता अथवा 'लोक' में, केवल विवाह संस्कार ही होता है।

किन्नौर सरीखे कुछ इलाकों में गर्भ रह जाने पर तारा देवी से गर्भवती स्त्री तथा गर्भ की सुरक्षा के लिए प्रार्थना की जाती है। भोजपत्र पर लिखा रक्षाकवच स्त्री के गले में डाला जाता है।

सारे प्रदेश में प्रसव कार्य दाई द्वारा ही सम्पन्न होता है। दाई को सवाई भी कहा जाता है। दाई प्राय: गांव की ही कोई महिला होती है जिसकी दक्षता अनुभव-जन्य होती है। नगरों तथा स्थानों पर जहां आधुनिक डाक्टरी सुविधा उपलब्ध है, प्रसव कार्य सरकार से प्रशिक्षित दाइयां या नर्सें करती हैं। प्रसव समय स्त्री को कहीं-कहीं अंधेरे और वायु रहित कमरे में रखा जाता है।

सन्तान होने के सातवें, ग्यारहवें या तेरहवें दिन प्रसवगृह में चारों ओर गंगा-जल और गोमूत्र द्रुवा से छिड़का जाता है। यह पंचामृत पुरोहित अथवा लामा से मंत्रित होता है। यदि पुत्र उत्पन्न हुआ हो, तो इस दिन कन्याओं का पूजन भी किया जाता है। उत्तरी सीमान्तक इलाकों में शिशु-जन्म के उपलक्ष्य में उसी दिन या किसी और दिन उत्सव मनाया जाता है। देवताओं की पूजा की जाती है। सगे-सम्बंधियों को नाच-गाने और भोजन का निमंत्रण दिया जाता था।

नामकरण, यों तो बिना किसी विशेष संस्कार के होता है, किन्तु कहीं-कहीं निष्क्रमण और नामकरण को एक कर थोड़ा-बहुत विधि-विधान का आयोजन होता है। इस संस्कार का नाम 'द्वार बाहर निकालना' भी है। यह संस्कार जन्म के तीसरे या पांचवें महीने होता है। तब तक शिशु को घर की ड्योढ़ी से बाहर नहीं निकाला जाता है। उस दिन मुख्य द्वार के साथ वाले आंगन को गोबर से लीपा-पोता जाता है। गोबर से ही द्वार के साथ अर्धगोलाकार रेखा खींची जाती है, जिसके मध्य गोबर का पिंड-सा रखा जाता है। इस पिंड को द्रुवा और पुष्पों से सजाया जाता है। सगी-सम्बन्धी स्त्रियां एकत्रित होती हैं। शिशु को नहला-धुलाकर मामा के घर से आए वस्त्र पहनाए जाते हैं। गांव के सभी घरों से सगुन भेजा जाता है। माता बच्चे को गोद में लेकर द्वार की पूजा करती है। तदुपरान्त पुरोहित बालक का नाम बताता है और माता एकत्रित सम्बन्धियों को उस नाम से सूचित करती है।

चूड़ाकर्म—चूड़ाकर्म को मुंडन, जमालू उतारना, जड़ू निकालना, जडोलण जैसे विभिन्न नामों से जाना जाता है। जन्म के तीसरे या पांचवें वर्ष ये संस्कार होता है। जमालू आमतौर पर बालकों के ही उतारे जाते हैं। यद्यपि कई परिवारों में कन्याओं का मुंडन भी किया जाता है। यह दिन पहले ही पंडितों-पुरोहितों से पूछ कर निश्चित किया जाता है। मुहूर्त के अनुसार मुंडन देव-मन्दिर में कराया जाता है। अम्बिका, ज्वालामुखी, चिन्तपुरनी, चामुंडा, नयनादेवी, हाटेश्वरी आदि प्रसिद्ध देवी-मन्दिरों में जाकर जमालू उतारना श्रेयस्कर माना जाता है। अत: दूर-दूर से लोग

इस कार्य के लिए इन मन्दिरों में आते हैं।

उपनयन—उपनयन को व्रतवन्ध जनेऊ, यज्ञोपवीत डालना या वडारण भी कहते हैं। आर्यों में यह प्रथा आम थी, किन्तु हिमालय प्रदेश में जनेऊ डालने का रिवाज मुख्यत: ब्राह्मणों और राजपूतों में है। कनेतों, राठियों, राहुओं और घिरथों एवं खत्रियों में इसका प्रचलन नहीं था। अब इनमें भी जनेऊ डालने का चाव बढ़ रहा है। आर्य समाज के प्रचार के कारण कहीं-कहीं कोली भी जनेऊ डालने लग पड़े हैं। यद्यपि वे इसे संस्कार द्वारा नहीं पहनते, यों ही गले में डाल देते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार की पूर्व रात्रि को बालक व्रत रखता है। यदि संस्कार मन्दिर में किया जाना हो, तो परिवार और कुटुम्ब के सभी व्यक्ति वहां जाते हैं। हवन शान्ति करने के पश्चात् बालक के शरीर पर उबटन लगाया जाता है। पुन: उसका स्नान कराया जाता है। संस्कार के समय वह केवल लंगोटी पहने रहता है। बड़ और पीपल की छोटी-छोटी टहनियों का गुच्छा उसके हाथ में होता है। शरीर पर वह बाघम्बर ओढ़ता है। यह वेश धारण कर वह भिक्षा मांगने का उपक्रम करता है। भिक्षा प्राप्त कर वह काशी जाने की तैयारी करता है ताकि वहां विद्याध्ययन कर सके। इसके लिए वह मन्दिर की परिक्रमा करता है और हवन-स्थल पर लौट आता है।

विवाह—सहस्रों वर्षों के विकास में मानव समाज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यवस्था विवाह की है। सृष्टि के अन्य जीवों के समान प्रथम पुरुष और स्त्री भी मूलत: काम-तृप्ति के लिए एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए होंगे। सन्तानोत्पत्ति उस आकर्षण का फल ही है। समाज के व्यवस्थित होने के साथ-साथ पुरुष एवं स्त्री के इन सम्बंधों को निर्धारित करने के लिए तथा बालक के सामाजिक सम्बंधों और दायित्वों को निश्चित करने के लिए विवाह का आयोजन किया गया है।

सम्पूर्ण मानव समाज में विवाह का मूल स्वरूप एवं प्रयोजन सर्वदा सर्वत्र एक-सा रहा है। संसार की कोई भी जाति, समुदाय या समाज ऐसा नहीं, जहां इस संस्कार की उपेक्षा होती हो या इसे अनिवार्य न समझा जाता हो।

भारत में भी विवाह को सामाजिक संगठन और दायित्व के दृष्टिकोण से ही देखा गया है। वैदिक तथा पौराणिक संस्कृति के अनुसार मनुष्य को अपने जीवनकाल में तीन ऋणों से उऋण होना पड़ता है। इसमें से एक पितृऋण है। इस ऋण की पूर्ति सन्तान उत्पत्ति से की जाती है। इस प्रकार भारतीय समाज ने केवल यौन तत्त्व या जैवकीय (बायेलोजिकल) पक्ष को ही प्रधानता नहीं दी, उसका सामाजिक दायित्व भी सामने रखा है। विवाह के आदर्श में सामाजिकता के साथ धार्मिकता का भी पुट शामिल कर लिया है और उसके तीन प्रमुख उद्देश्य सामने रखे हैं। पहला उद्देश्य स्त्री धारा को पुरुष धारा में मिलाकर उसे मुक्ति की अधिकारिणी बनाना, तथा दोनों की अनर्गल, अनियमित पशु-प्रवृत्तियों को नियमित कर दोनों की शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, ऐहलौकिक, पारलौकिक तथा आध्यामिक उन्नति करना और दोनों के मधुर समन्वय से उनकी पूर्णता सिद्ध कर सांसारिक सुख-शान्ति प्राप्त करना है। विवाह का

दूसरा उद्देश्य उत्तम सन्तान की उत्पत्ति द्वारा पितृऋण से उऋण होना तथा प्रजान्तु की रक्षा करना है। विवाह का तीसरा उद्देश्य पुरुष और स्त्री के समन्वय द्वारा पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन की सुव्यवस्था एवं सुख, स्वास्थ्य तथा शान्ति की रक्षा करना है। हम कह सकते हैं कि विवाह नियमित काम-तृप्ति और परिवार-सुख का साधन है।

स्मृति आदि ग्रन्थों में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच नाम से आठ प्रकार के विवाहों की गणना की गई है।

कन्या को वस्त्र, अन्न, अलंकार आदि से सुसज्जित करके विद्वान, शीलवान वर को आमंत्रित कर कन्यादान करने का नाम ब्राह्म विवाह है। 'तुम दोनों मिलकर गृहस्थ धर्म का आचरण करना', यों कह कर विधिवत् वर की पूजा करके कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहलाता है। इन दोनों प्रथाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दैव विवाह में वस्त्र और अलंकारों से आभूषित कन्या का दान उस यज्ञकर्ता ऋत्विक को किया जाता था, जो किसी यज्ञ-क्रिया में पुरोहित के कार्य को उचित ढंग से पूरा करता था। आर्ष विवाह का सम्वंध ऋषियों से था।

आसुर विवाह उसे कहते हैं जिसमें विवाह के लिए इच्छुक व्यक्ति अपनी इच्छा से कन्या के कुटुम्बियों या कन्या को धन देकर विवाह करता है। इसके अनुसार स्त्री का कुछ मूल्य होता है। गान्धर्व विवाह कन्या और वर के पारस्परिक प्रेम का फल होता है। 'काम सूत्र' में इस प्रकार के विवाह को आदर्श वताया गया है। राक्षस विवाह में विजित पक्ष की कन्याओं को जबरदस्ती उठा लाने की प्रथा है। पैशाच विवाह में निंद्रित, मद्यपान से विह्वल अथवा किसी अन्य प्रकार से उन्मत स्त्री के साथ एकान्त में सम्वंध करके विवाह किया जाता है।

हिमाचल प्रदेश में ब्राह्मण, गान्धर्व, आसुर तथा राक्षस प्रकार के विवाहों का रिवाज है। यदाकदा पैशाच रीति के उदाहरण भी मिल जाते हैं। किन्तु लोग इसे निन्दनीय ही समझते हैं। अन्य पद्धतियां कभी रही हों, किन्तु अब उनका सर्वथा लोप हो गया है। यहां पर इन विवाहों के अपने नाम हैं, और ये नाम भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न हैं। विवाह या ब्याह साधारणतया ब्राह्म विवाह का ही स्थानीय रूप है। हार, जराड़ फूकी, झिंड फूकी, खूंचिस, खूंरनूंकिमिक्क अथवा डब्रडब गान्धर्व विवाह हैं। ढेरी आसुर विवाह है।

इन विवाहों के अतिरिक्त समाज में अन्तर्जातीय विवाह, पुर्नविवाह और विधवा विवाह भी व्यापक रूप से प्रचलित हैं।

अन्तर्जातीय विवाह—मदखूईया या सरीत इस विवाह के अच्छे उदाहरण हैं। ये अनुलोम विवाह ही हैं। इनमें ऊंची जाति के पुरुष नीची जाति की स्त्रियों से विवाह करते हैं। इनमें अनुष्ठानिक विधि-विधान का अधिक काम नहीं। स्त्री पुरुष के घर आती है और द्वार-पूजा करके भीतर प्रवेश करती है। ये दोनों बहुविवाह के ही रूप हैं। इन विवाहों से पूर्व एक अन्य शास्त्रीय पद्धति से हुआ विवाह अनिवार्य समझा जाता

है। सरीत विवाह के नाम पर लाई गई वधू का नाम भी सरीत ही है। शास्त्रीय विधान से व्याही गई स्त्री को व्याहिता या लाड़ी कहा जाता है। सरीत की संतान पिता की जाति से नीच मानी जाती है और उसे 'सरतेरा' कहा जाता है। ये सरतेरे तीसरी-चौथी पीढ़ी के पश्चात् बहुधा पिता की जाति को प्राप्त कर लिया करते हैं। किन्तु कहावत यह है कि सातवीं पीढ़ी में ही घिरथ की कन्या रानी बनती है।

उच्चवंशीय ब्राह्मण, राजपूत और महाजनों का यह प्रयास रहता है कि अपनी लड़की की शादी अपने से नीचे समजातीय कुल में न हो, बहू भले ही नीचे वंश की हो। इस सम्बंध में यह आम मान्यता है कि पुत्र का विवाह अपने से एक सीढ़ी नीचे घराने में और पुत्री का विवाह एक सीढ़ी ऊंचे घराने में होना चाहिए। इन जातियों में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि शादी-व्याह का रिश्ता जाति के भीतर ही हो, यद्यपि चम्बा के भटयात और चौराह जैसे क्षेत्रों में ब्राह्मणों, राजपूतों, खशों, कनैतों, राठियों और खत्रियों में आपस में व्याह हो जाता है।

विधवा विवाह—झंझराडा, करेवा, रंडोल, सरगुढी और गरीवचारा विधवा विवाह के नाम हैं। कहीं-कहीं विधवा भावज पति के भाई को ही पति स्वीकार कर लेती है। इसे चादर डालना अथवा बन्धलुआना कहा जाता है। पति की मृत्यु की क्रिया के दिन विधवा मृत पति के जेवरों को अलग रखकर उसके भाई द्वारा दिए गए जेवरों को पहनती है, जिसका यह अर्थ है कि वह उस भाई को पति-रूप में स्वीकार करती है। इस अवसर पर बकरा काटा जाता है। विधवा के पितृपक्ष वाले सामान्यतः इसमें शामिल नहीं होते हैं, किन्तु उन्हें 'लाग' के रूप में बकरा दिया जाता है। सरगुढी विधवा द्वारा किसी सहजातीय पुरुष से विवाह को कहा जाता है। इसमें वर विधवा के घर भाई या किसी अन्य सम्बंधी के साथ जाता है। वहां जाकर वर वधू को एक आभूषण, जिसे बन्ध कहा जाता है, उपहार के रूप में भेंट करता है। इस प्रकार के विवाह में गणेश या द्वार पूजा नहीं होती है। पुनर्विवाहित विधवा को रखोरड़ कहा जाता है।

झंझराडा या करेवा भी इसी श्रेणी के हैं, यद्यपि इसमें पतित्यक्ता भी विवाह करती है। स्त्री पति के स्वर्गवास होने पर अथवा जीवित पति से सम्बंध विच्छेद हो जाने पर किसी अन्य सहजातीय व्यक्ति के घर बस सकती है। इस विवाह में दूल्हा बारात लेकर दुल्हन लेने नहीं जाता है, अपितु उसके सगे-सम्बंधी, भाई, चाचा आदि जाते हैं। इससे पूर्व खेवट नाम की तहरीर लिखी जाती है, जिसमें बिरादरी या पंचों द्वारा इस रिश्ते की स्वीकृति दर्ज होती है। कहीं-कहीं झंझराडा में वधू उपस्थित लोगों के चरण धोती है, बुजुर्गों को मत्था टेकती है। विवाहस्वरूप उसके नाक में 'लौंग' पहनाई जाती है।

हार—हार विवाह के अन्तर्गत पुरुष किसी अविवाहिता कन्या को किसी मेला या धार्मिक स्थान से अपने साथ भगा लाता है। घर पहुंच कर वे द्वार-पूजा करते हैं, तत्पश्चात् कन्या चूल्हे की पूजा करती है और अन्द्रेला कर वे पति-पत्नी माने जाते हैं।

'हार' विवाह किसी पूर्व-विवाहिता स्त्री के साथ भी हो जाता है। यदि हार

वधू अविवाहिता हो तो कुछ समय बीत जाने पर 'वर और वधू' वधू के पितृगृह जाते हैं और वर कुछ रुपया कन्या के माता-पिता को देता है जिसे कहीं-कहीं 'हरजा' या 'बरीणा' कहा जाता है। यदि वधू विवाहिता हो तो उसके पूर्व पति को नया पति रुपया देता है, जिसे 'ढेरी', 'रीत' या 'रूश' कहते हैं।

अपहरण की रीति से एक अन्य विवाह 'डवडव' कहलाता है। इसके अन्तर्गत लड़का-लड़की तो परस्पर विवाह के लिए सहमत होते हैं. किन्तु यह रिश्ता माता-पिता को अस्वीकार होता है। इस हालत में लड़का लड़की को अकेला देख उठा कर ले जाता है और अपने घर जाकर विधिपूर्वक उससे ब्याह करता है। इस ब्याह की सूचना थोड़े दिनों उपरान्त वधू के माता-पिता को दी जाती है। 'जराड़ फूकी' गान्धर्व विवाह का पार्वतीय रूप है। वर और वधू एक झाड़ी को आग लगाते हैं, और जलती झाड़ी के गिर्द सप्तपदी करते हैं, जिससे माता-पिता सम्बंध को अस्वीकार न कर सकें।

ढेरी विवाह—ढेरी विवाह में ब्याह के दिन वरपक्ष वाले कन्यापक्ष को एक निश्चित राशि देते हैं। कालान्तर में यदि लड़की सम्बंध विच्छेद चाहे तो यह धन लड़के वालों को लौटा देना पड़ता है। यदि कोई अन्य पुरुष उस विवाहिता स्त्री को भगा ले जाए, तो उसे पहले पति को उतनी ही धनराशि देनी होती है।

द्रौपदी विवाह—इस विवाह में निश्चित दिन वरपक्ष वाले बारात लेकर कन्या के घर जाते हैं। वहां पर पुरोहित या लामा मन्त्रोच्चारण और हवन द्वारा विवाह सम्पन्न कराता है। उसके उपरान्त मांस और मदिरा से बारातियों की आवभगत की जाती है। फिर बारात वधू को लेकर लौट आती है। गृह-प्रवेश के अवसर पर वधू का दायां हाथ पति के सभी भाइयों के हाथ में दिया जाता है और समझाया जाता है कि उससे सभी भाइयों का ब्याह हो गया है। इस विवाह के अन्तर्गत सप्तपदी और लावां का रिवाज नहीं है। वधू केवल फूलों और फलों की माला वर को अर्पण करती है।

यह ध्यान में रखना होगा कि हार, झंझराडा, चादर डालना आदि समाज के निर्धन और निम्नवर्गों में ही प्रचलित हैं। ऊंची जातियों एवं वर्गों में विवाह सम्बंध अविच्छेद्य हैं। इस सम्बंध का वही धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व है जो शास्त्रोक्त है, स्मृति के अनुसार है तथा देश के अन्य भागों में समादृत है।

प्रमुख विशेषता—इस प्रदेश की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि रिश्ते की बात लड़के की ओर से चलाई जाती है। वरपक्ष वाले ही कन्यापक्ष के पास विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं। कन्यापक्ष वाले किसी भी हालत में पहल नहीं करते हैं। यह एक आम कहावत है कि रिश्ता पक्का होने से पूर्व लड़की के घर के दरवाजे घिस जाते हैं, अर्थात् उसके लिए इतने लोग प्रस्ताव लेकर इतनी बार आते हैं कि बेचारा लड़की का द्वार खुलते और बन्द होते-होते घिस जाता है।

इसका सुखद परिणाम यह है कि हिमाचल प्रदेश में जहेज की कुप्रथा का नाम तक नहीं है। उलटे 'ढेरी' जैसे विवाह में वरपक्ष वाले कन्यापक्ष को कुछ धनराशि देते हैं।

सामान्यत: व्याह में कन्या के माता-पिता तथा अन्य सम्बंधी उसे उपहार देते हैं, इसे 'दान' भी कहा जाता है। कहीं-कहीं यह दान लावा के उपरान्त वेदी में ही दिया जाता है। यह उपहार इस प्रकार का होता है कि नव-वधू की गृहस्थी सुगमता से चल निकले, अत: आभूषण, बिस्तर, खाने-पीने के वर्तन, चारपाई, फर्नीचर और गाएं दी जाती हैं। इन सब वस्तुओं पर आमतौर पर दो-चार हजार रुपयों से अधिक खर्च नहीं होता है।

विवाह असीम उल्लास का अवसर है, इसलिए भोज, संगीत, नृत्य इत्यादि हर्ष और आनन्द की अभिव्यक्ति के सभी रूप उससे सम्बद्ध हैं। इस अवसर पर घर को सजाया जाता है, वर और वधू का अलंकरण किया जाता है और सौन्दर्यभाव-सूचक अन्य उपाय किए जाते हैं। संगीत विवाह का अभिन्न अंग है, कहीं-कहीं तो गीत और संगीत से लिए कुशल स्त्रियों का एक विशिष्ट वर्ग होता है, जिसे 'गीत गायक' कहा जाता है।

व्याह—विवाह आमतौर पर व्याह कहलाता है। प्रदेश की बहुत बड़ी जनसंख्या में विवाह का केवल यही रूप प्रचलित है। व्याह का बीजारोपण कुडमाई या गुड़ देने से होता है। कुडमाई के उपरान्त सारे संस्कार के अनेक चरण हैं, जिनमें लग्नोत्तरी बनाना, धाम के लिए लकड़ी काटना, दिन देखना, सम्बंधियों को निमंत्रण देना, समहूत, तेल, गोत्राचार, कन्यादान, वेदी, धाम और विदाई प्रमुख हैं।

लड़के की ओर से काफी पहले से लड़की के सम्बंधियों से रिश्ते की अनौपचारिक बात चलती रहती है। आरम्भ में जान-पहचान, नाते-रिश्ते की स्त्रियां ही बात चलाती हैं। जब स्वीकृति की आशा बंध जाती है, तो औपचारिक रूप से लड़के के सम्बंधी लड़की के माता-पिता के पास जाते हैं। उनके रिश्ते को स्वीकार किए जाने पर किसी शुभ दिन पुरोहित के हाथ गुड़ भिजवाई जाती है। इसे कुडमाई भी कहा जाता है। कहीं-कहीं कुडमाई के लिए गुड़ के इलावा, लड़की के लिए आभूषण, कपड़ों का जोड़ा भी भिजवाया जाता है। साथ में लड़की की माता तथा छोटे भाई या बहन के लिए भी वस्त्र भेजे जाते हैं। पुरोहित सूर्य, धूप, दीप, कुम्भ और गणपति की पूजा कर आभूषण और वस्त्र लड़की की माता के हवाले करता है और उपस्थित लागियों में गुड़ बांटता है। इसी से विवाह की बात पक्की मानी है।

विवाह के कुछ दिन पूर्व लड़के के माता-पिता अपने पुरोहित से लग्नोत्तरी बनवाते हैं। लग्नोत्तरी में विविध शास्त्रीय तथा वैदिक आचारों की तिथि तथा मुहूर्त दिया होता है। पहली तिथि प्राय: लकड़ी काटने की होती है। इस छोई अथवा छेई के मुहूर्त पर पड़ोसी और कुटुम्बी जन मिलकर विवाह और धाम के लिए लकड़ी काटते हैं। उधर स्त्रियां घराट या चक्की पर आटा पीसने जाती हैं, धान कूटने के लिए देती हैं।

एक दूसरे शुभ दिन जिस घर में व्याह होना होता है, उसकी सफाई, लिपाई-पुताई और सफेदी कराई जाती है।

विवाह की पूर्व-संध्या को जागरण होता है, मंगल गीत गाए जाते हैं और भोज होता है। उससे पहले, दिन में मुख्य द्वार और भीति पर अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों और मनुष्यों के चित्र बनाए जाते हैं। विविध रंगों से द्वार पर सेहरा-सा बनाया जाता है और कुंकम छिड़का जाता है।

ब्याह के अनुष्ठान का सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कार्य पुरोहित द्वारा कुम्भ (शयान) की स्थापना का होता है। जिस घर में व्याह होता है, उसके एक कमरे में शयान की स्थापना की जाती है। कुम्भ जल से भरा रहता है। और उसमें बड़, पीपल और आम की टहनियां रखी होती हैं। सामने आटा, चावल और रंगों का चक्र बनाया जाता है। पास ही गणपति की मूर्ति रखी जाती है और दीपक जलाया जाता है।

उसके पश्चात् पुरोहित वधू के घर जेवर, वस्त्र, मेवा, मेहंदी, उबटन आदि लेकर जाता है। इसे समहूत कहते हैं। वर और वधू को कच्ची हल्दी, घी, मेहंदी आदि का उबटन लगाया जाता है। पहला उबटन क्वांरी कन्या लगाती है, तत्पश्चात् माता, बहनें, भाभी, भावजें तथा चाची और मामी लगाती हैं। पवित्र जल से नहलाया जाता है। माना यह जाता है कि जल त्रिवेणी से लिया गया है।

दूसरा आचार तेल लगाने या डालने का है। किसी डूने या पात्र में द्रुवा डाली जाती है। डूने को तेल से लगभग आधा भरा जाता है। तेल डालते समय वर की एक ओर मामा रहता है। सामने पुरोहित बैठा होता है। पुरोहित मन्त्रोच्चारण करता है और वर के सम्बंधी एक-एक कर डूने में द्रुवा डुबो कर उसे तेल से छींट देते हैं। उसके सिर पर पांच, दस पैसे वारणा के रूप में फिराते हैं और तेल-पात्र में डालते हैं। गाने वाली स्त्रियां गीत गाती रहती हैं।

तेल के उपरान्त वर को ब्याह के वस्त्र और सेहरा पहनाया जाता है। सेहरा में सभी सम्बंधी आशीर्वाद के लिए हाथ लगाते हैं। बहनें इस अवसर पर अपने दुपट्टों से पंखा झलती हैं। वधू-गृह के लिए प्रस्थान से पूर्व वर अपने द्वार की पूजा करता है। इसे 'अरगना' कहा जाता है। माता उसकी आरती उतारती है। इसके उपरान्त वह पालकी या घोड़ी की ओर बढ़ता है, और उस पर बैठ कर वधू के घर की ओर अपनी बारात अथवा जंज सहित रवाना हो जाता है।

ज्योंही बारात कन्या के घर के निकट पहुंचती है, वर और वधू, दोनों पक्षों के दो-दो प्रतिनिधि आगे बढ़कर एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं, फूलमालायें एक-दूसरे के गले में डालते हैं, और सिर पर वारणा करते हैं। ये प्रतिनिधि सामान्यत: वर और वधू के पिता और मामा होते हैं। इसे मिलनी कहते हैं।

वर को इसके पश्चात् किसी स्वच्छ स्थान पर तब तक बैठाया जाता है जब तक कि गृह-प्रवेश का मुहूर्त न आ जाए। इस बीच बारातियों को भोजन खिलाया जाता है। शुभ मुहूर्त पर वर वधू के घर प्रविष्ट होता है। द्वार पर सास और ससुर उसकी आरती उतारते हैं। भीतर उसे उस स्थान पर ले जाते हैं जहां शयान स्थापित होता है। इसे देहरा भी कहते हैं। वर को देहरे के सामने बैठाते हैं। वधू को उसका पिता या कोई

अन्य सम्बन्धी वहां लाकर वर के बगल में बैठाता है। तब वर और वधू के एक-एक हाथ को मिलाकर उनमें मौली बांधी जाती है। हाथ में दीपक दिया जाता है। ऊपर वधू का हाथ रहता है और नीचे वर का। वे देहरे के देवताओं की पूजा करते हैं। कुम्भ की भी पूजा होती है। उसके पश्चात् गोत्राचार और कन्यादान होता है। हाथों में बंधी मौली गोत्राचार के पश्चात् खोल दी जाती है। तब वर और वधू को मिठाई या घी मिला शहद खिलाया जाता है। ब्याह का शास्त्रीय आचार सामान्यतः गोत्राचार, कन्यादान और लग्न-फेरों के साथ पूर्ण हो जाता है, किन्तु लोकाचार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंग अभी शेष रहता है, इसे वेद या वेदी कहते हैं।

वेदी वर्गाकार की होती है। इसके चारों कोनों में केले के पत्तों से लिपटे बांस गाड़े जाते हैं। उन पर लाल कपड़ा डाला जाता है जिससे सम्पूर्ण वेदी पर एक प्रकार का छत बन जाए। चारों ओर पुष्प और कागजों के हार से वेदी को सुसज्जित किया जाता है। मध्य में कुम्भ स्थापित किया जाता है। कुम्भ में आम, पीपल और बड़ की पत्तों-भरी छोटी टहनियां रखी होती हैं। पास ही हवनकुण्ड बनाया या रखा जाता है, इसे गियारी कहते हैं। गियारी की पूर्व दिशा को नवग्रह स्थापित होते हैं।

वर और वधू को वेदी में लाया जाता है। वे गियारी की पूजा करते हैं, सूर्य को अर्घ्य देते हैं, और गियारी के गिर्द सात फेरे जिन्हें लावां कहते हैं, देते हैं। पहले तीन फेरों में वर आगे होता है, पुनः वधू। कहीं-कहीं केवल चार फेरे दिये जाते हैं। पहले तीन फेरों में वधू आगे होती है। इन फेरों के बाद वर और वधू को आसन पर बैठाया जाता है। उन पर चादर डाली जाती है, जिससे अन्य उपस्थित लोग उन्हें न देख पाएं। तब उन्हें एक-दूसरे का मुंह देखने को कहा जाता है। मुंह देखने पर वर वधू को एक अंगूठी पहना देता है फिर चौथा लावां दिया जाता है। इसका नेतृत्व वर करता है। इसके उपरान्त वर पहले दी हुई अंगूठी वापस ले लेता है। सिन्दूर में डुबोकर उससे वधू की मांग को भरता है और अंगूठी लौटा देता है। एक बार फिर पूजा की जाती है। पूजा के बाद कहीं-कहीं वधू को उसके माता-पिता और अन्य रिश्तेदार 'दान' देते हैं। इस दान में सोने-चांदी के आभूषण, सोने-पहनने के वस्त्र, खाने-पकाने के बर्तन आदि दिए जाते हैं। हिन्दू उत्तराधिकार कानून से पूर्व सामर्थ्यवान गृहस्थ कन्या को खेत भी दिया करते थे। वेदी में जब फेरे और पूजा हो रही होती है तब गीत गाए जाते हैं।

वेदी के तुरन्त बाद धाम होती है जिसमें बारात और अन्य आमंत्रित लोग भोजन करते हैं।

भोजन से निवृत्त होकर विदाई का मुहूर्त आ जाता है। इस बीच वधू की सिर-गुंदाई होती है, इसमें वरपक्ष की स्त्रियां भी भाग लेती हैं। विदाई का दृश्य अत्यन्त हृदय-विदारक होता है। शायद ही कोई सहृदय व्यक्ति हो, जिसकी आंखों में आंसू न आ जाएं। इस अवसर पर गाए जाने वाले गीत भी अत्यन्त मार्मिक होते हैं और उनका संगीत अवसादपूर्ण। माता द्वार पर पुत्री और जामाता के चरण दूध से धोती है, उनकी आरती उतारती है। पुनः अश्रुपूर्ण नेत्रों, कांपते हाथों, शंकित मन और थकी देह से मां

अपनी बेटी को गले लगाकर विदा करती है। अज्ञात भविष्य की आशंका से मां-बेटी सिहर उठती हैं। मां लाड़ से पाली प्यारी बेटी को पराया बना गई है, बेटी माँ-बाप की छत्रछाया से वंचित बेगाने लोगों के बीच जा रही है। दोनों का दिल कुछ टूट-सा जाता है। बेटी की आंखों के सामने अपना सम्पूर्ण जीवन आ जाता है, पिता-घर का उल्लास, इतना अल्हड़पन अब कहां मिलेगा, मां के लिए अपनी बेटी का साहचर्य, सान्निध्य कब नसीब होगा। पुनः पिता विदाई देता है या स्वयं अपनी बेटी से विदाई लेता है। बेटी के सिर पर हाथ रखकर वह उसे, पतिगृह में कैसे बर्ताव किया जाए, इस की शिक्षा देता है। वह कहता है कि अब दो कुलों की मान-मर्यादा उसके हाथ में है, अतः उसका आचरण ऐसा हो कि दोनों वंश गर्व कर सकें। कन्या भाई-बहनों और अन्य रिश्तेदारों से विदा होकर डोली में सवार हो जाती है। कुछ दूर तक उसके अपने सम्बन्धी डोली को उठाते हैं, बाद में कहार उठाते हैं। वर की पालकी डोली के पीछे चलती है।

वर के घर में तुरन्त प्रवेश नहीं किया जाता, उसके लिए शुभ घड़ी की प्रतीक्षा करनी होती है, जिसका उल्लेख लग्नोत्तरी में होता है। वधू-प्रवेश, जिसे अन्द्रेला या अन्दरोण कहते हैं, से पूर्व वर और वधू की पालकी और डोली ग्राम-देवता के मन्दिर ले जाई जाती हैं, जहां वे देवता की पूजा करते हैं। द्वार पर आकर वर की माता उनका स्वागत करती है, उन्हें अरगती है। वे दोनों गृहदेवी, कुलजा और गणेश की पूजा करते हैं। भीतर जाकर वे स्थान या देहरा की पूजा करते हैं। कहीं-कहीं इस अवसर पर भी वे कुम्भ के गिर्द तीन फेरे काटते हैं। इन फेरों में वर आगे रहता है और वधू पीछे। फेरों के उपरान्त घूंघट और कंगन उतारे जाते हैं। वधू पितृगृह से लाई मिठाई अपने सास-ससुर और परिवार के अन्य सदस्यों में बांटती है। वे इसके बदले उसे कोई न कोई आभूषण या पैसे देते हैं। उसी दिन या अगले दिन वर के घर पर भी धाम दी जाती है।

धाम के चौथे दिन और सोलहवें दिन के बीच मकलावा होता है। वर और वधू लड़की के माता-पिता के घर जाते हैं और कुछ दिन वहां रहकर वापिस लौटते हैं।

लाहुल जैसे सीमान्तक क्षेत्रों में लड़के की ओर से उसका पिता और मामा विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते हैं। वे अपने साथ छांग नामक मादक पेय का भरा घड़ा ले जाते हैं। घड़ा कन्या के माता-पिता के समक्ष रखा जाता है। कन्या की माता विवाह-प्रस्ताव की सूचना लड़की को देती है। यदि लड़की स्वीकृति दे दे, तो सब मिलकर छांग पीते हैं। किन्तु यदि लड़की को रिश्ता मंज़ूर न हो तो उसके माता-पिता छांग का भरा पात्र लौटा देते हैं। सगाई की बात पक्की करने से पूर्व दो बार छांग पी जाती है, तीसरे अवसर पर कन्या के माता-पिता को छांग के अतिरिक्त एक रुपया शगुन के रूप में भेंट किया जाता है। इसी दिन विवाह का मुहूर्त निश्चित किया जाता है।

विवाह के लिए स्वयं वर नहीं जाता है, उसके प्रतिनिधिस्वरूप एक ढाल और तलवार भेजे जाते हैं। ढाल-तलवार या कटार भेजने का रिवाज इस प्रदेश के कुछ और

भागों में भी है। बारात ढाल-तलवार, वस्त्र, आभूषण, खाद्य-पदार्थ और छांग लेकर लड़की के गांव जाते हैं। कन्यापक्ष के लोग घर से कुछ दूर बारात का स्वागत करते हैं। यहां बैठकर छांग पी जाती है। फिर वरपक्ष वालों की बुद्धि-परीक्षा होती है। कन्या के घर तक मार्ग में इक्कीस पत्थर खड़े रखे जाते हैं। पहले पत्थर से आगे बढ़ने से पूर्व एक प्रश्न किया जाता है, यदि वर वाले उसका संतोषजनक उत्तर दे पाएं तो उस पत्थर को गिरा दिया जाता है, यदि उत्तर ठीक न हो, तो क्षमा-याचना कर पिंड छुड़ाने पड़ते हैं। यही क्रम प्रत्येक पत्थर के सामने रहता है और इसका अन्त कन्या के घर के द्वार पर होता है। भेड़ का ताजा कलेजा कहीं छिपा कर रखा जाता है और बुझौल द्वारा उस स्थान का संकेत भी दिया जाता है। वरपक्ष का कर्तव्य यह होता है कि बुझौल को बुझाकर तलवार की नोक से कलेजे को ढूंढ़ निकाले। कभी-कभी तो वरपक्ष वालों को कलेजे का पता पाने के लिए रिश्वत तक देनी होती है। इस आचार की समाप्ति पर बाराती घर के भीतर जाते हैं और साथ लाए हुए उपहार भेंट करते हैं। भोजन होता है जिसमें मांस और मदिरा का प्रचुर मात्रा में उपभोग होता है। तदनन्तर लड़की के परिवार की ओर से उसे 'दान' दी जाने वाली वस्तुएं सामने रखी जाती हैं। ये परिवार की आर्थिक स्थिति के अनुरूप होती हैं। इनमें प्राय: आभूषण, कुछ नकदी, गाय, याक या घोड़ा होते हैं। सब लोग जहेज की प्रशंसा करते हैं। तब वधू को वर के घर लाया जाता है। गृह-प्रवेश से पूर्व किसी पाप या दोष के निराकरण करने के लिए घर की छत पर से एक भेड़ बारातियों की बीच फेंकी जाती है। प्राय: यह वर का कर्तव्य होता है। भेड़ के गिरते ही इसे काटा जाता है और कलेजा निकाल कर सब बारातियों में बांटा जाता है, जिसे वे कच्चा ही खा जाते हैं। इस बीच भूत-प्रेतों को दूर भगाने के लिए लामा मन्त्र बोलता रहता है। लामा के पास बर्तन में आटे की बनी हुई एक प्रेतात्मा होती है। बर्तन तोड़कर उस प्रेतात्मा को नष्ट किया जाता है। तब बाराती वधू को लेकर घर के अन्दर प्रविष्ट होते हैं।

चम्बा के पांगी इलाके में विवाह के तीन चरण होते हैं: पीलम, फरवी और चरवी। सर्वप्रथम लड़के की ओर से लड़की वालों से पूछताछ की जाती है। जब वे रिश्ते के लिए हामी भर लेते हैं, तो लड़का अपने तीन-चार मित्रों के साथ लड़की के घर जाता है। वह अपने साथ घी में तली हुई लूचियां, शराब और जेवर ले जाता है। कन्या के घर पहुंच कर दोनों पक्ष वाले मिलकर खाते-पीते हैं। लड़का आभूषण लड़की को देता है। इसे पीलम कहते हैं। यह आचार केवल एक रात का है। लड़का शाम को लड़की के घर आता है, और प्रात:काल लौट जाता है। इसके लिए कोई मुहूर्त नहीं देखा जाता। वह किसी भी रविवार, मंगलवार और बृहस्पतिवार को जा सकता है।

पीलम विवाह के वास्तविक संस्कार से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस दिन से ही लड़की परम्परा और कानून की दृष्टि से लड़के की पत्नी बन जाती है। इसके पश्चात् लड़का उसके घर आता-जाता रहता है और यदि लड़की गर्भवती हो जाए, तो सन्तान लड़के की मानी जाती है।

पीलम के एक वर्ष के भीतर फरवी का आचार पूरा हो जाना चाहिए। लड़का अपने किसी सम्बन्धी या अन्य गण्यमान्य व्यक्ति के साथ, जिसे दीवान कहा जाता है, लड़की के घर आता है। अपने साथ शराव की वोतलें, लूचियां और हलवा लाता है। कोई-कोई लड़का तो 60-70 शराव की बोतलें, एक मन लूची और 20 सेर हलवा ढो लाता है। रात को दोनों पक्ष इकट्ठे वैठते हैं। इस अवसर पर लड़की का पिता लड़के से लुम मांगता है। लुम में कन्या के सम्वन्धियों को कुछ रुपये दिए जाते हैं, और यह उन सम्वन्धियों पर निर्भर है कि वे वह नकदी अपने लिए रखें या लौटा दें।

लुम के आदान-प्रदान के उपरान्त लड़के के साथी एक पट्टु में कुछ लूचियां बांध कर लड़की के मामा को देते हैं, वह लूचियां तो उपस्थित लोगों में बांट देता है और पट्टु लड़की को देता है। सुवह भोज होता है, शाम को लड़के वाले वापिस चले जाते हैं।

फरवी के साल डेढ़ साल बाद चरवी संस्कार होता है। चरवी के अवसर पर बारात लड़की के घर आती है। बारात में अन्य लोगों के अलावा दीवान और लड़के के चचेरे, ममेरे भाई अवश्य होते हैं। एक चचेरा या ममेरा भाई वर की तलवार को लेकर चलता है। इस बार भी फरवी जैसी मात्रा में ही शराव, लूचियां और हलवा लाया जाता है। वर-वधू को एक कमरे में साथ बैठाया जाता है। सामने धूप जलता होता है। दोनों कुलजा और ग्राम-देवता की पूजा करते हैं। शाम को धाम दी जाती है, तत्पश्चात् गांव के स्त्री और पुरुष पृथक्-पृथक् नृत्य करते हैं।

एक अन्य प्रथा के अनुसार लड़के का पिता लड़की के घर जाता है। यदि रिश्ता मंजूर होता है, तो वह लड़की के पिता को एक रुपया भेंट करता है। इसे फक्की दीति, अर्थात् 'हां' कर दिया कहते हैं। इसके एक वर्ष के भीतर लड़के के पिता को पुन: लड़की के घर सम्बन्ध को पक्का करने के लिए जाना होता है। इसे चखनी अर्थात् अन्न चख लिया कहते हैं। तत्पश्चात् लड़का और उसका मित्र लड़की के घर आते हैं। वहां लड़का लड़की को एक वाली या वालू की जोड़ी और कंगन भेंट करता है, जिसे वन्धा देना कहा जाता है। इस अवसर पर सव उपस्थित लोगों में लूचियां वांटी जाती हैं। इसे ही कुडमाई माना जाता है। अत: यदि कोई पक्ष रिश्ता तोड़ देना चाहे, तो उसे 'मान' के रूप में जुर्माना या हरजाना भरना होता है।

वाद में किसी भी रवि, मंगल या वृहस्पतिवार को लड़के वाले उसके मामा को शादी का दिन निश्चित करने के लिए लड़की के घर भेजते हैं। निश्चित दिन लड़का बारात लेकर पहुंच जाता है। सब लोग एक कमरे में चले जाते हैं। वहां पर बर और वधू को अगल-बगल बैठाया जाता है। उनके दाएं-वाएं उनके मामा बैठते हैं। लड़की का मामा पानी में सत्तू घोलता है, और फिर सत्तू के सात या अधिक टोटू बनाता है। उन पर मक्खन लगाता है और ऊपर से प्रत्येक पर फूल रख देता है। तव वह धूनच में जलते कोयले डालता है, जिस पर धूप रख लेता है, साथ में एक दीपक जलाता है, फिर बायें हाथ में धूनच उठाकर, दायें हाथ से वह टोटू के ऊपर का भाग तोड़ता है। उससे चुल्हे

को और बाद में कमरे की भीतियों को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इस क्रम से छूता है। इसके उपरान्त मामा द्वार के ऊपरी चौखट से टोटू के टुकड़े को छुवाता है। यह कर चुकने पर वह तो बैठ जाता है, फिर वधू की माता टोटुओं के बचे हुए भाग को एकत्रित कर उसके अनेक छोटे-छोटे पेड़े-से बनाती है। बीच में इन पेड़ों को दबाया जाता है, जिसमें लड़की का पिता घी डालता है। ये पेड़े उपस्थित लोगों को खाने के लिए दिए जाते हैं। लाड़ा और लाड़ी को वधू का मामा खिलाता है। टोटू के पेड़े खा चुकने के बाद भोज होता है और नृत्य का आयोजन किया जाता है।

दूसरी सुबह लड़की के सम्बन्धी उसे जेवर, बर्तन आदि देते हैं। इसे सुआज कहा जाता है। फिर लाड़ा-लाड़ी धूप जलाते हैं और माता-पिता को साष्टांग प्रणाम करते हैं। इसे पैर-बंदन कहा जाता है। तब बारात लौट आती है। लड़के को लड़की का मामा और लड़की को लड़के का मामा पीठ पर उठा कर चलते हैं। लाड़े के द्वार पर पहुंचकर उसकी माता वारण करती है और इसके लिए वर और वधू के सिरों के ऊपर एक भेड़ को तीन बार फिराती है। अब भेड़ के स्थान पर रुपया-पैसा ही वारणा के लिए प्रयुक्त किया जाता है। द्वार-प्रवेश के साथ ही शादी पूरी हो जाती है। यहां पर भी टोटू खिलाया जाता है, बाद में धाम दी जाती है। एक महीने के भीतर मकलावा या फिरन्नी होती है।

शादी की एक अन्य प्रथा का भी यहां प्रचलन है। सगाई के तुरन्त बाद ही लड़का बिना ब्याह के लड़की को अपने घर ले आता है। लड़का लड़की के घर आता है और उसके माता-पिता से उसे अपने साथ ले जाने का प्रस्ताव करता है। वे चाहे सहमत हों या न, यदि कन्या वयस्का है, तो वह उसे साथ ले जाता है। हां, जहां लड़की की उमर छोटी हो, वहां माता-पिता की स्वीकृति अनिवार्य मानी जाती है। अपने घर आकर लड़का विधिपूर्वक शादी करता है जिसमें उसके अपने सम्बन्धी तो शामिल होते हैं, लड़की के नहीं होते हैं।

चम्बा के भ्रमौर इलाके में लग्न-फेरों के तुरन्त बाद सास वर को कामदेव की मूर्ति के सामने ले जाती है और उसकी पूजा करवाती है। वधू से भी पूजा करवाई जाती है। उसके सामने ही वधू की सिरगुंदाई की जाती है, उसकी मांग भरी जाती है। कामदेव को लड़की के सुहाग का साक्षी बनाना बड़ी सारगर्भित और रोचक प्रथा है।

रीत—समाज के निम्न वर्ग में पुनर्विवाह निन्दित नहीं है। पुनर्विवाह, हम देख चुके हैं, विधवा भी कर लेती है और ऐसी स्त्री भी, जिसका पति जीवित है। विधवा तो पति की मृत्यु पर उसके प्रति दायित्व से मुक्त हो जाती है, किन्तु सधवा को पति से सम्बन्ध विच्छेद करना होता है। इस सम्बन्ध विच्छेद को 'रीत' कहा जाता है। रीत, वस्तुतः उन वस्त्राभूषण का मूल्य होता है, जो पति विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी को देता है। इसमें ढेरी की रकम भी शामिल होती है। सम्बन्ध विच्छेद कभी-कभी स्त्री के दूसरे पति के घर बसने के बाद अन्यथा उससे पूर्व हो जाता है। रीत अथवा तलाक के लिए किसी कचहरी में जाने और कागज-पत्र लिखने-लिखवाने की आवश्यकता

नहीं है। यह सामाजिक दायित्व है और समाज के पंचों के सम्मुख यह पूरा हो जाता है। रीत की सर्वप्रचलित विधि लकड़ी की नाजुक टहनी, घास का तिनका या ऊनी धागे को दो भागों में तोड़ने तक सीमित होती है। सम्बन्ध विच्छेद किसी भी पक्ष की मांग पर हो सकता है। आमतौर पर होता यह है कि पुरुष और स्त्री जब इकट्ठे रहना सुखकर नहीं पाते, तो स्त्री अपने मायके चली जाती है और पति के घर लौटने से इन्कार कर देती है। कुछ समय के बाद पति या पत्नी, किसी की ओर से, गांव के प्रतिष्ठित लोगों की पंचायत बुलाई जाती है और उसके सम्मुख उभयपक्ष अपनी-अपनी शिकायतें रखते हैं। पंचों का पहला प्रयत्न यह होता है कि उनकी गलतफहमियों को दूर करा कर, उनकी शिकायतों का निराकरण कर, उन्हें पुनः प्रीतिपूर्वक रहने को प्रेरित किया जाए। यदि वे अपने इस मनोरथ में असफल रहते हैं, तो स्त्री और पुरुष के हाथ में एक तिनका या लकड़ी दी जाती है। उसे बीच से तोड़ दिया जाता है। ज्योंही वह टूट जाती है, विवाह भी टूटा समझा जाता है और दोनों पक्ष एक-दूसरे के दायित्व से मुक्त माने जाते हैं। लाहुल में स्त्री और पुरुष ऊन का कच्चा धागा अपनी कनिष्ठ अंगुली में लपेटते हैं और हाथों को एक-दूसरे के हाथ से लगा कर कहते हैं कि अब उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है। यह कहकर वे हाथ खींच लेते हैं और नाजुक धागा टूट जाता है।

जहां स्त्री तलाक तो ले लेती है किन्तु तुरन्त ब्याह न करना चाहे, वहां रीत की राशि उसके माता-पिता या वह स्वयं देती है। यदि वह किसी के घर बस जाए, तो यह सारा भार दूसरा पति उठाता है। इसे ढेरी भरना कहा जाता है। यदि तलाक की मांग पुरुष की तरफ से हो, तो स्त्री अपना जहेज अपने साथ ले जाती है। पति की ओर से उसे कुछ रकम 'मान' के लिए दी जाती है।

नारी—यह कहना कदापि अतिशयोक्ति नहीं है कि पहाड़ी प्रदेश में आर्थिक और सामाजिक जीवन का मूलाधार नारी है। इसी कारण वह स्वतंत्र भी है और परतन्त्र भी। कठिन जीवन, रात-दिन का कमरतोड़ परिश्रम, घर से दूर खेतों, वनों, जंगलों में काम, गृहस्थ की देखभाल और लगभग समूचे कृषि-कर्म के उत्तर-दायित्व ने उसे अतुलनीय रूप से स्वच्छन्दता, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता और आत्म-विश्वास दिया है, किन्तु समाज के सम्पन्न, शिष्ट, सुसंस्कृत और उच्च वर्गों में वह एकदम परतन्त्र है। यह विरोध विहंगम दृष्टि से देखने पर भी मालूम हो जाता है।

उच्च, सम्पन्न वर्गों में नारी जीवन-पर्यन्त आर्थिक रूप से परतंत्र है। बचपन में वह अपने माता-पिता और विवाहोपरान्त पति पर निर्भर है। हिन्दू उत्तराधिकार कानून से पूर्व उनकी अपनी न तो कोई जमीन होती थी और न ही तो अन्य जायदाद। वैधव्य में वह अपने ससुराल वालों अथवा अपने माता-पिता पर आश्रित थी। इस वर्ग की स्त्रियां, विशेषतः उच्च ब्राह्मण और राजपूत घरानों में केवल घर के भीतर का काम-काज ही देखती हैं। वे खाना बनाती हैं, चक्की चलाती है, कातती हैं, पानी भरती हैं, किन्तु खेती का काम सामान्यतः नहीं करती हैं।

उनमें नारीत्व के प्रति गर्व है, अपनी मान की रक्षा वे जान पर खेल कर भी करती हैं। पातिव्रत्य का उनका आदर्श बहुत ऊंचा होता है। चम्बा में छत्राड़ी तथा कुल्लू में निर्मंड जैसे ऐतिहासिक सांस्कृतिक केन्द्रों में स्त्रियां पर-पुरुष की परछाई तक से दूर रहा करती थीं। उनका सदैव यह प्रयत्न रहा करता था कि पुरुष के सामने से वे गुजरें भी न, जिससे उसे उनके शरीर-सौष्ठव की ओर आकर्षित होने का अवसर ही न मिले। यही कारण है कि वे स्थांग या थाणों और चौतेड़ के पीछे से चला करती थीं, ताकि थाणों पर बैठे समाज के गण्यमान्य व्यक्ति, जनपदीय नेता उन्हें न देख पाएं। कांगड़ा में उच्च राजपूत घरानों की स्त्रियां बहुधा पालकी में आया-जाया करती थीं। जिनकी पालकी रखने की या कहार करने की सामर्थ्य नहीं थी, वे उस समय और ऐसे मार्ग से यात्रा करती थीं, जहां उन्हें पर-पुरुष देख न सकें। घर पर भी बड़े बुजुर्गों से पर्दा किया करती थीं, और सिर झुका कर ही बातचीत करती थीं। शील और संयम की वे प्रतिमूर्ति कही जा सकती हैं। समाज को भी उनसे शील और पातिव्रत्य का बहुत ऊंचा आदर्श अभिप्सित था। इसीलिए भूंडा जैसे धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर सार्वजनिक तौर पर उनके पतिव्रत की परीक्षा ली जाती थी और सहस्रों लोगों की नजरों के आगे उन्हें 'दिया भरना' होता था। अब समय की गति के साथ ये मानदंड भी बदल रहे हैं, परम्परायें परिवर्तित हो रही हैं और आदर्श भिन्न होते जा रहे हैं।

समाज के घिरथ, राठी, खश, कनैत, राहू और कोली आदि अन्य वर्गों में और उत्तरी सीमान्तक क्षेत्रों में स्त्रियां परावलम्वी हैं। वे पुरुषों से बढ़कर काम करती हैं। पुरुष तो केवल हल ही चलाते हैं, खेती की गुड़ाई, नलाई, गोबर डालना, फसल काटना, सभी कार्य स्त्रियां करती हैं। गाय, बैल, भैंस की देख-रेख उनके जिम्मे है। घास, लकड़ी लाना उनका काम है। खाना पकाना वे ही जानती हैं। उपजाऊ भूमि थोड़ी, काम करने का समय थोड़ा, उपज थोड़ी और जिम्मेदारियां ज्यादा हैं। यही कारण है कि वे एक ओर जीवन के भार तले दबी, कुचली, दीनहीन, निरीह पशुतुल्य दीख पड़ती हैं, तो दूसरी ओर उनमें आत्म-सम्मान की भी कमी नहीं। वे अपना आर्थिक मूल्य जानती हैं। अतः यदि पतिगृह उन्हें उचित सम्मान और तुष्टि देने में असमर्थ हो जाए, तो उसका परित्याग करने में भी उन्हें झिझक नहीं होती है। वे दूसरा घर बसा सकती हैं और कई बार बसा लेती हैं। अपने महत्त्व और अधिकार के प्रति यह जागरूकता ही पति-परित्याग और पुनर्विवाह का कारण है।

आभूषणों से सभी नारियों को प्रेम है। वे चाहती हैं कि नाक, कान, गले में अधिकाधिक जेवर डाले जाएं। उनका सर्वप्रिय जेवर बालू है, जो नाक में पहना जाता है। यह सर्वदा सोने का बना होता है। कोका,फुली, लौंग, ब्लाक और नथ अन्य आभूषण हैं, जो नाक में पहने जाते हैं। बालू, लौंग और नथ सुहागचिह्न हैं। इन्हें केवल सुहागनें पहनती हैं, क्वांरी लड़कियां नहीं। कानों में सोने या चांदी की बालियां, खुंडियां और झूमके पहने जाते हैं। सिर पर जंजीर की आकृति का आभूषण पहना जाता है जिसका नाम भिन्न-भिन्न स्थानों में अलग-अलग है। बालू के साथ चाक भी सुहाग का चिह्न

है। चाक बालों में सिर के पीछे पहना जाता है। यह भी सोने का होता है। गले में सोने का कंठा, सोना और काले मूंडों का काच एवं फुलझड़ी, दोलड़ी, दाड़माडा, हार, कंठी, चम्पाकली आदि अनेक प्रकार की मालायें पहनी जाती हैं। सम्पन्न परिवारों में ये सोने की बनी होती हैं। किन्तु आमतौर पर ये चांदी की ही होती हैं। हाथ में पहनने का कंगनू भी चांदी का होता है, किन्तु चूड़ियां सोने की होती हैं। अंगूठियां और छल्ले सोने और चांदी दोनों के होते हैं। किन्नौर में गांची के साथ एक चांदी की जंजीर पहनी जाती है, इसे शंगलंग कहते हैं। वहां स्त्रियां छाती पर पट्टु को बांधने के लिए पान के पत्ते के आकार का चांदी का जेवर प्रयुक्त करती हैं, इसके पीछे चांदी का ही पिन लगा रहता है। घुटनों में पाजेब, झंझर, टोका और नेउरी पहनी जाती है। ये सभी चांदी की बनी होती हैं। पांव की अंगुलियों और अंगूठे के लिए पोली या फुल्लू नाम के जेवर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिमाचली नारी सिर से लेकर पैर तक आभूषणों से लदना पसन्द करती है। यह उसकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर है कि उसकी श्रृंगार पिटारी में कितने जेवर हैं। विधवाएं जेवर नहीं पहनती हैं।

कुछ काल पूर्व तक पुरुष भी कानों में ननेती या मुर्की पहना करते थे। गद्दी तो आज भी इस प्रकार के जेवर धारण किया करते हैं।

स्त्रियां इन जेवरों को तीज-त्योहार, ब्याह-शादी या अन्य शुभ अवसर, देव-पूजा तथा मेलों पर पहनती हैं। प्रतिदिन केवल सुहागचिह्न ही लगाए जाते हैं।

नारी जाति के सामाजिक और आर्थिक महत्त्व के कारण कन्या का जन्म यहां अभिशाप नहीं माना जाता। हां, यह अवश्य है कि उसके जन्म पर उस प्रकार का हर्षोल्लास प्रदर्शित नहीं किया जाता जैसे पुत्र के जन्म पर। बाल्यावस्था में कन्याओं की पूजा की जाती है, उन्हें देवी का रूप माना जाता है। घर में लड़की को बोझ नहीं गिना जाता, क्योंकि विवाह तक वह घर के कामकाज में पूरा भाग लेती है और माता-पिता के कृषि-कार्य में सहायता करती है। उसके ब्याह पर भी अधिक खर्च नहीं आता है। फिर भी मां-बाप के अवचेतन मन में कहीं न कहीं यह भाव छिपा-सा मालूम होता है कि यदि पुत्री के बजाय पुत्र होता तो बेहतर होता। यह लोकोक्ति कि "धियां दीयो राणी, बुढ़ापे भरे पाणी", इस ओर इंगित करती है।

सप्तम अध्याय

कलात्मक सम्पदा

कला—आदिकाल से मनुष्य अपने चारों ओर देखता आया है। चतुर्दिक् वातावरण के अमुक चित्र उसके अचेतन मन पर बनते-बिगड़ते रहे, कई भाव मन में आते-जाते रहे। इन चित्रों को मूर्त रूप देने और भावों को अभिव्यक्त करने का उसने सदा प्रयत्न किया, क्योंकि अपने हर्ष-विषाद को व्यक्त कर के ही वह सन्तुष्ट हो सकता है। इस आत्मतुष्टि के लिए, भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उसने जिन साधनों का उपयोग किया, वे ही कला हैं।

जीवन को सुसंस्कृत बनाने वाले साधन कला हैं और विचारों की कुशल अभिव्यक्ति कला है। कला, मुख्यतः बुद्धि और हृदय से उपजती है, अतः उसका प्रभाव भी बुद्धि और हृदय पर पड़ता है और उसकी अनुभूति भी इन दो के द्वारा ही होती है। कोई चित्र, किसी संगीत की धुन हमारे हृदय और मस्तिष्क को आलोकित कर आनन्द देते हैं। इसीलिए कला का सीधा सम्बन्ध अधिकतर हमारे बौद्धिक तथा मानसिक जीवन से है। वह जीवन को अनुप्राणित और अनुप्रेरित करती है।

भावों की अभिव्यक्ति का स्वरूप क्या है, इस आधार पर कला को पांच वर्गों में बांटा गया है। इनके नाम हैं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला।

ये भेद अन्तिम नहीं। वस्तुतः कला की कोई सीमा नहीं है, वह तो मानवबोध को उजागर करने और मानव को आनन्द प्रदान करने का साधन है। उसके विविध रूपों का विभाजन मोटे तौर पर सुविधा के लिए किया गया है।

हिमाचल के संदर्भ में हम संगीत, मूर्ति, मन्दिर, चित्र, नाट्य, नृत्य और मेले पर ही प्रकाश डालेंगे।

भारतवर्ष में कला को सदा से विद्या के लिए प्रयुक्त किया गया है। दर्शन और धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को लोगों तक नाटक, संगीत, नृत्य, चित्र और मूर्तियों

द्वारा ही पहुंचाया जाता रहा है ।

संगीत—कला पर एक प्राचीनतम कृति विष्णु धर्मोत्तरा में संगीत, नृत्य और मूर्ति निर्माण के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि ये बाह्यलय की आन्तरिक अभिव्यक्ति हैं। रंग, ध्वनि और रूप अभिव्यक्ति की समान भाषा के ही विविध स्वरूप हैं।

जहां तक हिमाचल प्रदेश का सम्बन्ध है, वहां काव्य, संगीत और चित्रकला का समन्वय संसार में अद्वितीय है। प्रतीत होता है कि ये तीनों कलाएं एक-दूसरे के लिए ही बनी हैं। गीत और नृत्य सामान्यतः संगीत के लिए ही हैं। यही उनकी उपादेयता है, यही आधार है। गीत तो गेय होते ही हैं, यहां पर अनेक कथायें और लोक गाथायें भी पद्यबद्ध हैं, और फलस्वरूप उनमें भी लय का प्राथमिक महत्त्व है। गीत की सार्थकता गाने में ही है, उसकी लय में है, संगीत में है।

वाद्य के संगीत के समान ही गीतों और गाथाओं के संगीत की अपनी विशेषता है। हृदय में करुणा, वीरता, शृंगार, उत्साह, विराग आदि भावों को जागृत करने की क्षमता गीतों की विषयवस्तु में ही नहीं, उनके संगीत में भी सम्मिलित मिलती है। झुरी, झंझोटी लामण, वारें, छींजे, बिदाई गीत, गोपीचन्द और भरथरी एवं कई नाटी गीतों को सुनते हुए उनके संगीत स्वरों के आधार पर कोई भी श्रोता उनका अर्थ समझे बिना भी उनकी भावभूमि का अनुमान लगा सकता है। यदि हम कहें, कि इस प्रदेश के साहित्य के एक बहुत बड़े भाग का काम एक प्रकार से संगीत के लिए बोल उपलब्ध कराना है, तो अनुचित न होगा।

करुण गीतों की लय प्रायः लम्बी और दबी-दबी-सी होती है। प्रेमगीत विशेषतः झुरी, लामण, दशी, झंझोटी, झुल्पिया और गुलात्री में हृदय का उल्लास ध्वनि के साथ नाचता-थिरकता प्रतीत होता है। गीत और संगीत के इस सम्मिलित रूप को ध्यान में रखते हुए ही यह कहा जाता होगा कि लामण दो हृदयों को एक करने का सशक्त माध्यम है। सुनने में यह भी आया है कि लामण गाने की होड़ के फलस्वरूप पहली बार मिले दो अपरिचित व्यक्ति ब्याह-सूत्र में बंध गए। वीर गीतों में स्वरों का आरोह अधिक होता है।

संगीत के विद्वानों का कहना है कि पहाड़ी प्रदेश में आज भी संगीत की वह पद्धति विद्यमान है जो प्राचीन यूनान और भारत की पद्धति की तरह अवरोह पर आधारित थी।

पहाड़ी संगीत का अध्ययन शास्त्रीय संगीत के सिद्धान्तों के आधार पर नहीं हो सकता है। दोनों के मानदंड पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु आधार दोनों का एक ही है। संगीत-शास्त्री यह मानते हैं कि रागों का जन्म तीन स्रोतों से हुआ है। अलौकिक, ऋषि-मुनियों द्वारा प्रगीत तथा लोक संगीत। वस्तुतः लोक संगीत का आधार बड़ा प्रबल है। राग पहाड़ी स्पष्टतः शास्त्रीय संगीत के लिए इस पर्वतीय प्रदेश की देन है। इसके अतिरिक्त

दुर्गा, सारंग, पूरिया, पूर्वी, हिंडोल, भीम पलासी, भैरवी, मालकौंस, केदार आदि रागों की थोड़ी-बहुत रूपरेखा यहां के संगीत में भी मिलती है। अतः यह कहा जा सकता है कि पहाड़ी संगीत की पृथक् शैली या घराना नहीं है, किन्तु इस संगीत में शास्त्रीय संगीत के मूल तत्त्व विद्यमान हैं। एक बात और है, संगीत शास्त्रों में उल्लिखित बहुत सारे राग अपना अस्तित्व खो बैठे हैं। परन्तु हिमाचल की लयों में, धुनों में उन रागों का प्रारंभिक स्वरूप आज भी सुरक्षित है।

सुगम संगीत और चलचित्र संगीत को समृद्ध बनाने में हिमाचली संगीत ने बहुत योगदान दिया है।

अन्य ललित कलाओं के अनुरूप संगीत का उद्भव भी देवताओं से माना जाता है। ऐसा विश्वास है कि स्वयं शिव ने नाद को जन्म दिया। उन्होंने ही मुख्य छः रागों में से पांच को प्रचलित किया। केवल एक राग पार्वती के लिए रख छोड़ा।

लोक मन में संगीत की श्रेष्ठता सिद्ध करने एवं इस कला का प्राचुर्य दर्शाने के लिए राजा इन्द्र की सभा का उदाहरण दिया जाता है। उस सभा के प्रमुख संगीतज्ञ गन्धर्वों और किन्नरों में से किन्नर वंशज आज भी हिमाचल में वर्तमान हैं, जबकि इन्द्र के अन्य संगीतकार केवल पौराणिक उपाख्यान बनकर रह गए। इस दृष्टिकोण से यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संगीत की एक विशिष्ट परम्परा हिमाचल प्रदेश में उपस्थित है।

संगीत के प्रति साधारण हिमाचली के मन में कितना मोह है, उससे कितना प्यार है, यह निम्नांकित लामण से सिद्ध हो जाता है, जिसमें गायक गाने से पूर्व देवता से प्रार्थना करता है, कि :

देउआ राजीआ, सेवा साहिबो तेरे,
लामण इयेरे शांगे, कोरे बाजले मेने।

हे देव, मैं सदा तेरी सेवा करता आया हूं। आज मैं लामण लगाना (गाना) चाहता हूं। कृपया मेरे कंठ को साफ बना, जिससे इसमें सुरीलापन, लोच, माधुर्य और गांभीर्य आ जाए।

वाद्य—हिमाचल को यह गौरव प्राप्त है कि शास्त्रों में जिन आदि वाद्यों का उल्लेख है, वे आज भी उसी रु[illegible] से यहां बजाए जाते हैं। भारतीय समाज ने डमरू और बांसुरी को देवतुल्य माना, [illegible]ोंकि वे शिव और कृष्ण के प्रिय वाद्य थे। यह माना जाता है कि सारा ब्रह्मांड इन्हीं दो यंत्रों के संगीत की लय पर घूमता है। इस प्रदेश में यही डमरू (जिसे ढेंकुली, हुलक और पैओल भी कहा जाता है) और बांसुरी देव-पूजा विशेषतः विष्णु-पूजा के अनिवार्य यंत्र हैं। कई भागों में चाहे सामाजिक नृत्य हो या पौराणिक अथवा धार्मिक, देव-पूजा हो या कोई पर्व, उत्सव हो या त्योहार, डमरू और बांसुरी का होना नितान्त आवश्यक है। दियाउड़ी जैसे युद्ध-नृत्यों में भी इनका प्रयोग होता है। डमरू और बांसुरी के अलावा मुख्यतः ढोल, दमामा, नगाड़ा, कावा, करनाल,

नरसिंघा, तूरी, शंख, भाणा, शहनाई, डफ, थाली, खंजरी और मंजीर वाद्यों का प्रचलन है।

शंख और नरसिंघा को छोड़ प्रायः सभी वाद्य यंत्र उन हरिजनों द्वारा बजाए जाते हैं जिन्हें बाजगी, डूमणे, ढोली, बजंतरी आदि कहा जाता है। देव-पूजा में शंख, नरसिंघा, भाणा और थाली सुवर्ण बजा लेते हैं, वैसे शंख और नरसिंघा पूर्णतः उन्हीं के यंत्र हैं।

बांसुरी ऐसा स्वर यंत्र है जिसे घर पर या वन के एकान्त में कोई भी बजा लेता है, अन्यथा वाद्य यंत्र विशेष अवसरों, मंगल कार्यों, उत्सवों, मेलों और देव-कार्यों पर ही बजाए जाते हैं।

हिमाचल के संगीत को बाजगी की बहुत बड़ी देन है। वह एक प्रकार से स्वयं-सिद्ध गायक है। ढोल और दमामा आकार में बहुत साधारण वाद्य हैं, किन्तु बाजगी उनका वादन जिस निपुणता से करते हैं, वह सुनने योग्य है। परम्परा यह है कि यह वादन शास्त्रीय पद्धति पर आधारित है। देवता के आह्वान अर्थात् गूर छेराउणा के समय बाजगी जिस ताल लय से ढोल बजाता है, वह सारे शरीर में रोमांच-सा ला देता है, हृदय कांप-सा जाता है। इसी प्रकार देवता के एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए और बरयात्रा में ढोल की ध्वनि में स्वाभाविक गति होती है। दूर से सुनने पर ही मालूम हो जाता है कि आया देवयात्री अथवा वर-पालकी गतिशील है, या कहीं देवरथ और वर की पालकी को ठहराया गया है। इसी प्रकार नाटी आदि सामूहिक नृत्यों में तथा नाटारंभ और हाड़ी आदि वैयक्तिक नृत्यों में पृथक्-पृथक् वाद्यों, ताल और ध्वनि की परम्परा मिलती है। युद्ध और मृत्यु के वाद्य की बिल्कुल भिन्न शैलियां होती हैं। इन शैलियों में व्यक्त अभिप्राय दूर से सुन कर ही समझा जा सकता है।

गीतों के साथ वाद्य का प्रयोग केवल उस स्थिति में होता ह, जब नृत्य के साथ गीत भी गाए जा रहे हों। धार्मिक अवसरों, मेलों आदि में वाद्य, गीत और नृत्य तीनों का समावेश होता है।

समग्र रूप से देखा जाए, तो कला के क्षेत्र में इस प्रदेश का एक विशिष्ट स्थान है। जैसा हम आगे देखेंगे, सैकड़ों वर्षों तक कला अपने विभिन्न अंगों और विविध स्वरूपों में यहां पनपी, पल्लवित और पुष्पित हुई है।

मन्दिर और मूर्ति—देश के कला इतिहास को क्रमबद्धता देने में हिमाचल का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संभवतः अनेक लोगों को आश्चर्य होगा, यदि यह कहा जाए, कि भारत के इतिहास में जिसे कलाक्षेत्र में विद्वान अन्धकार युग कहते आए हैं, उसी युग के सैकड़ों स्मारक और अवशेष आज भी इस प्रदेश में विद्यमान हैं।

जब विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से उत्तरी भारत में मन्दिर और मूर्तियां नष्ट-भ्रष्ट हो गई थीं, कला के पनपने के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव हो गया था, तब हिमाचल प्रदेश ने न केवल देश के समृद्ध भंडार के अनूठे रत्नों को विध्वंसकारियों से बचाए रखा, अपितु अपने स्वच्छ, स्वच्छन्द, उनमुक्त, शान्त तथा अनालोडित

वातावरण में मूर्तिकला की विविध शैलियों को पनपने, पल्लवित एवं पुष्पित होने का अवसर दिया था। यही कारण है कि हिमाचल के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक, उत्तर से दक्षिणी भाग तक स्थान-स्थान पर गुप्तकालीन गुप्तोत्तर, कुषाण, मौरवरी, प्रतिहार, कश्मीर तथा स्थानीय त्रिगर्त कला के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

यही नहीं, भारत से बाहर दक्षिण-पूर्व एशिया के जावा, कम्बोदिया तथा बाली में भारतीय कला के जो महान स्मारक मिलते हैं, उनकी शैली का प्रतिरूप हमें हिमाचल में उपलब्ध है। कतिपय कला-समीक्षकों का कहना है कि कला के विकास और संरक्षण में हिमाचल के मन्दिरों का वही स्थान है, जो अजन्ता, अलोरा और बाघ का।

यह प्रसन्नता एवं गर्व की बात है कि इस प्रदेश ने कला के विकास और प्रसार के लिए सभी साधनों का उपयोग किया। यहां पर काष्ठ, पत्थर, अष्टधातु, कांसा, सोना, चांदी सभी धातुओं को इसके लिए बरता गया। इतना ही नहीं, संभवत: हिमाचल यह दावा कर सकता है कि उसने कला के लिए न केवल कागज, अपितु ऊन, सूत और कपड़ा तक का प्रयोग किया।

ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक कला की एक अनवरित धारा यहां बहती रही है, जिसमें कभी भवन-निर्माण की, कभी मूर्तिकला की और कभी चित्रकला की प्रमुखता रही है। उत्तर गुप्तकालीन तथा कश्मीर कला के अलभ्य नमूने उत्तर भारत में केवल हिमाचल प्रदेश में ही प्राप्त हैं। यहां के मन्दिरों को देखकर हमें यह समझने में आसानी रहती है कि मध्ययुगीन कला शैली किस प्रकार धीरे-धीरे लुप्त हो गई, और किस प्रकार मुगल और सिख शैलियों ने जन्म लिया है।

मन्दिर—हिमाचल मन्दिरों का प्रदेश है। किसी गांव में जाइये, चाहे वहां 10-15 निवासी हैं, चाहे सैकड़ों, हजारों, एक मन्दिर तो अवश्य मिलेगा। साधारणतया मन्दिरों का प्रिय स्थान वन, पर्वत-शिखर, झरना, तालाब या गुफा है। इन मन्दिरों का न तो कोई भवन होता है और न ही यहां मूर्तियां स्थापित होती है। यदि किसी मन्दिर में कोई मूर्ति हो भी, तो वह कई बार तो केवल शिलामात्र होती है, या भद्दी-सी प्रतिमा, गोल पिंड या केवल कंकर। इस प्रकार के मन्दिरों की बड़ी पहचान उसके ऊपर और इर्द-गिर्द टंगी लाल-पीली झंडियां होती हैं। जब कभी कोई टूटा-फूटा-सा कमरा ही मन्दिर का काम दे देता है। इन मन्दिरों के अतिरिक्त गांव का पृथक् मन्दिर या 'देउरा' अथवा 'देहरा' होता है। इन मन्दिरों में प्राय: किसी देवी या नाग की मूर्ति अथवा शिवलिंग होता है। कुछ ऐसे भी 'देउरे' हैं, जहां केवल ग्राम देवता का रथ और मुखोट, 'मीहरे' या 'मोहरे' रखे जाते हैं। सामान्यत: मूर्ति वाला मन्दिर 'देउरा' कहलाता है और रथ तथा मुखोट का भंडार, कोठी।

स्थानीय देवी-देवताओं के मन्दिरों के अलावा शिव, विष्णु और अन्य शास्त्रीय एवं पौराणिक देवी-देवताओं के मन्दिर भी प्राय: सभी गांव में होते हैं। इस प्रकार एक गांव में दो-दो चार-चार मन्दिर होना सामान्य बात है। चम्बा में भ्रमौर का सारा इलाका शिव भूमि, मंडी शिव की नगरी और निर्मंड पांडित्य तथा मन्दिरों की संख्या

के कारण पवर्तीय काशी के नामसे जाने जाते हैं। चम्बा में तो एक स्थान पर छ: मन्दिरों की पंक्ति है, जिनमें विष्णु और शिव सहअस्तित्व की नीति का अनुसरण कर भाई-चारे से निवास करते हैं। चौरासी स्थान पर नाम के अनुरूप चौरासी मन्दिर हैं। महासू में हाटकोटी और मंडी में ममेल और काव प्राचीन मन्दिरों के लिए विख्यात हैं। यही स्थिति रामपुर, बुशैहर, जुब्बल, नाहन, रेणका, पुराना विलासपुर, नग्गर और जगसुख की है। कांगड़ा, बैजनाथ, ज्वालामुखी और टीरा सुजानपुर शताब्दियों से मन्दिरों के कारण प्रसिद्ध हैं। कांगड़ा के मन्दिरों की ख्याति भारत से बाहर के देशों तक फैली थी और किसी समय उनकी तुलना सोमनाथ जैसे मन्दिरों से की जाती थी। यही कारण है कि दसवीं शताब्दी में महमूद गजनवी ने अपनी लूटपाट में कांगड़ा देवी के मन्दिर को भी सम्मिलित किया था।

इससे ज्ञात होता है कि पुरानी राजधानियों और प्रमुख और सांस्कृतिक केन्द्रों में इन मन्दिरों का आधिक्य है। यहां पर मन्दिरों के सुन्दर भवन बने हैं, जिन्हें हम निर्माण-सामग्री के आधार पर तीन भागों में बांट सकते हैं—पाषाण मन्दिर, काष्ठ मन्दिर और मिश्रित मन्दिर।

गुफा मन्दिरों की एक पृथक् श्रेणी है। प्रमुख गुफा मन्दिर मसरूर, त्रिलोकपुर और बाइल में हैं।

मसरूर—हरिपुर से आठ मील तथा कांगड़ा से बैजनाथ की ओर बारह मील की दूरी पर स्थित मसरूर के मन्दिर हिमाचल प्रदेश में गुफा मन्दिरों के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। 160 फुट लम्बी और 105 फुट चौड़ी बलुआ चट्टानों को काटकर बनाए गए शिखर शैली के ये 15 मन्दिर महाबलिपुरम और अलोड़ा के विश्व-विख्यात मन्दिरों की तरह भव्य हैं।

ये मन्दिर शिलाखंडों पर अंकित मूर्तियों से भरे पड़े हैं। सभी मूर्तियां सजीव हैं, जिनके अंकन में विवरण का विशेष ध्यान रखा गया है। गन्धर्व और मत्स्य चित्रण सशक्त हैं। वस्तुत: मसरूर के गन्धर्व औरंगाबाद (अलोरा) की गुफा के विख्यात गन्धर्वों से भी अधिक सन्तुलित हैं। सर्वोत्तम मन्दिर ठाकुर द्वारा है, जिसके मुख्य द्वार के ऊपर तो शिव की सुन्दर मूर्ति है और गर्भगृह में राम, सीता और लक्ष्मण की मूर्तियां हैं।

इन मन्दिरों का निर्माण अनुमानत: आठवीं शताब्दी में हुआ है। ठाकुर द्वारे की निर्माण-योजना जावा और खमेर के प्रख्यात मन्दिरों जैसी है।

सतलज उपत्यका में निर्मंड का 'देउढांक' का गुफा मन्दिर खड़िया की एक बहुत बड़ी चट्टान में बीचोबीच प्राकृतिक रूप से बना है। इसका प्रवेश-मार्ग संकरा है, किन्तु भीतर से गुफा काफी चौड़ी है। गुफा में पूर्व दिशा की ओर चट्टान में ही दो लिंग बने हैं, जिन पर बूंद-बूंद कर पानी टपकता रहता है।

पाषाण मन्दिर—इन मन्दिरों के निर्माण में केवल पत्थर प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाषाण मन्दिरों का प्रचलन मुख्यत: पांचवीं शताब्दी से 12वीं

शताब्दी तक रहा है, और उस समय का शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्राम या नगर ऐसा हो, जहां ये मन्दिर न हों।

पाषाण मन्दिर सामान्यत: शिव, विष्णु और सूर्य के हैं। ऐतिहासिक पाषाण मन्दिरों में हम मसरूर की भी गिनती कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त महासू में निरत और चम्बा में गुम के सूर्य मन्दिर, बजौरा, बैजनाथ, मनिमहेश, निर्मंड, नग्गर, जगत सुख, मंडी, रामपुर, बुशैहर और चम्बा के शिव मन्दिर उल्लेखनीय हैं। नग्गर, में शिवलिंग के स्थान पर उमाशंकर की तीन फुट लम्बी मूर्ति है।

चम्बा के लक्ष्मी नारायण और वज्रेश्वरी मन्दिर पाषाण पर अंकित सुन्दर और भव्य मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। प्राय: सभी पाषाण मन्दिर गुप्तकालीन शिखर मन्दिरों में आकार के हैं।

बैजनाथ—बैजनाथ के विख्यात शिव वैद्यनाथ के मन्दिर का निर्माण कांगड़ा के दो शिल्पी, नयका और ठ्ठडुक ने किया है। सामू नामक शिल्पीराज ने मन्दिर की परियोजना बनाई थी।

12वीं शताब्दी के इस मन्दिर के प्रवेश-द्वार में द्वारपाल के रूप में गंगा और यमुना की वीणा और कुम्भ धारिणी सुन्दर मूर्तियां हैं। गर्भगृह में शिवलिंग है। मंडप की उत्तरी और दक्षिणी भीति के छोर पर शिखर शैली के छोटे-छोटे मन्दिर हैं। पूर्वी भीति में बूट-कोट धारी सूर्य की मूर्ति है।

वैद्यनाथ के मन्दिर में भी कांगड़ा की स्वच्छन्द भैरवी की मूर्ति के नर्तक गणेश की तरह नृत्यरत गणपति है। साथ में नटराज शिव की विशाल पाषाण मूर्ति है। अनेक भुजाओं वाली यह सम्पूर्ण मूर्ति लयात्मक है।

मंडी के शिवद्वालों में स्थित पाषाण नन्दी जैसा ही वृहत् नन्दी यहां भी है, जो संभवत: 12वीं शताब्दी के बाद का है।

बैजनाथ में मूर्तिकला और वास्तुकला का अपूर्व समन्वय देखने में आता है।

बजौरा—लगभग यही विशेषता हमें कुल्लू में व्यास के किनारे स्थित बजौरा के प्रसिद्ध मन्दिर में भी दिखाई देती है। यहां शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों की प्रतिनिधि मूर्तियां हैं। भवन आकार में बहुत बड़ा नहीं, किन्तु उस पर अंकित तथा अन्दर रखी गई विष्णु, महिषासुर मर्दिनी और गणेश जैसी मूर्तियां कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं।

विष्णु में सौम्यता है और महिषासुर मर्दिनी में गतिशीलता और क्रियात्मकता है। और एक हाथ में त्रिशूल लिए और एक दूसरे से महिषासुर के बाल पकड़ने वाली अष्ट भुजा दुर्गा ऐसे लगती है मानो उसी क्षण वह अपने शत्रु के प्राण ले रही है। पत्थर की इस मूर्ति में उतनी सजीवता और कला-सौष्ठव है जितना किसी अष्टधातु की मूर्ति में हो सकता है।

दुशाल—कुल्लू में ही दुशाल का शिव-मन्दिर कला-चित्रण में प्रख्यात खजुराहो मन्दिर जैसा है। प्रवेश-द्वार के दोनों ओर मैथुन युगल अंकित हैं। उत्तरी भारत में यह

अकेला उदाहरण है। सारे का सारा भवन अलंकृत है, किन्तु खेद है कि सुरक्षा की समुचित व्यवस्था न होने से कला की यह अमूल्य थाती भग्न हो रही है। द्वार के स्तम्भ टूट रहे हैं और एक ओर का द्वारपाल धूलिधूसरित हो गया है। भवन में दरारें आ गई हैं।

निरत—निरत का सूर्य मन्दिर सतलज उपत्यका में शक राज्य का स्मरण कराता है। इसका भवन छोटा है जिसे स्थानीय शिल्पियों ने बनाया है। मन्दिर के आंगन में पुरानी खंडित मूर्तियां हैं, जो संभवतः कभी मन्दिर में स्थापित की गई थीं। इनमें एक विष्णु की मूर्ति है। गणेश और सूर्य की दो अन्य सुन्दर मूर्तियां हैं। इनके हाथ में सूर्यमुखी पुष्प हैं। मन्दिर के भीतर जगमोहन में भी सूर्य की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ हैं, और वैसी ही वृहदाकार सूर्य-मूर्ति गर्भ-मन्दिर में है। मंडप में विष्णु और हर गौरी के प्रतिमायें हैं। निर्माण की दृष्टि से यह मन्दिर बंगाल में बाकुरा के सिद्धेश्वर (शिव) मन्दिर जैसा है।

काष्ठ मन्दिर—दूसरी प्रकार के मन्दिरों में लकड़ी का बहुत अधिक प्रयोग होता है, इसी कारण इन्हें काष्ठ मन्दिर कहा गया है। दीवारों में पत्थर की केवल एक बारीक-सी पट्टी, लकड़ी के चौड़े-चौड़े शहतीरों के बीच में होती है। छतें, प्रांगण, मंडप, थम्ब आदि सब काष्ठ के होते हैं। किन्नौर में कोठी देवी का मन्दिर, भीमाकाली भवन, निर्मंड में दक्षिणेश्वर महादेव का भग्नप्राय मन्दिर, और नग्गर का मन्दिर इस वर्ग के कुछ नमूने हैं।

किन्तु काष्ठ मन्दिरों में सर्वोच्च स्थान लाहुल के मृकुला देवी के मन्दिर को प्राप्त है। भ्रमौर का लक्षणा देवी मन्दिर और चित्राढी का शक्ति देवी मन्दिर भी इस प्रकार के उत्तम उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त मिन्थल, मनाली, पराशर, करसोग, सराहन, सराहां, मूरंग और किल्बा में भी सुन्दर प्राचीन काष्ठ मन्दिर हैं। इस वर्ग के मन्दिरों के भवन कहीं-कहीं तो प्राचीन-काल से ही चले आये हैं, परन्तु कई स्थानों पर पुराने भवन ढह गये हैं। उनकी मूर्तियों और खुदे हुए पत्थरों और लकड़ी को उन्हीं के ऊपर नये बने भवन के निर्माण में प्रयुक्त किया गया है। कुछ मन्दिर ऐसे भी हैं, जिनमें पुरानी मूर्तियों, खुदी हुई देवी-देवताओं की मूर्तियों, पुष्प, पशु-पक्षी, नाग, किन्नर, गन्धर्व और यक्षों की आकृतियों की नकल कर नई मूर्तियां बनाई गई हैं। इस प्रकार 6-7वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक युग तक के भवन हमें देखने को मिलते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखनी होगी। शिल्प और कला उत्तरोत्तर निखरने के बदले क्षीण होते गये और मूर्तियां कई बार नितान्त स्थानीय तथा अपरिपक्व रूप में बदल गईं, जिनमें पुरानी मूर्तियों का सौन्दर्य नहीं रहा।

जहां तक मृकूला, भ्रमौर और चित्राढी के मन्दिरों का सम्बन्ध है, वे गुप्तोत्तर शैली को समझने की केवल मात्र कुंजी हैं। इसी कला ने नेपाल, बृहत् भारत, पूर्वी तुर्किस्तान, चीन और जापान की बौद्ध शैली को प्रभावित किया था। इसके अतिरिक्त मृकुला में हमें नष्ट हुई कश्मीरी कला की भी झलक मिलती है। ये तीनों मन्दिर चम्बा के राजा मेरुवर्मन द्वारा 7-8वीं शताब्दी में बनवाये गए। इनमें देवदारु के बड़े-

बड़े शहतीर प्रयुक्त हुए हैं, जिन पर खुदाई कर अति सुन्दर और सजीव मूर्तियां बनाई गई हैं। पूजा की मूर्तियां अष्ट धातु की बनी हैं।

ये मन्दिर गुप्त और गुप्तोत्तर कला का भव्य उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक कला-समीक्षक का कहना है कि इन मन्दिरों की काष्ठ एवं अष्ट धातु की मूर्तियां उतनी ही सुन्दर हैं, जितनी अजन्ता, औरंगाबाद, ऐलोरा आदि गुफा मन्दिरों की। उसके अनुसार चौथी-पांचवीं शताब्दियों के उपरान्त की भारतीय कला और शिल्प के उदाहरण देश के दक्षिणी और मध्यवर्ती भागों में तो उपलब्ध हैं, किन्तु उत्तर में हमें केवल ये मन्दिर ही मिलते हैं। इस अर्थ में ये तीनों मन्दिर कला के तथाकथित अन्धयुग में प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करते हैं।

मृकुला-उदयपुर का मृकुला देवी मन्दिर—यह बड़े सुखद आश्चर्य की बात है कि हिमाचल प्रदेश का सबसे बड़ा कलात्मक मन्दिर यहां के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक नगरों से दूर सीमान्त लाहुल में है। वहां चन्द्रभगा और मेयर नाले के संगम पर मृकुला नाम का गांव है, जिसे सन् 1695 के आसपास चम्बा के राजा उदयसिंह ने उदयपुर में बदल डाला तब से यह मृकुला-उदयपुर भी कहलाता है।

धार के ढलान पर स्थित लकड़ी की नुकीली छत वाला यह मन्दिर दूर से देखने पर इलाके के अन्य सामान्य घरों जैसा लगता है, किन्तु ज्योंही इसके निकट पहुंच कर देखते हैं, तो प्रवेश-द्वार पर खुदी मूर्तियों की बहुलता, प्रतीकात्मकता और सजीवता तुरंत प्रभावित कर देती है। भीतर प्रविष्ट होने पर जो दृश्य सामने आता है, दर्शक, किंकर्तव्य-विमूढ़-सा हो कुछ क्षणों के लिए स्तंभित हो जाता है। उसके सम्मुख चारों ओर, छत पर, दीवारों पर, खिड़कियों में, मंडप और मंडप के थम्ब (स्तंभों) पर, जगमोहन और गर्भ-मन्दिर के द्वार पर समस्त भारतीय संस्कृति का मूर्तरूप सामने आ जाता है। देवदारु के शहतीरों और तख्तों पर खुदी मूर्तियां इतनी सशक्त और सजीव हैं, मानो वे स्वयं अपनी कहानी सुना रही हों।

एक ओर महाभारत का दृश्य है, तो दूसरी ओर रामायण-प्रसंग खुदा है। तीसरी ओर बौद्ध इतिहास है और चौथी ओर पौराणिक गाथाएं चित्रित हैं। थम्भ दुर्गों का अभिप्राय प्रस्तुत: करते हैं। एक थम्भ पर महारथी अर्जुन कपिध्वज वाले अपने रथ में खड़े हैं, पीछे विष्णु हैं और सामने अन्य रथ पर महावीर कर्ण। दोनों ने तीर साध रखे हैं। एक अन्य चित्र गोहरण का चित्र प्रस्तुत करता है, जिसमें संभवत: त्रिगर्त के राजा सुशर्मण को पांडव बन्धुओं से युद्ध करते दिखाया गया है।

द्रौपदी-स्वयंवर का मूर्तिकरण अत्यन्त सजीव है। भिन्न-भिन्न दृश्यों में पहले राजा द्रुपद राजसिंहासन पर बैठे मंत्रणा करते दीखते हैं। द्रौपदी धीरे-धीरे प्रवेश करती है। पुन: एक व्यक्ति हल्के से उसके बाजू को छू उसे पंडाल की ओर ले जाता है। अर्जुन अपना तीर साध रहा है। पूरी तन्मयता से वह बाण चलाता है, मछली पर निशाना लगता है। इसी क्रम के एक दृश्य में राज्याभिषेक चित्रित है।

पश्चिमी भीति पर रामायण के सुन्दरकांड और युद्धकांड की कथाओं को

अंकित किया गया है। सीताहरण हो गया है, उसकी खोज हो रही है। राम और लक्ष्मण, हनुमान को लंका भेज रहे हैं। दूसरे दृश्य में लंका से लौट कर राम को सूचना देते दिखाया गया है। तीसरे दृश्य में हनुमान महेन्द्र पर्वत पर से छलांग लगा समुद्र को पार कर लंका पहुंच रहे हैं। समुद्र की प्रतीक दो मछलियां हैं। तदुपरान्त कपिश्रेष्ठ अशोक वाटिका में त्रस्त सीता के दर्शन करते हैं। उनसे वार्तालाप कर संभवतः राम का सन्देश और चिह्न दे रहे हैं। बाद में हनुमान द्वारा लंका-दहन और हनुमान-दशशीश रावण सम्वाद दिखाये गये हैं। इस सम्बंध में हमें ध्यान रखना होगा कि प्रत्येक घटना को अभिव्यक्त करने के लिए अनेक मूर्तियों और प्रतीकों का प्रयोग किया गया है।

यही नहीं दस अवतारों सम्बन्धी आख्यान, वामनावतार द्वारा राजा बलि से पृथ्वी लेकर उसे पाताल में डालना. समुद्र-मंथन, असुर पराजय आदि गाथाओं को बड़े रोचक ढंग से खुदाया गया है।

मूर्तियों के एक अन्य क्रम में माराधर्षण प्रसंग है। भगवान बुद्ध वज्रासन में भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठ कर मृत्यु तथा माया पर अपनी विजय घोषित कर रहे हैं।

केवल वैष्णव और बौद्ध विषय ही इस मन्दिर के मूर्तिकारों के प्रिय विषय नहीं हैं। उन्होंने उसी लगन और श्रद्धा से नटराज शिव, गौरी और शिव-परिवार के अन्य सदस्यों को भी मूर्त किया है। गन्धर्वों द्वारा शिवलिंग की पूजा का दृश्य तथा यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों के नृत्य का दृश्य चिरस्मरणीय है।

ऐसा माना जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण सातवीं शताब्दी के अन्त या आठवीं शताब्दी के आरम्भ में चम्बा के राजा मेरुवर्मन ने कराया था। चित्राढ़ी का शक्ति देवी मन्दिर और भ्रमौर के लक्षणा देवी तथा अन्य प्रमुख मन्दिर भी इस राजा ने बनवाये थे। इन मन्दिरों तथा इनमें स्थापित मूर्तियों पर लेख से ज्ञात होता है कि उनका कला और मूर्तिकार गुग्गा नाम का व्यक्ति था।

मृकुला मन्दिर की बौद्ध मूर्तियों जैसी काष्ठ मूर्तियां स्पिति के विख्यात ताबो मठ में भी मिलती हैं। वहां दो बड़े-बड़े चौखटे हैं जिन पर जातक से कुछ प्रसंग खुदे हुए हैं।

लक्षणा देवी मन्दिर—गद्दियों का क्षेत्र भ्रमौर मन्दिरों के लिए सारे प्रदेश में प्रख्यात है। निर्मंड के ध्वस्त शिव शूलपाणि मन्दिर और चंडी मन्दिर के प्रांगण के शिवालय और नग्गर के निकट मुरलीधर मन्दिर के आधार को छोड़, जो 7वीं शताब्दी से पहले के हैं,भ्रमौर के मन्दिर प्राचीनतम भवनों में से हैं। यहां के मन्दिरों में मनीमहेश, गणेश, नरसिंह और लक्षणा देवी के मन्दिर प्रसिद्ध हैं। ऐसा माना जाता है कि लक्षणा देवी के भवन को छोड़ अन्य मन्दिरों के भवन 7वीं शताब्दी के बाद के हैं, यद्यपि मूर्तियां उसी शताब्दी की हैं। लक्षणा देवी का मन्दिर और मूर्ति दोनों अपने पूर्व रूप में चले आ रहे हैं। यह मन्दिर 8वीं शताब्दी के कीर आक्रामकों के हाथों से बच गया।

काष्ठ मन्दिरों के वर्ग में लक्षणा मन्दिर का विशेष स्थान है। प्रवेश-द्वार के ऊपर बारह हाथों वाली एक मूर्ति है जिसे कुछ लोग काली मानते हैं, तो कुछ सूर्य। इस मूर्ति के सम्मुख सात झुकी हुई आकृतियां हैं। समझा जाता है कि मूर्ति के विभिन्न

चिह्न लिए बारह हाथ महीनों के प्रतीक हैं और झुकी हुई आकृतियां वारों की हैं। द्वार के ऊपर के मरेठ और पल्ले पर हार लिए गन्धर्व चित्रित हैं। देहलीज की दोनों ओर कमलदल और जलकुम्भ लिए अपने वाहन मकर पर खड़ी गंगा और कूर्म पर खड़ी यमुना दिखाई गई हैं।

गर्भ-मन्दिर में लक्षणा देवी की तीन फुट चार इंच ऊंची अष्ट धातु की चतुर्भुज मूर्ति है। देवी का दाहिना पैर महिषासुर के सिर पर दिखाया गया है, बायें हाथ में त्रिशूल है। अन्य दो हाथों में देवी खड्ग और घंटा धारण किए हुए हैं।

शक्ति देवी मंदिर—चम्बा से 24 मील उत्तर-पूर्व की ओर चित्राढ़ी के गांव के बीच में शक्ति देवी का मन्दिर है। लक्षणा देवी के मन्दिर की तरह ही इस भवन में देवदारु पर खुदी सुन्दर मूर्तियां हैं। एक पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति पर कहीं नवग्रह अंकित हैं, तो कहीं षट्मुख कार्तिकेय, ऐरावत के साथ वज्रधारी इन्द्र और चतुर्भुज ब्रह्मा, जिसके हाथ में कुम्भ, माला और गीता है। एक ओर त्रिमुख विष्णु, महिषासुर मर्दिनी दुर्गा और गंगा और यमुना अंकित हैं। कहा जाता है कि शक्ति देवी का मन्दिर एक पेड़ के तने पर बना हुआ है। कलात्मकता के लिए अष्ट धातु की शक्ति देवी मूर्ति का विशेष स्थान है।

काष्ठ मूर्तियों और चित्रकारी के लिए निर्मंड में परशुराम मन्दिर के बाहर की कोठियां भी दर्शनीय हैं। तीन कोठियों में लगभग पचास फुट लम्बे और छः फुट ऊंचे बरामदों के चौखटों में बाहर की ओर ये चित्र खुदे हुए हैं।

मिश्रित—हिमाचल प्रदेश में मिश्रित मन्दिर ही सर्वाधिक हैं। इन मन्दिरों में लकड़ी और वृत्ताकार छिले हुए पत्थरों का प्रयोग होता है। द्वार के मरेठा साधारणतया मूर्तियों से भरे होते हैं। इस प्रकार के मन्दिरों में अधिकांश देवी मन्दिर और ठाकुर द्वारे हैं। इनमें हाटकोटी की महिषमर्दिनी पार्वती, निर्मंड की देवी अंबिका, रेणुका में रेणुका और परशुराम मन्दिर, मण्डी का तारणा देवी मन्दिर आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

हाटेश्वरी मन्दिर—पब्बर नदी के किनारे स्थित हाटकोटी में एक प्राचीन मन्दिर है जिसकी अधिष्ठात्री देवी को हाटेश्वरी अथवा वज्रेश्वरी कहा जाता है। वस्तुतः यह पांच फुट ऊंची अष्ट भुजा स्वर्ण मूर्ति महिषासुर मर्दिनी की है। कहा जाता है कि इस मूर्ति की स्थापना स्वयं शंकराचार्य ने की थी। स्वर्ण मूर्ति के पार्श्व में पाषाण महिषासुर मर्दिनी भी हैं।

साथ में ही एक शिवालय है, जिसकी छत (उलदान) पर गन्धर्व, यक्ष, नवग्रह आदि चित्रित हैं। मुख्य मूर्ति यद्यपि शिवलिंग है, किन्तु मन्दिर के मंडप में गरुड़-आरूढ़ शंख-चक्र-गदा और पद्म धारण किए विष्णु और लक्ष्मी की तीन फुट ऊंची और दो फुट चौड़ी मूर्ति है। ऐसा लगता है कि यह मूर्ति किसी ध्वंसित मन्दिर से उठाकर यहां रखी गई हो।

शिवालय की भीति में एक विचित्र मूर्ति है। गणेश बैठे हैं, पर उनके सिर पर

दो सिंहमुख बने हैं। ये सब मूर्तियां छः से नौवीं शताब्दी की हैं और गुप्त शैली से प्रभावित हैं। हाटकोटी में उड़ीसा के भुवनेश्वर लिंगराज और मुक्तेश्वर मन्दिरों की शैली के कई मन्दिर हैं, जिनमें एक 'पांजो पांडू रे घोड़ू' भी है। हाटकोटी एक अत्यन्त प्राचीन ग्राम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसके चारों ओर बहुत से नष्ट-भ्रष्ट स्मारक हैं, जो या तो जमीन के नीचे दब गए हैं, या प्राकृतिक तत्त्वों ने बरबाद कर दिये हैं।

अंबिका मन्दिर—निर्मंड में अंबिका मन्दिर बहुत पुराना नहीं है, किन्तु देवी की प्रस्तर शिला पर अंकित मूर्ति दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की है। कहा जाता है कि महमूद गजनवी ने जब कांगड़ा मन्दिर को लूट लिया, तो वहां के कुछ प्रबन्धकों एवं पुजारियों ने यहां आकर शरण ली और कांगड़ा देवी की प्रतिमूर्ति स्थापित की।

खैर, जो भी हो, इस मन्दिर में अधिष्ठात्री देवी के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण मूर्तियां सिंह युगल की हैं। गर्भ-मन्दिर के सामने प्रदक्षिण पथ में विशालकाय पाषाण सिंह और सिंहनी खड़े हैं। मुखाकृति से इस प्रकार लगता है कि यह अंबिका वाहन और उसकी सहचरी देवी के किसी शत्रु पर प्रहार करने वाले हों।

मूर्तियां—जैसा हम देख चुके हैं, पाषाण के अतिरिक्त काष्ठ तथा धातु भी मूर्ति-निर्माण में प्रयुक्त हुए हैं। हिमाचल प्रदेश में सामान्यतः मूर्तियां देवी-देवताओं के रथों पर लगाए जाने वाली प्रतिमाओं के रूप में हैं। इस प्रकार की हजारों मूर्तियां मन्दिरों के भंडारों में पड़ी हैं। ये प्रतिमायें सोने, चांदी, कांसा और अष्ट धातु की बनी हैं, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस प्रदेश में इन मूर्तियों के निर्माण का उन्नीसवीं सदी तक सुव्यवस्थित व्यवसाय था। ये प्रतिमायें छठी शताब्दी से बाद के वर्षों में बनी हैं। यह निर्मंड के परशुराम मन्दिर में पड़ी भुंजनी देवी की प्रतिमा से ज्ञात होता है। 15" लम्बी इस अष्ट धातु की प्रतिमा पर शारदा और देवनागरी लिपि में राजा हेमप्रकाश की रानी भुंजनी देवी का उल्लेख है। यह प्रतिमा नवीं-दसवीं शताब्दी की है। इसमें अंकित मूर्ति सजीव है, नाक तीखी, चेहरा भरा हुआ है। सिर पर त्रिकोण मुकुट है, कान में बालियां हैं और गले में मूंड़ों की माला और हार है। पन्द्रहवीं शताब्दी में दुंगरी में देवी हडिम्बा के मोहरे की अपेक्षा यह प्रतिमा अधिक कलात्मक है।

रथों पर लगने वाली इन प्रतिमाओं में सौम्य, शान्त, रौद्र और क्रूर जैसे भावों की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। ये प्रतिमायें लघु आकार की होती हैं किन्तु इनसे निर्माण-तिथि नहीं जानी जा सकती है।

भुंजनी देवी की मूर्ति की तरह ही पुरानी फतेहपुर की कांसे की बुद्ध मूर्ति है, जो गान्धार और गुप्त शैलियों के सम्मिश्रण से बनी है। गुमा से प्राप्त सूर्य प्रतिमा कुषाण-काल की मानी जाती है। इसी काल की मूर्ति बजौरा मन्दिर में है।

मूर्ति-निर्माण के क्षेत्र में 7वीं शताब्दी में इस प्रदेश में बहुत अधिक काम हुआ। भ्रमौर, चत्राढ़ी और मृकुला की अधिष्ठात्री मूर्तियों के अलावा सुलतानपुर कुल्लू में विष्णु मूर्ति, बजोरा के विष्णु, गणेश और दुर्गा, जगत सुख की महिषमर्दिनी, चंडी की वज्रवाराही, हरिपुर की देशमुच देवी, भ्रमौर का नृसिंह का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया

जा सकता है ।

8वीं और 9वीं शताब्दी में त्रिमूर्ति विष्णु का जोर रहा, क्योंकि इसी काल में शकों के आराध्य देव सूर्य की उपासना शनैः-शनैः विष्णु-पूजा में परिवर्तित हो गई और फलस्वरूप सूर्य ने विष्णु का रूप ले लिया, जिसके नृसिंह, वाराह और सूर्य—ये तीन मुख हैं। लाहुल में त्रिलोकनाथ के मन्दिर की पहली मूर्ति इसी युग की बनी थी। मन्दिर के भवन-निर्माण में त्रिगर्त शैली का आरंभिक स्वरूप भी इसी काल में प्रकट होना शुरू हो गया था ।

पाषाण मूर्तियों का सुव्यवस्थित क्रम हमें 12वीं शताब्दी तक मिलता है। इनके अनेक उदाहरण पनिहारों पर खुदी मूर्तियों में प्राप्त हैं, जिनका कला के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

स्वच्छन्द भैरवी—अष्टधातु की मूर्तियों में सबसे विलक्षण स्वच्छन्द भैरवी की मूर्ति है, जो कांगड़ा से प्राप्त हुई है। अब यह मूर्ति नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है।

12वीं शताब्दी की इस मूर्ति की पीठिका पर पांच पंक्तियों का शारदा लिपि में एक अभिलेख खुदा है, जिसमें किसी नरनायक राजा का नाम है। लेख को अभी तक ठीक तरह पढ़ा नहीं गया है। जब इसका सारा विवरण मालूम हो जाएगा, तो इस प्रदेश के उस समय के राजनीतिक और कला-इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ेगा।

स्वच्छन्द भैरवी की पंचानन दस बाहु मूर्ति एक भक्तिविभोर चतुरानान पुरुष पर सुखासन में बैठी है। भैरवी के चार मुख तो चारों दिशाओं में हैं, और पांचवां मुख उनके ऊपर है। दाहिनी ओर का चौथा हाथ अभय मुद्रा में है, और बाईं ओर का वरद मुद्रा में है। अन्य आठ हाथों में खड्ग, पद्म, त्रिशूल, चक्र, कपाल, अंकुश, पाश, पुस्तक और अमृतघट हैं।

भैरवी के दायें-बायें नृत्य-मुद्रा में गणेश और शिव हैं। कला की दृष्टि से स्वच्छन्द भैरवी पहाड़ी मूर्तिकला की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

कोठी का भैरव –किन्नौर के अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, कोठी, में देवी के मन्दिर के पास ही दस भुज भैरव की तीन फुट लम्बी मूर्ति है। भैरव की दस भुजाओं में स्वच्छन्द भैरवी के समान खड्ग, शूल, धनुष, चक्र आदि हैं। दाहिनी ओर की भुजा वरद हस्त मुद्रा में है ।

कोठी देवी के मन्दिर में हर गौरी, सरस्वती की चार लकड़ी और 17 पत्थर की मूर्तियां हैं। अनुमान है कि ये सभी मूर्तियां दसवीं शताब्दी की हैं।

चित्रकला

सार्वभौमिकता—भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय हिमाचल प्रदेश ने जोड़ा है। विश्व के प्रमुख संग्रहालयों में भारतीय चित्रों को प्राप्त करने की होड़ हिमाचली चित्रों की देन है, और देश-विदेश के कलाप्रेमियों के मन में अपने

प्रति तीव्र उत्कंठा और गहन श्रद्धा जागृत करने का सौभाग्य इन्हीं चित्रों को प्राप्त है।

इस प्रदेश के चित्रों में कला की सार्वभौमिकता मुखरित हुई है। इनमें भारतीय आत्मा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इनका प्रकृति-चित्रण अनूठा है, और रूप-चित्रण सजीव है। प्रेम का जैसा अपूर्व, अलौकिक और भावपूर्ण निरूपण इन चित्रों में हुआ है, वैसा शायद ही किसी अन्य कलाशैली में हुआ हो। इनकी लयात्मकता में ब्रह्मांड की गति की प्रतिध्वनि है। इन चित्रों में देश का वर्तमान और अतीत दोनों हैं, परन्तु साथ में ये देशातीत भी हैं। प्रेम किसी एक जाति, वर्ग, समाज या देश की एकान्तिक थाती नहीं है, उस पर किसी समुदाय-विशेष का एकाधिकार नहीं है। अत: प्रेम को अंकित करने वाले ये चित्र भी समस्त मानव समाज की सम्पत्ति हैं।

इन चित्रों में समाज प्रतिविम्बित है, संस्कृति गुंफित है। इनके द्वारा पहाड़ी सभ्यता बोलती है। ये चित्र प्रदेश की धार्मिक मान्यताओं की झांकी प्रस्तुत करते हैं और यहां के राजनीतिक उत्कर्ष की कथा कहते हैं।

'की' चित्र—स्वयं इन चित्रों की अपनी कथा भी कम रोचक नहीं। ईसा से दो शताब्दियों पूर्व जिस कला का हमारे देश में समारम्भ हुआ, और जो गुप्तकालीन स्वर्ण युग में अजन्ता और अलोरा तथा बाघ की गुफाओं में हिमाचल जैसी ऊंचाई को छू गई थीं, हिमाचल प्रदेश की कला उसी की सहोदरा है, उसी की जाया है। अजन्ता और बाघ की गुफाओं को जिन कलाकारों ने अमरत्व प्रदान किया, और जिनके वंशजों तथा उत्तराधिकारियों ने अलोरा के विश्वविख्यात चित्रों को अंकित किया, उन्हीं के भाई-वन्दों ने हिमाचल के सीमान्त में 'की' विहार की भीतियों को चित्रित किया है।

स्पिति के इस बौद्ध मठ की भीतियां बौद्ध सत्त्व नारसंग, महात्मा बुद्ध के जीवन तथा जातक की अन्य कथाओं पर आधारित चित्रों से भरी हैं। चौकठे के बाद चौकठे कला-सौष्ठव के इन मनोहारी उदाहरणों से अंकित हैं। उनमें देवी-देवताओं की भी आकृतियां हैं, जिनमें तारादेवी और दुर्गा उल्लेखनीय हैं। एक ओर तो 30 फुट ऊंची और लगभग 40 फुट लम्बी भीति में एक ही चित्र है, जो आज भी अपनी चमक अक्षुण्ण बनाए है। दुर्भाग्यवश, इनमें से बहुत-से चित्रों को स्वतंत्रता के उपरान्त स्पिति में स्थित कला से अनभिज्ञ एक सरकारी कर्मचारी ने किसी अनाड़ी चित्रकार से पुन: रंग भरवा कर प्राय: नष्ट कर दिया है। न मूल रंगों का ध्यान रखा गया है न रेखाओं की गहनता का ही।

जो कुछ थोड़े से चित्र, इस चितेरे के हाथों से अपनी रक्षा कर पाये और अपने मौलिक स्वरूप को बनाए रखे, उनके देखने से ज्ञात होता है, कि इनमें एक विचित्र-सा गौरव, एक अनूठी भारतुल्यता और कुछ-कुछ अलगाव-सा है। सभी चित्रों में रेखा का सुन्दर प्रयोग हुआ है। शैली में निपुणता है। रंगों में चमकीलेपन और सन्तुलन का आग्रह दिखाई देता है। भारतीय शैली के इन चित्रों पर तांत्रिकता का प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

चित्रों पर तांत्रिक प्रभाव का होना स्वाभाविक ही है। जब स्पिति, लद्दाख तथा तिब्बत में बौद्धमत का प्रसार हुआ,तब वह अपनी जन्मभूमि में तान्त्रिक बाना ओढ़ चुका था। बौद्धमत का महान् प्रचारक, पद्मसंभव स्वयं तांत्रिक मत का प्रकांड विद्वान था। नालंदा विश्वविद्यालय के महान आचार्य, शान्तरक्षित ने तिब्बत के सम्राट ख्री-रोन्-ल्ये-सन (755-797) को तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए तांत्रिक विद्या के अधि-कारी होने के कारण पद्मसंभव को निमंत्रण देने के लिए प्रेरित किया था।

परम्परा यह मानती है कि उन्होंने ही स्पिति, लाहुल और लद्दाख में बौद्ध धर्म की स्थापना की थी। यही कारण है कि भारत के इन सीमान्त क्षेत्रों के बौद्धों के लिए मंडी में रिवालसर का पद्मसंभव का मन्दिर तीर्थस्थान है। 'की' विहार के लामा का कहना है कि दसवीं शताब्दी के लगभग भारतीय चित्रकारों ने इन चित्रों का अंकन किया था। चित्रों के नव परिमार्जित स्वरूप के कारण इस दावे पर स्पष्ट मत व्यक्त करना कठिन हो गया है। खेद यह है कि भारतीय संस्कृति की इस अनमोल थाती की ओर कलापारखियों का ध्यान समय रहते नहीं गया।

किन्तु हिमाचल की चित्रकला को ऊंचे आसन पर बिठाने का श्रेय इन चित्रों को नहीं है। इसके लिए 'की' से लगभग छः शताब्दियों के उपरान्त कलाक्षेत्र में एक नवजागरण की लहर आई, जो 17वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक समूचे प्रदेश को उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक आप्लावित करती रही है। इस नव-जागरण की विविध चित्रशैलियों का नाम ही समग्र रूप में पहाड़ी कला, कांगड़ा कला अथवा हिमाचल कला है।

लोककला—यहां ध्यान देने वाली यह बात है कि 'की' और इस नवजागरण के बीच के वर्ष ऊसर नहीं थे, उनमें कला विलुप्त नहीं हो गई थी। वह तो कला एवं मूर्तिकला के रूप में पनपती रही। भीतिचित्र और चम्बा जैसे क्षेत्रों की निजी रूमाल-चित्र शैली, तथा किन्नर और कुल्लू की पट्टु और चादरों पर चित्रकारी इस कला के प्रवाह के उदाहरण हैं। हुआ यह कि 17वीं शताब्दी के मध्य में इस लोककला को उपयुक्त वातावरण मिला, नये चित्रकार उपलब्ध हुए, नई शैली से इसका साक्षात्कार हुआ और राज्य प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इन साजगार हालात में यह कला खिल उठी और विकास की सभी संभावनाओं का लाभ उठा विश्व कला क्षेत्र में अपने लिए विशिष्ट स्थान बना पाई।

नवजागरण—प्रश्न यह उठता है कि वे परिस्थितियां क्या थीं, जिनके कारण कला में यह नवजागरण आया? सबसे बड़ा कारण मुगल साम्राज्य का पतन था। मुगल दरबार की कमजोरी पहाड़ी कला के लिए वरदान सिद्ध हुई। किसी भी कला के लिए सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व शान्त वातावरण है। वातावरण थोड़ा-सा भी अशान्त और आक्रान्त हुआ, कि फलती-फूलती कला कुम्हलाने लगती है। 17वीं-18वीं शताब्दियों में देश में एक प्रकार से अराजकता थी। केन्द्रीय सत्ता अपना अधिकारी खो बैठी थी। मुगल साम्राज्य समाप्तप्राय था। सन् 1739 में नादिरशाह के आक्रमण

से दिल्ली त्रस्त थी। उसके पश्चात् अहमशाह अब्दाली ने मुगलों की शक्ति को जर्जरित कर दिया था। पंजाब अब्दाली के अधिकार-क्षेत्र में था। पूर्व और दक्षिण के सूबे केन्द्रीय सत्ता की पहुंच से बाहर हो रहे थे। मरहठा शक्ति दिल्ली तक प्रभाव जमा चुकी थी। आगरा और दिल्ली में अकबर के काल से चले आए कलाकार वर्ग को राज्य-प्रश्रय मिलना कठिन हो गया। कलाकार एक प्रकार से अपने आप को निरा-धार और असुरक्षित महसूस करने लगे। वे शान्त वातावरण और आश्रयदाताओं की खोज में थे।

पहाड़ी राजाओं का मुगलों के साथ गहरा सम्पर्क था। गुलेर जैसे राज्य तो मुगल सीमा पर स्थित थे। ये राजा इन चित्रकारों और उनकी कला से परिचित थे। उनमें मुगलों से स्पर्धा करने की चाह भी थी। दोनों ने उपयुक्त अवसर पाया। चित्रकार आगरा और दिल्ली छोड़ शिवालिक और हिमालय की गोद में आ गए। यहां आकर उन्हें सुरक्षा मिली, प्रश्रय मिला, अपने अभिभावकों और प्रश्रयदाताओं से व्यक्तिगत दैनिक सम्पर्क का अवसर मिला और हिमालय का नयनाभिराम प्राकृतिक सौन्दर्य तथा अद्वितीय पहाड़ी मानवी रूप मिले।

इसके अतिरिक्त, इन चित्रकारों को लगभग एक सौ वर्षों बाद अपनी कला की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता मिली। मुगल दरबार में मुस्लिम धर्म के प्रतिबन्ध के कारण तथा औरंगजेब जैसे कलाद्वेषी शासकों की संकुचित नीतियों के कारण वे कुछ घुटे-घुटे महसूस कर रहे थे। इनका कलाक्षेत्र भी सीमित-सा हो गया था। ये रूप चित्र तथा पुष्प, पशु और पक्षियों का अंकन ही प्रायः कर पाते थे। सहजातीय संरक्षण मिलने से यह रोक दूर हुई और ये कलाकार खुलकर अपने साहित्य, धर्म और संस्कृति को आधार बना चित्र बनाने लगे।

उत्तरी भारत में साहित्य का भक्ति-काल समाप्त होकर रीति-काल परिवर्तित हो रहा था। परंतु 12वीं शताब्दी से चले आते वैष्णव आन्दोलन का अन्त नहीं हुआ था। हां, उसमें आराध्य राम और विशेषतः कृष्ण साधारण मानवीय रूप में परिवर्तित हुए जा रहे थे। साहित्यकार और कलाकार, कवि और चितेरे इस आन्दोलन से प्रभावित थे। कवि तो अपने भावों की अभिव्यक्ति कर पाते थे, किन्तु चित्रकार नहीं। चित्रकारों को पहाड़ी राज्यों में आकर ही उपयुक्त अवसर मिला।

इन राज्यों में परम्परा से चली आई लोककला के द्वारा मुख्यतः देवी-देवताओं को ही अंकित किया जाता था। यह बात भीतिचित्रों, रूमालों, चोलियों, पंखों आदि पर की जाने वाली कशीदाकारी से सिद्ध हो जाती है। अतः लोककला ने पहले ही उपयुक्त भूमि तैयार कर रखी थी, जो वैष्णव साहित्य और रीतिकालीन श्रृंगारिक कथावस्तु के सम्मिश्रण से नये रूप में वेगवती धारा के रूप में प्रवाहित हो गई।

अठाहरवीं शताब्दी पहाड़ी राजाओं के लिए आशा का काल था। त्रिगर्त का प्राचीन राज्य एक बार अपनी ऐतिहासिक भूमिका निभाने के स्वप्न देख रहा था। समूचे समाज में आगे बढ़ने का उत्साह था, अपने आप पर विश्वास था। मुगल सेना

में उच्चपदों पर आसीन होकर, मध्य एशिया जैसे क्षेत्रों पर विजय पाकर, यहां का शासक वर्ग अपनी शक्ति पहचान चुका था। सन् 1758 में अहमदशाह दुर्रानी, कांगड़ा के महाराजा संसारचन्द के पितामह महाराजा घमंडचन्द को जालन्धर दोआब का गवर्नर नियुक्त कर गया था। इस घटना ने कटोचों के मन की चिर-संचित अभिलाषा को प्रोत्साहन दिया। वे अनुभव करने लगे कि एक बार पुनः खोया हुआ जालन्धर दोआब त्रिगर्त राज्य का भाग बन जाएगा। इस ऐतिहासिक स्वप्न ने कांगड़ा राज्य को विद्युत् की तरह झंकृत कर दिया। सन् 1786 में राजा संसारचन्द सिख सरदार जयसिंह से पहाड़ों में शक्ति के प्रतीक, दुर्जेय कांगड़ा किला को वापिस लेने में सफल हो चुका था। संसारचन्द की शक्ति बढ़ रही थी, सारा पहाड़ी प्रदेश उसके प्रभावाधीन था। इस प्रकार की उत्साहवर्धक परिस्थितियां ही वस्तुतः उच्च कला की जन्मदात्री हैं, अतः आश्चर्य नहीं कि इस काल में उत्कृष्टतम कृतियां सामने आईं।

विभिन्न केन्द्र—दो सौ वर्षों के लम्बे काल में हिमाचल प्रदेश में चित्रकला के लगभग 40 केन्द्र रहे। हम यह कह सकते हैं कि इस भूखंड में जितने राज्य थे, उनकी राजधानियां सामान्यतः कला के विकास की मुख्य स्थली थीं। उल्लेखनीय केन्द्र गुलेर, हरिपुर, कांगड़ा, नूरपुर, नादौन, टीरा सुजानपुर, आलमपुर, चम्बा, मंडी, सुकेत, कुल्लू, विलासपुर, अर्की सिरमौर और रामपुर बुशैहर थे। इस सम्बन्ध में यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक केन्द्र में चितेरों का पृथक् वर्ग था, उनका अपना-अपना घराना था, या चित्रकार एक राज्य के कमजोर हो जाने से, राजाश्रय समाप्त हो जाने से दूसरे राज्य में गए। स्थिति यह लगती है कि बड़े-बड़े केन्द्रों में चित्रकारों के अपने वर्ग, अपने घराने भी रहे और अन्य स्थानों से वे एक दूसरे राज्य में भी जाकर बसे। चित्रकारों का कई पुश्तों तक सक्रिय घराना पंडित सेओ का था। पंडित सेओ मैदान से आकर बसोहली के निकट जसरोटा में आकर बसा था। इस वंश का सेओ-पुत्र नैनसुख तो वहां रहा, किन्तु उसका पुत्र निक्का गुलेर आ गया। यहां इसी परिवार के अन्य चितेरे कामा, मानक अथवा मानकू, जौहरू और रामलाल हुए। महाराजा संसारचन्द के कतिपय चित्रकार खुशाला, कुशनलाल, वसिया, फत्तु और पुरखु थे। पुरखु निपुण कलाकार था और बसिया सिद्धहस्त चितेरा। वसिया का प्रपौत्र लक्ष्मण-दास इस शताब्दी के तीसरे दशक तक भी जीवित था। सिमलोटी में एक अन्य चित्रकार गुलाबूराम हाल तक चित्र बनाता रहा। पद्मु और दोखू नाम के दो अन्य चितेरों का नाम कांगड़ा दरबार से सम्बन्धित है। चम्बा में दुर्गा, कुल्लू में सजनू और भगवान, नूरपुर में गोलमंडी में गाहिया नरोत्तम, मोतीराम राजड़ा और मुहम्मदी के नाम विख्यात हैं। साधारणतया, ये चित्रकार त्रखाण कहलाते थे। इनमें ब्राह्मण, राजपूत, हिन्दू, मुसलमान सभी थे।

गुलेर और कांगड़ा—उपर्युक्त केन्द्रों में भी शैली के दृष्टिकोण से गुलेर और कांगड़ा का स्थान सर्वोपरि है। वस्तुतः हिमाचली कला का नवजागरण गुलेर से ही आरम्भ हुआ। गुलेर कलम का प्रथम चित्र 17वीं शताब्दी का मध्य का मिलता है।

इस कलम ने राजा दलीपसिंह (1695-1730), राजा गोवर्धनसिंह (1730-1773) और राजा प्रकाशसिंह (1773-1790) के राज्यकाल में बड़ा विकास किया। गुलेर कलम की विशेषता आकृतियों का लालित्य और सुकुमारता है। सन् 1765 ई० के लगभग अंकित 'प्रेम विवाद' और समकालीन 'बाज़वाली रमणी' इस कलम के उत्तम उदाहरण हैं। गुलेर के चित्रों के विषय मुख्यतः रामायण और महाभारत की घटनाएं, राजा और उनके दरबार हैं, परन्तु कृतियों पर मुगल-प्रभाव स्पष्ट है। समय बीतने पर यह प्रभाव कम होता गया है और अपने सर्वोच्च निखार पर गुलेर शैली कांगड़ा शैली के रूप में उभरी है।

कांगड़ा कलम का स्वर्ण युग यद्यपि संसारचन्द के शासन-काल के सन् 1775 से 1810 ई० के वर्ष हैं, किन्तु कला को उसके तीन पूर्वजों, हमीरचन्द (1700-47), अभयचंद (1747-50) और घमंडचन्द (1751-74) ने भी पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। सन् 1800 ई० के आसपास के 'ग्रीष्म स्नान', 'प्रेमज्वर' आदि चित्र इस कलम के उत्कृष्ट नमूनों में से हैं।

माध्यम—हिमाचल की चित्रकला तीन माध्यमों द्वारा अभिव्यक्त हुई है। ये माध्यम हैं :

(1) लघु चित्र,
(2) भीति-चित्र, तथा
(3) रूमाल, पट्टु, चादरों आदि पर कशीदाकारी या चित्रकारी।

लघु चित्र—भूरे रंग के सियालकोटी कागजों पर बने लघु चित्र ही वस्तुतः हिमाचली कला के प्रतिनिधि हैं। हजारों की संख्या में अंकित ये चित्र रूप-चित्रण, मुद्रा-अभिव्यक्ति, भावों की सम्पन्नता, स्निग्ध सौम्य, प्रकृति-चित्रण और रंगों एवं रेखाओं के सफल निर्वाह के लिए प्रख्यात हैं। इन्हें देखने वालों के शरीर में एक थिरकन-सी उत्पन्न होती है, मन को सुख मिलता है। नेत्र चाहते हैं कि देखते ही रहें। ये चित्र आह्लाद के मूर्त रूप हैं। इनमें स्वप्निलता और मादकता है।

इनमें अंकित विषयों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जीवन का शायद ही कोई पक्ष हो, जो अछूता रह गया हो। चाहे धार्मिक मान्यतायें हों या दरबार का जीवन, दिनचर्या हो या साहित्य, युद्ध हो या प्रणय-प्रसंग, पूजा-पाठ हो या आखेट, सभी का चित्रण हुआ है। प्रकृति सभी रंगों में चित्रित है। वनस्पती है, वनस्पतियां हैं, वृक्ष, लता, पुष्प, विस्तृत भूखंड, नीला दीप्त या मेघाच्छादित आकाश, काले-सफेद, कड़कते बादल-तड़पती बिजली, रिमझिम फुहार और शान्त-मौन तारांकित रात्रि या झंझावात, इन चित्रों में किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं।

विषय वस्तु—विषय वस्तु के आधार पर, सुविधा के लिए हम इन चित्रों का इस प्रकार विभाजन कर सकते हैं—

(1) धार्मिक और पौराणिक,

(2) ऐतिहासिक,
(3) श्रृंगारिक,
(4) राग माला सम्बन्धी, और
(5) लोक जीवन पर आधारित।

रामायण, महाभारत, जातक, भागवत, विष्णु और शिव पुराण ग्रन्थों के रोचक प्रसंगों पर सहस्त्रों चित्र बनाए गए हैं। नल-दमयन्ती, सत्यवान-सावित्री के उपाख्यानों को भी हम धार्मिक और पौराणिक वर्ग के अन्दर रख सकते हैं। एक वाक्य में कहें, तो वैष्णव, शैव, शाक्त और बौद्ध सभी प्राचीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करने वाले चित्र बहुत बड़ी संख्या में हैं। ऐतिहासिक चित्र मुख्यतः चित्रकारों के आश्रयदाता नरेशों, उनके दरबारियों के रूप चित्र हैं। दरबारों की अन्य घटनायें भी इन्हीं में सम्मिलित हैं। सिख गुरुओं के रूप चित्र भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। राग माला के चित्र पृथक् वर्ग बनाते हैं। इसी प्रकार पनिहारिन, ब्रह्मभोज, चौसरखेल, नृत्य जैसे लौकिक विषय और हमीर हठ, विक्रम बेताल चरित्र, माधवानल-कामकन्दला और सोनी-महीवाल जैसी लोक गाथाओं का अलग भेद है।

श्रृंगार ऐसा विषय है, जिससे समूची हिमाचली कला ओतप्रोत है। जयदेव-कृत 'गीत गोविन्द' जैसे वैष्णव साहित्य के ग्रन्थ, केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' तथा बिहारी की 'सतसई' सरीखे रीतिकालीन काव्य, बारहमासा, कृष्णलीला और रासलीला को मूर्त रूप देने का श्रेय इसी कला को है। पहाड़ी चित्रकार का मन राधा और कृष्ण के चित्रण में लगा। भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण का बाल्य-जीवन और यौवन इन्हें प्यारा था।

केन्द्र बिन्दु नारी—सच तो यह है कि नारी और उसका प्रेम हिमाचली कला का केन्द्र बिन्दु है। स्त्रियों की आकृतियों के रेखांकन में प्रवाह है, लय है। रेखाओं से एक अनिर्वचनीय सन्तुलन और लयात्मकता का सृजन किया गया है। उजले रंग और बारीक रेखाओं से चित्रकार ने नारी की सुकुमार आकृति में अपार सुषमा, शरीर में लावण्य और मुख पर विशिष्ट कांति भर दी है।

लगभग दो शताब्दियों तक यहां का चित्रकार नारी को चित्रित करता रहा। परिणामतः उसका जो स्वरूप निखरा है वह अद्वितीय है। अत्यन्त श्रेष्ठ इक्के-दुक्के स्त्री-चित्र हर कहीं बने होंगे। 'मोना लिसा' और 'वर्जिन' मेरी जैसी महान कृतियां कई चितेरे बना पाए हैं, किन्तु स्त्री-शरीर का ऐसा लयात्मक, गीतात्मक, कलात्मक रूप और उसका सामूहिक सृजन अन्य कलाशैलियों में कम ही होगा।

रीतिकाल के कवियों की तरह इन त्रखानों ने नारी के अंग-प्रत्यंग और नख-शिख का चित्रण किया। उसका जो आठों पहर और बारह महीने का जीवन है, उसी के ताने-बाने से इन्होंने अपना पट बनाया है। पुरुषों को, यहां तक कि स्वयं कृष्ण को, कई बार केवल पृष्ठभूमि के लिए, या राधा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए अंकित किया गया है।

यदि इन चित्रों से कृष्ण की आकृति हटा दी जाए, तो भी चित्र के सौन्दर्य में अधिक अन्तर नहीं आएगा। हां, यदि राधा को निकाल लिया जाए, तो सम्पूर्ण चित्र अपनी सार्थकता खो बैठेगा।

कृष्ण—स्पष्ट है कि पहाड़ी चितेरों ने कृष्ण की कल्पना विशुद्ध मानवीय परिवेश में की है। उन्हें गीत गोविन्द में वर्णित कृष्ण के प्रेमाचार को चित्रित करना ही प्रिय लगा। कृष्ण एक मानव है, प्रेमी है। वह मात्र नायक है। राधिका ने भी नायिका का रूप ले लिया है। इस प्रकार वैष्णवों के आराध्य राधा-कृष्ण, जिनका गान करते-करते अन्धा सूरदास भक्ति भाव से आत्मविभोर हो उठता था, श्रृंगार की विविध चरणों, पूर्वराग, मिलन, संभोग, विरह और भाव-सम्मिलन के स्पष्टीकरण के केवल माध्यम बन गए। प्रत्येक नायक कृष्ण बन गया और प्रत्येक नायिका राधा। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति का स्थान कामुकता ने ले लिया है और राधा-कृष्ण मानवीय प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति के साधन बन गए हैं। संभवत: इसका मुख्य कारण समाज का सामंती स्वरूप है। ऐसा लगता है कि उस समय सम्पूर्ण समाज अपने दायित्व को भूलकर श्रृंगार में डूबा रंगरलियां मना रहा हो। प्रेम के चित्रण के लिए पहाड़ी चित्रकारों ने लाल रंग को चुना है।

अपने समग्र रूप में 18वीं शताब्दी की भारतीय कला का प्रतिनिधित्व हिमाचली कलम ही करती है। यदि अजन्ता भारतीय कला का स्रोत है, तो हिमाचली कला ने न केवल उसे पुष्ट किया, अपितु सरस्वती की भांति भूगर्भस्थ हो उसका संरक्षण भी किया है। इस कला के द्वारा भारतीय दर्शन मुखरित हुआ है।

भीति चित्र—'की' गोम्पा के भीति चित्रों की तरह दीवार पर चित्र बनाने की एक वेगवती लहर 18वीं और 19वीं शताब्दियों में इस प्रदेश में आई। फलस्वरूप रंगमहलों, शीशमहलों, राजा के निवास भवनों और मंदिरों की भीतियों पर अत्यन्त सुन्दर और सजीव चित्र बनाए गए। इन चित्रों का मुख्य विषय धार्मिक है और जिस प्रकार लघु चित्रों की एक बड़ी संख्या में राधा और कृष्ण नायिक-नायिका बन कर रह गए, वह स्थिति इनमें नहीं है। प्रतीत होता है कि इनके चितेरे विशुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित थे।

भीति चित्र हमें चंबा के रंगमहल, अखंड चंडी भवन और लक्ष्मीनारायण मन्दिर, नदौन और टीरा सुजानपुर के मन्दिर, विशेषत: गौरी-शंकर का संसारचन्देश्वर मन्दिर, कृष्ण मन्दिर और नवर्देश्वर मन्दिर, डाडासिबा के पुराने महल, कुल्लू और रामपुर के शीशमहल, मंडी में दमदमा भवन और कामेश्वर शिवालय तथा अर्की में दीवानखाने में बड़ी संख्या में मिलते हैं।

वैष्णव विषय वस्तु तो प्रमुख है, शिव और शक्ति के भी बड़े आकर्षक चित्र बने हैं। मार्कंडेय पुराण के चंडी पर्व के आधार दुर्गा के अनेक चित्र बने हैं। इसके अतिरिक्त चंडिका, महिषासुर मर्दिनी, कौशिकी, लक्ष्मी, सरस्वती और अंबिका भी चित्रित हैं। कुल्लू में 'त्रिपुरा सुन्दरी का स्वर्ग' भीति चित्र पहाड़ के देवी चित्रों में

सुन्दरतम है। चम्बा के रंगमहल के भीति चित्र या तो स्थानीय भूरीसिंह संग्रहालय में हैं, या राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में रखा गया है।

इन चित्रों में गेरुआ रंग अनुराग और आसक्ति, काला बुराई, सफेद शांति, पीला आह्लाद और नारंगी रंग आस्था और विश्वास के लिए प्रयुक्त हुआ है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, कई कलाविदों का यह कहना है कि भीति चित्रों की हजारों वर्षों की पुरानी परंपरा थी, और अनेक लघुचित्र इन्हीं भीति चित्रों की प्रतिलिपि हैं।

रूमाल—नवजागरण ने समूचे समाज को प्रभावित किया था। पुरुषों ने कलम और ब्रुश पकड़ा, कागजों और दीवारों पर सैकड़ों-हजारों चित्र बना, अपने भावों को व्यक्त किया, अपने स्वप्न साकार बनाए। स्त्रियों ने भी कला के सृजन में हाथ बटाया। उन्होंने सूई-धागा लेकर, रेशमी, सूती, ऊनी और पशमीने वस्त्रों पर कशीदाकारी की। वस्त्रों की साजसज्जा बढ़ाने के लिए उन्होंने वही विषय चुने, जिनका चित्रण पुरुष वर्ग कर रहा था।

इन वस्त्रों में सर्वाधिक प्रयोग रूमालों का हुआ है। और चम्बा में तो वे इस कदर बने, कि चित्रकला की इस शैली का नाम ही चम्बा रूमाल पड़ गया। वैसे रूमालों पर कशीदाकारी चम्बा के अलावा कांगड़ा, मंडी, बिलासपुर और कुल्लू में भी होती थी। यह अवश्य है कि अन्य स्थानों पर रूमालों का प्रचलन समाप्त हो गया है, किन्तु चम्बा में आज भी रूमालों पर सुन्दर कशीदा निकाला जाता है।

कपड़े का प्रयोग रूमालों के अतिरिक्त थापड़, कौहरा, गद्दियां, चोलियां, टोपियां, पंखे, चौपड़ और माला डालने की गौमुखी के लिए भी हुआ है।

'की' के मठ में रेशमी वस्त्रों पर बौद्ध जातकों तथा तिब्बती, लद्दाखी और स्पिति के लामामत के सिद्धान्तों पर आधारित अनेक चित्र आज भी प्राप्य हैं।

ह्रास—जिस प्रकार 17वीं शताब्दी में उत्तरी भारत की अव्यवस्था ने चित्रकारों को पहाड़ों में शरण लेने के लिए प्रेरित किया था, उसी प्रकार 19वीं शताब्दी में कांगड़ा तथा अन्य पहाड़ी राज्यों के दुर्दिनों के कारण कला के लिए वातावरण एकदम क्षुब्ध हो गया। कलाकार निराश्रय हो गए। उधर पंजाब में एक नयी शक्ति जन्म ले चुकी थी। महाराजा रणजीतसिंह एक समृद्ध, विशाल और शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर चुका था। उसने ही कांगड़ा के महाराजा संसारचन्द के स्वप्नों को धूलि में मिला दिया था। कलाकारों के लिए लाहौर दरबार का आकर्षण इतना बढ़ गया था कि वे उसे दबा न सके। यों भी दोहरी सत्ता—सिखों और गोरखों—से टकराने से पूर्व महाराजा संसार-चन्द पहाड़ी रियासतों को एक के बाद दूसरी को हड़प कर चुका था। उसी अनुपात से कलाकारों के आश्रयदाता कम हो गए थे। महाराजा संसारचंद का जादू उड़ चुका था। उसका वैभव क्षीण हो गया था। परिणाम यह कि कलाकार बड़ी संख्या में लाहौर दरबार चले गए, जहां उन्हें महाराजा रणजीतसिंह में नया समर्थ प्रश्रयदाता मिला।

स्वयं पहाड़ी क्षेत्र पहले सिखों और बाद में अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया।

कांगड़ा के बचे-खुचे चितेरे उन रियासतों में चले गए जहां के शासक अभी तक अपनी गद्दियों पर बने हुए थे।

पहाड़ी कला की बलवती धारा के शुष्क हो जाने का एक कारण सन् 1905 का कांगड़ा भूचाल भी बना। इस भूकम्प में हजारों चित्र नष्ट हुए, अनेक कलाकार मारे गए, जानमाल का बहुत नुकसान हुआ। गोरखों की लूटमार, सिखों के तानाशाही शासन और अंग्रेजों के आधिपत्य से मृतप्राय कला-परम्परा को इस भूचाल ने ऐसा धक्का दिया, कि वह विलुप्त ही हो गई।

मेले

मेले इस प्रदेश के जन-प्राण में हैं, वे जीवन के अभिन्न अंग हैं। इन्हीं अवसरों पर हिमाचलियों का नृत्य-संगीत-प्रेम मुख्यत: सामने आता है। यदि मेले न हों तो यहां का जीवन नितान्त शुष्क और नीरस हो जाएगा।

कठिन भौगोलिक परिस्थितियों में जीवन बिताने वाले लोगों के मनोरंजन के साधन ये मेले हैं। इन मेलों के अवसर पर ही वे जीवन की कठिनाइयों, प्रकृति के आकस्मिक प्रकोप तथा दुख को भूल कर नाच-गाने में अपने आपको खो देते हैं। इससे वे आने वाले संघर्षों का सामना करने के लिए नवशक्ति का सृजन करते हैं।

इन मेलों की सामान्यत: कोई निश्चित अवधि नहीं। कोई मेले केवल एक दिन अथवा एक रात में ही समाप्त हो जाते हैं तो किन्नर प्रदेश का ऊक्‌योग एवं मंडी की शिवरात्रि 8-9 दिन, चम्बा का मिंजर 10 दिन, किन्नर का सुस्कर उत्सव और चच्योट का कुटोहच 15-15 दिनों तक चलता रहता है और चम्बा की चम्पावती जातर तो पूरे 23 दिनों की होती है। हां इन मेलों के मनाए जाने की तिथि निश्चित होती है। तिथि की गणना प्राय: विक्रमी सम्वत् के आधार पर की जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये मेले साधारणतया फसल के आरंभ से पूर्व तथा फसल की कटाई के उपरान्त होते हैं। किन्तु हिमाचल प्रदेश की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि एक स्थान पर फसली कार्य यदि समाप्त हो जाए, तो अन्यत्र उसे आरंभ होने में सप्ताह भर की भी देर होती है। इसी प्रकार यदि कहीं दो-दो फसलें वर्ष में होती हैं, तो ऐसे स्थानों की भी कमी नहीं, जहां केवल एक ही फसल हो सकती है। परिणाम यह कि वर्ष के 365 दिनों में प्रतिदिन किसी न किसी ग्राम में कोई न कोई मेला होता रहता है। अत: हम यह नि:संकोच कह सकते हैं कि इस प्रदेश में संगीत की स्वरलहरी, वाद्ययंत्रों की धुन और नर्तक की पदचाप कभी बन्द नहीं होती है। दूसरी विशेष बात यह कि अधिकांश मेलों में देवी-देवता भी उपस्थित होते हैं।

इन मेलों में इतिहास और पुराण हैं, यहां के देवी-देवता, मन्दिर, मस्जिद का वर्णन है, नृत्य-संगीत, हर्ष-उल्लास, हास्य-विनोद, पूजा-अर्चना की झंकार है। सामाजिक मेल-मिलाप के ये सर्वसुलभ अवसर हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रत्येक हिमाचली इन मेलों में भाग लेने के लिए लालायित रहता है।

चम्बा की युवती यदि अपनी माता से अनुरोध करती है कि :

आया बसोआ माये, सूहियां लगियां,
कुड़ियां अड़ियां पांदीयां हो,
लेई देयां अम्मां मोचड़े,
ओ मैं सूहियां देखण जाणा हो।

तो पांगी की कन्या नाग देवता से केवल यह वर मांगती है कि वह फूल जातर देखने जा सके।

कांगड़ा का एक स्वर यह कहते सुनाई देता है :

फूली सरसों, ओ मोया फूली सरसों,
होलियां दे मेले जो फूली सरसों,
ओ मोया, होलियां दे मेले जाणा परसों,
हत्थ गहणे, मोया हत्थ गहणे,
होलियां दे मेले जो दो ही जणे।

कि होली के मेले में सम्मिलित होने के लिए हाथ में गहने डालने होंगे। तो दूसरा अपने जमादार पति से अनुरोध करता है कि :

सुनियार सुने दीयां लरजां जिन्दे,
गोरी रोई रोई करदी अरजां जिन्दे,
मेले चल जमेदारा।

उधर कुल्लू-महासू की एक नारी को यह खेद है कि :

खौरे दपौहरे नाणी आई कापड़े धोई,
लाला खाई माखीए, जातरे शौका खोई।

कड़कड़ाती धूप में कपड़े धो-धुला कर साफ किए। खेद, पनघट से लौटती बार, मधु-लोलुप भ्रमर ने डंक मार दिया, आंखें सूज गईं, अतः मेला देखने से वंचित रहना पड़ा।

किन्तु मेले में सम्मिलित होने का चाव इतनी आसानी से तो मिटता नहीं, अतः

बांठिणों चाली जातरे, लोगो,
धोइया मूंठू, हारशू आगे,
भरवी छाती दी बटणो लागे
बांठिणों चाली जातरे, लोगो।

मेले मनोरंजन के साधन तो हैं ही, उनमें से कुछ एक से दोष-शमन, सामाजिक मान्यता और संतति तथा समृद्धि प्राप्ति भी वांछित होती है।

अनेक मेले हजारों वर्षों से निरन्तर चले आ रहे हैं, किन्तु काफी मेले ऐसे भी हैं,

जो आधुनिक काल की किसी घटना-विशेष के उपलक्ष्य में मनाए जाते हैं। 'दियाउड़ी' और 'काईका' मेले, संभवतः चार-पांच हजार वर्ष पुराने हैं, तो 'पन्द्रह अगस्त का मेला' 1947 से आरम्भ हुआ, जिसके द्वारा स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर आनन्द मनाया जाता है। गीतों के समान ही, ये मेले बनते और बिगड़ते भी रहे हैं। बनने-बिगड़ने का यह क्रम आज भी जारी है। कहीं कोई नया मेला चलता है, तो अन्यत्र कोई दूसरा मेला समाप्त हो रहा है। आज एक मेले को मान्यता है, तो कुछ वर्षों बाद अन्य मेला उसका स्थान ले लेता है। बहुधा त्यौहारों और उत्सवों ने भी मेले का रूप ले लिया है। मंडी की शिवरात्रि, कुल्लू का दुशैहरा और ज्वालामुखी के नवरात्रे इसी कोटि के हैं।

हिमाचल प्रदेश में मेले के लिए सामान्यतः जाच, जातर अथवा जात्रा शब्द का प्रयोग होता है। किसी गांव के नाम के साथ 'जातर' जोड़ देने से उस मेले का नामकरण हो जाता है। यह स्थिति केवल लौकिक एवं सामाजिक तथा किसी सीमा तक व्यापारिक मेलों की है। बहुत बड़ी संख्या ऐसे मेलों की भी है, जिनके नाम पौराणिक, ऐतिहासिक एवं परम्परित हैं। त्यौहारों से मेले बने नाम त्यौहारों पर ही हैं।

वर्गीकरण—इस प्रदेश के मेलों को मोटे रूप में चार भागों में बांटा जा सकता है :

(1) धार्मिक,
(2) सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक,
(3) व्यापार मेला, और
(4) लौकिक, सामाजिक।

(1) धार्मिक मेले—प्रयाग के कुम्भ, अर्द्ध कुम्भ आदि के समान, इस प्रदेश में कतिपय ऐसे मेले हैं जो निश्चित अवधि में पश्चात् होते हैं, जिनमें जग, भूंडा, गनेर, शोली का ठिरशु, जागरा, नचार की शान्द, मंडी में हुरंग का कैंका, उद्यापन आदि सम्मिलित हैं।

इन मेलों का विशेष महत्त्व इनके धार्मिक तत्त्व के कारण है। संगीत, नृत्य आदि का आयोजन एकत्रित भीड़ के मनोरंजन के लिए होता है। अधिक ध्यान धार्मिक पहलू, कर्मकांड, देवी-देवताओं की शास्त्र-विधि से पूजा, हवन तथा अन्य सम्बन्धित बातों पर दिया जाता है।

कुल्लू-महासू क्षेत्र का भूंडा, उद्यापन, किन्नर का शेरकन, मंडी का कैंका, कतिपय ऐसे मेले हैं, जिनमें नर-बलि का आभास मिलता है।

ये मेले निश्चित अवधि के पश्चात् होते हैं। उदाहरणार्थ, उद्यापन का विधान एक सौ वर्ष में एक बार होता है। यद्यपि रामपुर बुशैहर का अन्तिम उद्यापन यज्ञ लगभग 280 वर्षों के उपरान्त सन् 1904 में हुआ था।

भूंडा—भूंडा इसी प्रकार का यज्ञ है, जो सामान्यतः बारह वर्षों के उपरान्त हुआ करता था। इधर अब यह विशेष मेला अनेक वर्षों से नहीं हो रहा है। यह प्रयाग

के कुम्भ के साथ ही हुआ करता था। मूंडा मुख्यत: परशुराम से सम्बन्धित है, यद्यपि देवी अम्बिका के उपासक भी इस यज्ञ में विश्वास रखते हैं। कहीं-कहीं यह मेला शिव और काली के निमित्त भी होता है।

किसी आर्य देवता के उपलक्ष्य में, उसकी पूजा-अर्चना के लिए स्थान-स्थान पर यज्ञ हुआ करते हैं। ये यज्ञ ही 'जग' कहलाते हैं। सतलज के किनारे-किनारे ऐसे कतिपय ग्राम हैं जहां पर इन जगों का विशेष प्रचलन है। मंडी में काव और ममेल ग्राम शिमला के निरत और दत्त नगर तथा कुल्लू का निर्मंड इनमें प्रमुख हैं।

उद्यापन और भूंडा वैदिक कालीन गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध यज्ञों के ही परिवर्तित स्वरूप कहे जाते हैं। भूंडा को तो परम्परा से नरमेध यज्ञ ही जाना जाता रहा है, यद्यपि एक-दो स्थान पर इसका अश्वमेध यज्ञ होने का भी उल्लेख है।

समाज में प्रचलित किंवदंतियों के अनुसार जमदग्नि ऋषि किसी कारण पत्नी अम्बिका (रेणुका) से रुष्ट हो गए। उन्होंने पुत्र परशुराम को आज्ञा दी कि माता का वध करे। पिता का आदेश मान, परशुराम ने अम्बिका का सिर काट तो डाला, किन्तु मातृहत्या का पाप चढ़ा लिया। इस पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही, कहा जाता है, परशुराम ने इस महान् यज्ञ का आयोजन किया।

इसी प्रसंग में सिरमौर में रेणुका मेला परशुराम की मातृ-पितृभक्ति एवं प्रेम की स्मृति में मनाया जाता है। प्रतिवर्ष मनाया जाने वाला यह तीन दिन का मेला परशुराम को अपनी तपस्या सेनिवृत्त हो माता-पिता के चरण छूने रेणुका सरोवर ले आता है।

'जग' भूंडा की ही कड़ियां हैं। सामान्यत: मूंडा के तीन वर्ष पश्चात् भड़ोची, फिर वदपूर और नवें वर्ष शान्द नामक जग हुआ करते रहे।

जग, भूंडा, उद्यापन आदि जहां द्विजों के मेले हैं, ठीक उनकी ही प्रतिलिपि हरिजनों का 'जागरा' है। जागरा का मुख्य देवता विष्णु नरैण (नारायण) है।

(2) **सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा पौराणिक मेले**—जैसा हम देख चुके हैं, एक दृष्टि से तो सभी मेले धार्मिक एवं सांस्कृतिक होते हैं, सभी किसी न किसी देवता के सम्मान में मनाए जाते हैं, किन्तु दुशैहरा, दियाउड़ी (बूढ़ी दिवाली), गुग्गे के मेले, सूई, मिंजर, रेणुका, नवरात्रे, झंडा आदि मेलों में तुलनात्मक रूप से ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता का अधिक पुट है।

दुशैहरा, हमें इस प्रान्त में वैष्णव धर्म का आगमन बताता है, तो बूढ़ी दियाउड़ी आदिकाल में हुए नाग-खश-आर्य संघर्ष और रामायण-महाभारत के अनेक युद्धों का सजीव चित्रण करती है। शोली का ठिरशू, कुम्हार सेन तथा उससे संलग्न इलाकों के प्रागर्य अथवा आर्येत्तर राणा भंबूराय की स्मृति हमारे मस्तिष्क में उबार देता है। रेणुका का मेला परशुराम आख्यान का वृत्तान्त उपस्थित करता है, तो चम्बा का सूई मेला ऐतिहासिक राजा साहिल वर्मा की रानी द्वारा जन-कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग की कहानी को अमर बनाता है। और रथ-रथनी का मेला पौराणिक भस्मासुर वध

आख्यान को हमारे सामने लाता है। शिवरात्रि, चाहे मंडी की हो चाहे अन्यत्र, इस प्रदेश के शैव होने का स्पष्ट प्रमाण उपस्थित करती है। साथ में यहां की संस्कृति को एकदम अखिल भारतीय तथा प्रागैतिहासिक स्वरूप देती है। रिवालसर का सेचू मेला महान् भारतीय विद्वान पद्मसंभव के तिब्बत में बौद्धधर्म-प्रचार की ऐतिहासिक घटना की ओर इंगित करता है।

इसी प्रकार चम्बा का मिंजर मेला इस प्रदेश पर नाथ सम्प्रदाय के प्रभाव को स्पष्ट करता है। यह भी माना जाता है कि यह मेला 'वरुण देवता' की पूजा के निमित्त मनाया जाता है।

इनके अतिरिक्त और कई मेले हैं जो परम्परा पर आधारित होते हुए सप्राण संस्कृति के परिचायक हैं। इन मेलों में जहां एक ओर मनोरंजन के प्रचुर साधन हैं, वहां दूसरी ओर मन वरवस अतीत की घटनाओं के लेखे-जोखे में उलझ जाता है और उन भूली-बिसरी बातों को पुनः ताजा कर देता है। देश में आर्य संस्कृति के मुख्य केन्द्रों से कटे होने के कारण, ये मेले इस प्रदेश के लोगों का भावात्मक सम्बन्ध मैदानी भाइयों से जुटाते हैं। इसके अतिरिक्त उनके लिए वर्तमान को गत और आगत से जोड़ने वाली कड़ियों का भी काम करते हैं।

(3) **व्यापार मेले**—सभी मेलों में थोड़ा-बहुत व्यापार होता है, परन्तु रामपुर की लवी और बिलासपुर, मंडी और कांगड़ा जिलों के नलवाढ़ मेले विशुद्ध रूप से व्यापारिक हैं। इन मेलों में न तो कोई देवता आता है और न संगीत और नृत्य का ही आयोजन होता है।

एक समय में कुल्लू के दुशैहरे के समान ही रामपुर की लवी तिब्बत के साथ व्यापार का महत्त्वपूर्ण अवसर प्रदान करती थी, किन्तु जब से तिब्बत पर चीन ने अधिकार जमाया है. इस व्यापार में कमी आई है और तदनुरूप इस मेले का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व कम हुआ है। फिर भी व्यापारी वर्ग दिल्ली, हरियाणा, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक भाग से आकर अपना माल बेचते हैं, और यहां का माल खरीदते हैं। लवी में तीन ओर से माल आता है। किन्नर के व्यापारी पशम, ऊन, न्योजा, खुरमानियां, कड़ू, पतीश और गुदमे लाते हैं। कुल्लू तथा अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों से ऊनी वस्त्र, पट्टु, पट्टियां, पूर्णे, खेती-वाड़ी के लिए द्रान्त, द्रान्तियां, कुल्हाड़ियां आदि औजार लाते हैं। देश के मैदानी इलाकों से कांसे, पीतल और लोहे के बर्तन, सोने-चांदी के आभूषण आदि लाए जाते हैं। विनिमय के लिए यह मेला उपयुक्त है।

नलवाढ़ पशु-विक्रय का मेला है। विक्रेता हिसार, रोहतक, कांगड़ा, होशियारपुर एवं निकटवर्ती नालागढ़, रोपड़ आदि से सैकड़ों की संख्या में पशु लाते हैं। पशु खरीदने के लिए दूर-दूर से लोग इन मेलों में आते हैं।

(4) **लौकिक एवं सामाजिक मेले**—हिमाचल के अधिकांश मेले इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। इन मेलों का कोई विशेष धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा व्यापारिक महत्त्व नहीं, ये केवल मनोरंजन के साधन हैं। ये मेले 'मेला मेलियों का' वाली कहावत

को चरितार्थ करते हैं। इस श्रेणी में ग्राम मेले, जातर, जाच, शैरी, छिंज, आदि का आधिक्य है।

हां विशु, विर्शु, निर्शुग्राठिरशु ऐसा मेला है जिसमें सांस्कृतिक पक्ष भी कई स्थानों पर उभर कर सामने आ जाता है।

विशु—विशु अपने विभिन्न नामों में प्रायः सम्पूर्ण हिमालय क्षेत्र में चम्बा से लेकर सुदूर पूर्व आसाम तक मनाया जाता है। इसका कारण शायद यह हो कि यह मेला उस जाति का है जो कभी, किसी काल में इस समूचे भूखंड में आकर बसी हो। यह मुख्यतः वैशाख के पहले पखवाड़े में मनाया जाता है, पर कहीं-कहीं ज्येष्ठ और आषाढ़ में भी होता है।

सामान्यतः इस मेले में कई स्थानों पर स्वांग भी दिखाये जाते हैं। यद्यपि 'करयाला' स्वांगों का मुख्य क्षेत्र है। इन स्वांगों द्वारा समाज की दुष्कृतियों, मध्य-युगीन विभूतियों, लौकिक यथार्थताओं और दैनिक जीवन की झांकी उपस्थित की जाती है।

किन्नर प्रदेश में रिव्वा के स्थान पर विशु के अवसर पर राजा कंस की पूजा की जाती है, जो अपनी तरह का अनोखा उदाहरण है। यदि शैरी खरीफ फसल की कटाई से पूर्व का मेला है, तो विशु वसन्त का अभिनन्दन करता है।

'छिंज' शारीरिक बल की परीक्षा का मेला है। इस क्षेत्र की सैनिक परम्परा के अनुरूप छिंज मेले में कुश्तियों का आयोजन होता है, जो प्राचीनकाल के मल्लयुद्ध का स्मरण कराता है। यही कारण है कि डोगरों का क्षेत्र चम्बा, कांगड़ा, मंडी और बिलासपुर जिले मुख्यतः इस मेले के केन्द्र हैं।

फुलैच—भेड़-बकरियां पालने वालों का एक रोचक मेला है फुलैच, जिसे किन्नर-निवासी उख्यांग भी कहते हैं। प्राचीन युग के बहुचर्चित वसन्तोत्सव के समान ही यह पुष्पोत्सव भी है। साथ में अनेक स्थानों पर इसमें मृतक-पूजा, प्रकृति-पूजा एवं कालि-पूजा के तत्त्व भी आ गए हैं।

नृत्य

नृत्य हिमाचली मानव की रग-रग में है। कोई मेला हो, त्यौहार हो, अन्य शुभ अवसर हो, नृत्य के बिना निर्वाह नहीं है। फसली काम से निवृत्त हो गए हों और दूसरा विशेष कोई काम न हो, तो बेकार बैठने से लाभ क्या ? दो-चार मित्र इकट्ठे हुए और बुला लिया बाजगियों, डूमठों और बजंतरियों को, नृत्य आरम्भ हो गया। बाहर बर्फ गिरी है, इधर-उधर जाना कठिन है, खेत-खलियान दूर हैं, तो क्यों न इस सुअवसर से लाभ उठाया जाए और नृत्य का आयोजन किया जाए ? कोई त्यौहार है, पर्व है, मेला है और इसी प्रकार का कोई मंगल दिवस, सामूहिक नृत्य होना ही चाहिए। नृत्य होता है और कई बार तो घंटों ही बीत जाते हैं। यों भी वह नृत्य ही क्या, जो पांच-छः घंटों से पूर्व समाप्त हो जाए ?

संसार के अन्य प्रदेशों के समान, भारत में भी शास्त्रीय तथा लोक नृत्य, सनातन काल से मानव की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति और उल्लास के प्रकटीकरण का माध्यम रहा है। लगता है, इस देश में नृत्य का आरम्भ ही आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के रूप में हुआ है। साथ ही नृत्य मानव-मन की घुटित भावनाओं के प्रकटीकरण का भी तो एक मार्ग है। यह उल्लास, प्रसन्नता, आह्लाद और आनन्द की सजीव प्रतिमूर्ति है। वनों में रहने वाले आदि मानव ने, जो कला तथा जीवन की बारीकियों से अनभिज्ञ था, कोयल की मधुर कू-कू को सुना और देखा मयूर को नाचते हुए। उसने अनुभव किया कि समूची प्रकृति में ही एक संगीत है, एक सुमधुर लय है।

मानव ने प्रकृति के हर व्यापार में एक लय का अनुभव किया। अपने अवचेतन मन में उसने पशु-पक्षियों तथा पुष्पों की तालात्मक स्थिति को अनुभव किया। वृक्षों की झूमती हुई शाखाओं का अनुसरण उसने अपने बाजुओं और टांगों को उसी प्रकार हिलाने में, झुकाने में किया। शस्य भरे खेतों तथा हरी-भरी चरागाहों में हिलोरें लेते अन्न और घास के अनुरूप उसने अपने शरीर से हिलोरें लीं। अन्न की बालों के समान उसने अपने सिर को इधर-उधर डुलाया और प्रकृति के अनुकरण की इसी प्रक्रिया ने उसके नृत्य को जन्म दिया।

नाच कब शुरू हुआ, इसकी तिथि, वर्ष या काल निर्धारित नहीं किए जा सकते हैं। मानव तभी से नाचा होगा, जब वह इस योग्य हुआ होगा। अपने जन्म के साथ ही उसने प्रकृति को देखा। भंवरे को पुष्पों के इर्द-गिर्द नाचते देखा है। घूघती (फाख्ता) को फुदकते देखा है। उसने देखा कि बादल को देख कर मोर सुधबुध खो, आत्मविभोर हो, नाच उठा है। यह नाचना तो प्राणिमात्र का स्वभाव है, आखिर मनुष्य भी तो एक प्राणी ही है।

हिमाचल प्रदेश में नाच और गाना, नृत्य और संगीत, जीवन के अभिन्न अंग हैं। आपस में भी ये दोनों कलाएं सहोदरायें तो हैं ही, जुड़वां बहिनें भी हैं। एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। संभवतः यही कारण है कि इनके संयुक्त प्रदर्शन के लिए ही मेलों का आयोजन होता होगा, जिससे नृत्य, गीत और मेला एकाकार बन गए हैं।

शास्त्रीय नृत्य—नृत्य मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है : शास्त्रीय नृत्य और लोक नृत्य। शास्त्रीय नृत्य मानव जाति के अमूर्त, अव्यक्त अनुभवों की मूर्त, व्यक्त व्याख्या है। लोक नृत्य विश्वात्मा के साथ साक्षात्कार करने का साधन। लोक नृत्य आधुनिक युग की जटिलताओं से मुक्त, उन्मुक्त जीवन का प्रकाशन है। यह अपने निर्बन्ध, परम्परा-रहित रूप में व्यक्ति की भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। इसमें सामूहिक जीवन के आनन्द की झलक मिलती है, उस आनन्द का यह नृत्य दर्पण है। हम कह सकते हैं कि "जनसाधारण के स्वप्न और आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक नृत्यों में मुखरित हुआ है।"

लोक नृत्य—लोक नृत्य स्वतः सिद्ध अभिनय है, जिसके लिए न तो पूर्व तैयारी

की आवश्यकता होती है और न रिहर्सल की। इसका रंगमंच ग्रामीण भूमि, हरी-हरी चरागाहें एवं विशाल विस्तृत आकाश है।

हिमाचल प्रदेश में भारतनाट्यम, कथाकली, कत्थक, मणिपुरी जैसे शास्त्रीय नृत्यों का नितान्त अभाव है। यहां की पूंजी केवल लोक नृत्य है, जिनकी यहां प्रचुरता है। अत: हिमाचल के संदर्भ में हम इन्हीं लोक नृत्यों को ही नृत्य कहेंगे।

इन लोक नृत्यों में से कुछ एक में अंग-संचालन भावाभिव्यक्ति का अनुसरण करता है और कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें आंगिक चेष्टाओं का भावाभिव्यक्ति से कोई सम्बंध नहीं होता है।

हम पहले कह चुके हैं कि नृत्य का धर्म के साथ गहरा सम्बंध रहा है। हिमाचल प्रदेश में तो नृत्य में ही एक प्रकार से देवत्व का आरोप हो गया है। किसी भी नृत्य से पूर्व बादक अपने वाद्यों पर ब्याहुल, सेवा अथवा अर्चना की धुन बजाते हैं। अन्यथा यह ब्याहुल देवताओं की पूजा-अर्चना के समय ही बजाई जाती है। इसी प्रकार जब नाटी नृत्य आरम्भ होता है तो ब्याहुल बजती है। पुनः जब कोई व्यक्ति नृत्य की माला (नाटी) का अगुआ अथवा 'धुरी' बनता है, तो इससे पूर्व कि वह नृत्य आरम्भ करे, उसके सम्मुख ब्याहुल बजाई जाती है। इससे स्पष्ट है कि इस प्रदेश में नृत्य को कितना अधिक धार्मिक महत्त्व दिया जाता है।

यही नहीं, नृत्य में तो देवत्व देखा ही गया है, परन्तु स्वयं देवता भी यहां नृत्य में भाग लेते हैं। जिन ग्रामीण देवी-देवताओं के रथ हैं। वे सभी नाचते हैं। यह नाच देवताओं को इतना प्रिय है कि विष्णु भगवान भी छाड़ी नृत्य में नाच उठते हैं। शिव तो नर्तक हैं ही, यों भी उनका नाम नटराज है। शिवरात्रि के पर्व पर शिव आत्म-विस्मृत होकर नाचते हैं और यहां तक कि रात खुल जाने पर भी मृत्युलोक से वह कैलाशधाम नहीं जाना चाहते हैं।

नाचने का शिव को इतना शोक है कि लम्बी, दुष्कर यात्रा भी उन्हें सुगम लगती है। स्वयं तो चल पड़ते हैं, बेचारी गिरिजा (पार्वती) को भी साथ घसीट कर ले चलते हैं। पतिव्रता गिरिजा केवल यह शिकायत कर रह जाती हैं कि "भोले ईश्वर, तू मुझे कहां ले आया। मार्ग में न कहीं छाओं है, न पीने के लिए पानी। मेरे पांव में जूते भी तो नहीं, और मार्ग बीहड़, कंकर और कांटों भरा।" संभवत: शिव की देखादेखी ही हिमाचल के स्त्री-पुरुष कोसों दूर मेले में भाग लेने को उत्सुक रहते हैं।

वैसे भी भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यवेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से शब्द, सामवेद से लय, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस और भाव लिए।

नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने एक बार नाटक प्रर्दशित किया। उससे शिव और पार्वती प्रसन्न हुए। उन्होंने भरत मुनि को तांडव और लास्य नृत्य की शिक्षा दी। पार्वती ने भी शोणितपुर (रामपुर बुशैहर का सराहन) के राजा वाणासुर की पुत्री ऊषा को लास्य सिखाया। ऊषा ने किन्नरियों को इस नृत्य की शिक्षा दी।

हिमाचली नृत्यों का नामकरण और स्वभाव, स्वरूप और वर्ग निर्धारण कठिन समस्या है। इस क्षेत्र में एक प्रकार की अराजकता-सी है। नामकरण कहीं स्थान के नाम पर, कहीं किसी पक्षी को लेकर, कहीं नृत्य की गति को देखते हुए और कहीं नृत्य के अवसर पर अंग-विशेष के अधिक हिलने-डुलने के आधार पर हुआ प्रतीत होता है।

नामकरण—इस वैविध्य में कुछ सूत्रता लाने के लिए हम कह सकते हैं कि पांगी, सांगला, कुल्लू, नावरी, सराजी, बुशैहरी, चायलू, लाहुली आदि नृत्यों के नाम स्थान अथवा क्षेत्र विशेष के आधार पर रखे गए हैं। वास्तव में ये सभी नृत्य नाटी अथवा माला नृत्य के ही विविध नाम हैं।

कुछ ऐसे नृत्य हैं जो अवसरानुकूलता के आधार पर जाने जाते हैं जैसे वी मा नृत्य, जो विधिमाता त्यौहार के अवसर पर किया जाता है। इसी प्रकार नाटारंभ, सुई, दियाउड़ी, चैंती, विरशु, सेन ग्याचम आदि नृत्य हैं। नाटारंभ छाड़ी के अवसर पर नाचा जाता है और सुई इसी नाम के मेले के अवसर पर। इसी प्रकार दियाउड़ी नृत्य दियाउड़ी मेले की रात को किया जाता है।

कतिपय नृत्यों का नाम उनके साथ गाए जाने वाले गीतों के आधार पर रखा गया है, जैसे लाल्हड़ी नृत्य, धुरैही नृत्य, धरमाड़, धरमाड़ी और चंद्राउड़ी बांठडा।

कई ऐसे भी नृत्य हैं जो उन अंगों के नामों से जाने जाते हैं जिनका उनमें अधिक प्रयोग होता है, जैसे जानूजांघ, बाजूबन्द।

चीड़ी, लूड़ी अथवा घुघती और घूघी ऐसे नृत्य हैं जो घुघती (फाख्ता) पक्षी के नाम से जुड़े हैं। जिस प्रकार घुघती कूदती-फुदकती है, उसी प्रकार इस नृत्य में भी नर्तक कूदते-फुदकते से लगते हैं।

सामान्यतः पद-गति, हाथों की स्थिति तथा अन्य अंगों के संचालन के आधार पर भी इन गीतों के भेद जाने जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त गीत की गति भी इस दिशा में सहायक हो सकती है। उराहरणार्थ, यदि गीत की स्वर-गति तीव्र है, तो नृत्य की गति भी तीव्र होगी। पद-संचालन द्रुत गति से होगा। हाथ के वन्धन मुक्त होंगे। गीत भी 'फूकी' नाटी के नाम से जाना जाएगा। दूसरी ओर यदि गीत की लय ढीली-सी, स्वप्निल है, तो पद-संचालन भी उसी प्रकार झूमता-सा, हिलोरें लेता सा होता है, हाथ दूसरे नर्तक के हाथ में, या कन्धे पर होंगे। तदनुरूप नृत्य का नाम भी 'ढीली नाटी' ही होगा।

नृत्य-वर्ग—मोटे तौर पर इन नृत्यों को हम नर्तकों की संख्या, उनके लिंग, अवसर की अनुकूलता और पद-संचालन की गति के आधार पर विभक्त कर सकते हैं। नर्तकों की संख्या के अनुसार नृत्य सोलो या सामूहिक होता है। यदि अकेला व्यक्ति या एक से अधिक व्यक्ति पृथक्-पृथक् नृत्य करें, तो सोलो कहलाएगा। यदि नाटी अथवा माला के रूप में अनेक व्यक्ति नाचें तो सामूहिक नृत्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार यदि केवल नारी नर्तक हों, तो स्त्री नृत्य, यदि केवल पुरुष नर्तक, तो पुरुष नृत्य और यदि दोनों स्त्री और पुरुष साथ-साथ हाथ में हाथ मिलाकर नाचें तो

संयुक्त नृत्य कह सकते हैं। स्त्री नृत्य के उदाहरण हैं सुई, बीमा, पूड़ुया (सिरमौर), डांगी और ठाकणी। यदि वे नाटी में नाचें तो चाहे पृथक् चाहे पुरुषों के साथ, तो उनका नृत्य उसी नाटी के नाम से जाना जाता है।

पुरुष नृत्य संख्या में लगभग चालीस हैं, जिनमें नाटी, माला, घुघती, दीपक, शोनमा, लूड़ी, मैढथू, मुंजरा, बाजूबन्द, फेटी घिर, बूढा, बूझण, मगेल, खड़ायत, विरशु, जानूजंघ, दियाउड़ी, थंधरास, कडमाङि, फूकी, ढीली, लाल्हड़ी, धरमाड़ और धरमाड़ी प्रमुख हैं। संयुक्त नृत्य में चम्बा का झंजर, महासू का मुंजर और मंडी का कुटाहच्छ नृत्य विशिष्ट हैं।

अवसानुकूलता की दृष्टि से हम दो मोटे वर्ग कर सकते हैं—धार्मिक नृत्य और सामाजिक नृत्य। मेलानृत्य इन दोनों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। धार्मिक नृत्यों में नाटारंभ, धरमाड़, धरमाड़ी, छाड़ी, बांठड़ा, बीमा नृत्यों का समावेश हो जाता है। सामाजिक का नृत्य प्राय: सभी सामूहिक नाच हैं।

नाटारंभ और मुंजरा—प्राय: फसल की बिजाई या कटाई के उपरान्त ग्राम देवता के उपलक्ष्य में किए जाने वाले मेलों या उत्सवों पर ही सामूहिक नृत्य किए जाते हैं। व्यैक्तिक अथवा सोलो नृत्य तो किसी भी अवसर पर हो सकते हैं। सोलो नृत्य एक सीमा तक शास्त्रीय तांडव अथवा लास्य की झलक दिखाते हैं, विशेषकर स्त्रियों का वह नृत्य जो 'विधि माता' जैसे त्यौहारों पर किया जाता है। तांडव का कुछ धुंधला-सा रूप नाटारंभ और नाट नृत्यों में देखने को मिलता है। सोलो नृत्य में मुंजरा और नाटारंभ अपेक्षाकृत लोकप्रिय हैं। किन्नर के कानम क्षेत्र का 'चमा' नृत्य भी सोलो का अच्छा उदाहरण है।

मुंजरा नृत्य एक समय में एक या दो ही व्यक्ति नाच सकते हैं। यह प्राय: घर के अन्दर या खलियान में होता है। इसमें स्त्री और पुरुष दोनों भाग ले सकते हैं। संगीत की एक लय और नृत्य की इस प्रकार समान गति कि नर्तक सिर पर पानी भरी गागर और उस पर पानी भरा गिलास रखे जमीन पर से रूमाल उठाते हैं।

नाटारंभ में अभंग, समभंग और अतिभंग जैसे अनेकों भंगों की झलक मिलती है। मुद्राओं में पताका तथा अंजली का आभास प्राप्त होता है। इस नृत्य के साथ वाद्ययंत्रों में ढोलक एवं ताली की आवश्यकता रहती है, किन्तु गीत साथ-साथ गाए जाते हैं। ये गीत अधिकांशत: कबीर के पद हैं जिनमें ईश्वर-भक्ति अथवा संसार की असारता पर बल दिया गया है। कुछ गीत स्थानीय देवी-देवताओं की वन्दना और प्रशस्ति के भी होते हैं। ये गीत नटावक या ब्रह्मखाड़ा कहलाते हैं।

एड़ी या पांव के तलवों को भूमि पर जोर से मारना इस नृत्य की एक विशेषता है। शरीर का अंग-प्रत्यंग इस नृत्य में टूट-सा जाता है।

लगता है आज से कई शताब्दियां पूर्व मैदानी भागों से जो लोग इस प्रदेश में आकर बसे थे, इन सोलो नृत्यों के पूर्वज भी उन्हीं आगन्तुकों में से थे, जो अपने साथ शास्त्रीय नृत्य का ज्ञान भी लेते आए। इसी कारण नाटारंभ, सुई, मुंजरा और

विधि माता नृत्य में शास्त्रीय विधान के भी कतिपय चिह्न मिलते हैं।

छाड़ी तथा बांठड़ा—छाड़ी और बांठड़ा दो और पुरुष सोलो नृत्य हैं। छाड़ी के साथ बांसुरी, ढेंकुली (पेंओल, छोटा ढोलक, जिसकी ध्वनि ढकी-ढकी-सी आती है), ताली और नड़ूर (बांसुरी जैसा अन्य वाद्ययंत्र) होते हैं। गीत धार्मिक, पौराणिक एवं लौकिक गाए जाते हैं, जिनमें किसी देवता का इतिहास अथवा राम और कृष्ण के जीवन की किसी घटना का उल्लेख होता है। ऐसा देखा गया है कि छाड़ी में एक नृत्य के लिए चार-चार गीतों का क्रम होता है। पहला गीत विष्णु या अन्य देवता की लीला-वर्णन, दूसरा रामायण या महाभारत सम्बंधी, तीसरा स्थानीय इतिहास के लिए हुए और चौथा विशुद्ध नाटी गीत होता है।

बांठड़ा नृत्य में गीतों का अभाव रहता है, केवल शहनाई पर किसी गीत की लय बजाई जाती है। वाद्ययंत्र शहनाई, ढोल, नकारा, ढेंकुली, बांसुरी, कावा, करनाल और भाणा या भुग जल (थाली जैसी कांसे की दो तालियां) होते हैं। बांठड़ा में कई नर्तक एक साथ ही नाचते हैं, इस प्रकार यह सोलो नृत्य तथा नाटी जैसे सामूहिक नृत्य के बीच की कड़ी है। ये नृत्य कुल्लू और महासू में अधिक प्रचलित हैं।

चम्बा में धन्धरास नामक नृत्य में भी केवल बाजा ही बजता है, गीत नहीं गाया जाता। यों यह पुरुषों का सामूहिक नृत्य है।

नाटी—सामूहिक नृत्य में नाटी अथवा माला का स्थान सर्वोपरि है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विवेचना करें, तो प्रायः सभी सामूहिक नृत्य नाटी के ही विभिन्न रूप हैं, उनकी विविधता स्थान-भेद अथवा पद-संचालन गति-भेद में है। इस नृत्य में दस से लेकर तीन-चार सौ तक नर्तक भाग लेते हैं।

हिमाचल के सामूहिक नृत्य का मूल पद-संचालन इस प्रकार है। पहले बायें पांव के दो हल्के-हल्के, छोटे से कदम, जिसके पश्चात् दायें पांव का एक पांच-सात इंच [illegible] भूमि पर हल्का-सा दबाव देकर लिया जाता है। साथ ही नर्तक शास्त्रीय [illegible] जैसी स्थिति में रहता है। और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि नर्तक सर्वप्रथम बायां पांव सामने को ओर उठाता है, दायें पांव अपने [illegible] कर आगे बढ़ता है, पुनः बायां पांव को सामने पहली तरह [illegible] है और दाहिने पांव को थोड़ा-सा ऊपर उठा कर आगे सरकाया जाता है। [illegible] हुए, शरीर को थोड़ा-सा झुकाया जाता है, जो दाहिने पांव [illegible] अवस्था में आकर, हल्का-सा पीछे की ओर मुड़ता है। बायें [illegible] उपरान्त दाहिना पांव सामने की ओर एक बार [illegible] है। [illegible] शरीर उसी प्रकार लहरों जैसी हिलोरें लेता है। इस प्रकार [illegible] नाचते हुए, नर्तक समभंग स्थिति में आता है [illegible] को सिर से ऊंचा या सामने लाकर हिलाता [illegible] एक-दूसरे के हाथों से गुंथे होते हैं।

[illegible] और महासू की दीली, [illegible], फूकी, दियाउड़ी, ताउड़ी, कड़माऊ

और नावरी, मंडी और चम्बा तथा कुल्लू की फेटीधिर, दोहरी, सराजी, चायलु अजगजमा, गढ़गढ़क, चन्द्राउड़ी, बाजूबन्द, जानूजन्घ, तिणकी, ठाकुरी, पदरागी, आदि सभी नृत्य नाटी के ही नाम हैं।

कड़माऊ—कड़माऊ आदि नाटी में गति बड़ी तेज होती है। नर्तक का सारा शरीर एक बार तो झकझोरा जाता है। कभी कदम ढीले, हल्के से, तो दूसरे क्षण काफी तेज, तत्पश्चात् इतने गतिवान कि लगता है मानो छलांग लगा दी गई हो। उसी प्रकार विद्युत्-गति से मुड़ना इस नाटी की विशेषता है।

घूघती—कड़माऊ के समान ही मंडी की लूड़ी तथा कुल्लू, महासू और सिरमौर घूघती नाटी है। नर्तक एक-दूसरे की पीठ के पीछे खड़े होकर हाथ आगे वाले के कन्धों पर रख कर एक लम्बी पंक्ति बनाते हैं। गीत केवल 'घूघती' गाया जाता है।

जानू जन्घ—नर्तक सीधी माला में जंजीर के समान हाथ पिरोये रहते हैं। वे अपना दाहिना पांव बायें जानू पर रखते हैं, पुनः बायां पांव दाहिने जानू पर। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों नृत्य में तेजी आती जाती है तो नर्तक एक पांव से ही कूद कर नाचने लगते हैं।

सेन ग्ये चम—(Tsen Gye Cham) यह तिब्बती नृत्य है जो मंडी में रिवालसर के स्थान पर सेचू मेले के अवसर पर किया जाता है। नर्तक स्पिति के दैत्य नृत्य में भाग लेने वालों की तरह ही, मुखौट पनहते हैं। इस नृत्य में आठ नर्तक होते हैं, जिनके हाथों में ढोल होते हैं। वे अर्द्ध वृत्त में नाचते हैं। कहा जाता है कि इस नाच में सत्य और असत्य तथा पाप और पुण्य का संघर्ष दर्शाया जाता है।

ठोडा नृत्य—ठोडा वस्तुतः आयुध जीवी लोगों का नृत्य है। यह विशु आदि मेलों पर किया जाता है। इस नृत्य में गीत का अभाव होता है। केवल नगारा और ढोल की ध्वनि ही उपयुक्त वातावरण का सृजन कर देती है। बहुधा दो-दो नर्तकों की जोड़ी धनुष और तीर के साथ इसमें भाग लेती है। बाजगी नाचने वालों से आगे-आगे होते हैं। एक आगन्तुक जोर से कहता है :

"ठडेरी रा भूखा आओ थी, झमक लागी थी, हो ही।"

दूसरी ओर उत्तर मिलता है "हो हो"। इस समय ठडेरी की धुन बजाई जाती है और खिलाड़ी एक-दूसरे की पिंडलियों को अपने तीर का निशाना बनाते हैं।

लाहुल और स्पिति में भी इस प्रकार का नृत्य होता है जिसमें धनुर्विद्या का प्रदर्शन होता है। नर्तक अपने शत्रु की हिम की प्रतिमा बना कर उस पर तीर चलाता है।

खड्ग नाटी—खड्ग नाटी में नर्तक रूमाल के स्थान पर तलवार से नाच करते हैं। ढोल और नरसिंगे के बजते ही रंग-बिरंगे परिधानों, पुष्प-मालाओं, तलवारों तथा अनेक आभूषणों से सुसज्जित नर्तक नृत्यस्थल में प्रवेश करते हैं। वाद्ययंत्रों की गति के साथ ही उनकी तलवारें हवा में चमचमा उठती हैं। नृत्य की गति तीव्र हो जाती है। कुछ नर्तकों के पास एक तलवार और ढाल होती है, तो कुछ के पास दो तलवारें।

कतिपय ऐसे भी नर्तक होते हैं जो तीसरी तलवार दांतों में भी दबा कर रखते हैं। नाचने वाले दो भागों में बंट जाते हैं और कृत्रिम युद्ध करते हैं।

थोड़ी देर के बाद तलवारों को विश्राम दिया जाता है, और नाचने वाले दो-दो, चार-चार के दलों में बंट जाते हैं। युद्ध की ललकार करते हैं। नृत्य की गति धीमी पड़ जाती है।

बुढा नृत्य—कुल्लू, महासू और सिरमौर में प्रचलित बुढा नृत्य विभिन्न प्रकार किया जाता है। महासू और कुल्लू में वैसाखी से पूर्व सप्ताह में इसका आयोजन होता है। इसे 'सिंह' अर्थात् व्याघ्र नृत्य भी कहा जाता है। नर्तक जो प्रायः हरिजन होते हैं, अपने मुख पर शेर और शेरनी का मुखौट चढ़ा लेते हैं और नृत्य करते हैं।

सिरमौर में इस नृत्य का प्रचलन दीवाली के त्यौहार के उपरान्त है। इस नृत्य में दस से लेकर पचास तक नर्तक भाग लेते हैं। ये नर्तक एक प्रकार से ठाकुरों और राजपूतों का अभिवादन का सन्देश उनके सम्बंधियों को नाच और गाने द्वारा पहुंचाते हैं।

लोक नाट्य

लोक नाट्यों की वहुलता तथा लोकप्रियता को देख कर ही संभवतः किसी ने कहा है कि भारत की प्रत्येक गली का अपना नाटक है। साहित्यिक अनुशीलन से ज्ञात होता है कि संस्कृत नाटक तो सामान्य जनता तक पहुंच ही नहीं पाया। वह राजाओं और सामन्तों के मनोरंजन का ही साधन रहा। सर्वसाधारण को केवल लोक नाट्य ही सुलभ था और है।

लोक नाट्य परिस्थितियों के अनुरूप वदला, विकसित तथा परिवर्धित हुआ। राजस्थान की नौटंकी, गुजरात की भवाई, उत्तर प्रदेश की राम और कृष्ण लीला, आन्ध्र प्रदेश के बीढ़ी नाटकम्, महाराष्ट्र के तमाशा, वंगाल की यात्रा तथा हिमाचल के बूझण और करयाला, सभी की यही स्थिति रही।

हिमाचल प्रदेश में निर्शु, करयाला, बूझण, बांठडा, बूढ़ा, चन्द्राउड़ी और स्वांग लोक नाट्य अधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि इनका 'नौटंकी' और 'रास' जैसा स्वरूप नहीं है, किन्तु लोक नाट्य के प्रायः सभी गुण इनमें किसी न किसी मात्रा में विद्यमान हैं। हां, इनके लिए विशद रूप से उपकरणों की आवश्यकता नहीं। खुला मैदान या मन्दिर का प्रांगण मंच का कार्य करता है। अन्य आवश्यकतायें हैं—स्वांग, स्वांग बनाने की कुछ चीजें, बाजगी, नर्तक और दर्शक। ये उपलब्ध हुए, तो करयाला, निर्शु या बूझण अभिनीत हुआ।

निर्शु—निर्शु अथवा विशु मेले सामान्यतः सारे प्रदेश में थोड़ा-बहुत स्थानीय-पुट के अलावा एक से होते हैं। वैसाख महीने के आरम्भ में ये नृत्य नाट्य मेले आरम्भ होते हैं और प्रत्येक गांव में एक, दो या तीन दिनों तक चलते रहते हैं। देवता आते हैं,

मेला लगता है और नाटी होती है। सतलुज के किनारे अनेक स्थानों पर सायंकाल के भोजन के पश्चात् लोग किसी मैदान या अन्य खुली जगह एकत्रित हो जाते हैं। दर्शक मदान के चारों ओर बैठ जाते हैं, बीच में थोड़ा-सा मार्ग स्वांगों के आने-जाने के लिए रहता है। बाजगी एक ओर बैठते हैं और नर्तक भी आसपास ही। दर्शकों में जाति सम्बन्धी कोई भेदभाव नहीं होता, परन्तु अभिनय प्रायः तथाकथित सवर्ण लोग ही करते हैं। प्रकाश के लिए मशालों का प्रयोग किया जाता रहा है। ये मेले सारी रात होते रहते हैं।

निर्शु में संगीत (गीत), नृत्य और अभिनय की त्रिवेणी बहती है। एक स्वांग के पश्चात् दूसरे स्वांग के आने में जो समय लगता है, उसका उपयोग दर्शक नर्तक 'बाठडा' नाच कर करते हैं। नृत्य का गीत अभिन्न अंग है। बाजगी, नृत्य अथवा गीत के अनुरूप कभी ढोल-नगारा बजाते हैं, तो कभी धौंउस, ढेंकुली, भाणा आदि।

स्वांग के लिए अभिलषित कथावस्तु या प्रसंग के योग्य वस्त्रादि मिल गए तो बेहतर, नहीं तो किसी शाल या केवल कपड़े की चीर को ही सिर पर लपेटकर काम चलाया जाता है। हां, देवी-देवता तथा ऐतिहासिक पात्रों का अभिनय करने वाले स्वांग पात्रोचित वस्त्र और आभूषण पहनते हैं।

रात्रि का सारा कार्यक्रम सुनियोजित होता है। इस सम्बन्ध में निर्मंड के निर्शु के आधार पर हम यह विवरण उपस्थित करते हैं। आरंभ में फकीरी (भाट) मंगला-चरण गाते हैं। तत्पश्चात् 'डोल बरैंकी' नामक स्वांग निकलता है, जो एक असाधारण रूप से लम्बी और पतली स्त्री का होता है। दूसरा स्वांग 'नौताड़' का होता है। इस स्वांग में नौ फुट ऊंचे हृष्ट-पुष्ट पुरुष को दिखाया जाता है। स्वांग के साथ 'मियां दलीपा' का गीत गाया जाता है। दलीपा कोई ऐतिहासिक पुरुष था, जो कांगड़ा का निवासी था।

इसके उपरान्त चीड़ू (चिड़िया), गूजर, हेड़ू (शिकारी) आदि स्वांग निकलते हैं। ये सभी प्रहसन हैं। पहली रात 'कंचदराउड़ी' (संभवतः चन्दाराउड़ी), अर्द्धनारी, रायभट्ट, मियां, मल्ल, सन्त बैरागी आदि अन्य स्वांग रहते हैं। दूसरी रात के स्वांगों में साहूकार, ब्याह, बीरी भट्ट, नट, जम्मू का मियां, गुडकू देऊ (मेघ गर्जन), झांकी, कूटना, पीसना और हल चलाना प्रमुख हैं।

जिन विषयों पर स्वांग निकाले जाते हैं, उन्हें हम निम्नांकित सात भागों में बांट सकते हैं :

(1) ऐतिहासिक,
(2) धार्मिक,
(3) पौराणिक,
(4) सामाजिक,
(5) मांगलिक,

(6) साधु वैरागी सम्बन्धी, और

(7) दैनिक जीवन सम्बन्धी।

इन स्वांगों का भी एक निश्चित क्रम प्रतीत होता है। पहला स्वांग यदि ऐतिहासिक है, तो दूसरा प्रहसन, तीसरा धार्मिक तो बाद का सामाजिक। दैनिक जीवन से सम्बन्धित कूटना, पीसना, हल चलाना आदि प्रसंग भी साथ-साथ चलते रहते हैं।

इस लोक नाट्य का उद्देश्य जन-जीवन का दर्पण उपस्थित करना तो है ही, समाज के दूषित पहलूओं पर तथा गांव के किसी व्यक्ति के कटु स्वभाव पर भी बड़ा तीखा प्रहार करना होता है। स्वांग के पर्दे में किसी की भी खिल्ली उड़ाना अनुचित नहीं समझा जाता।

निर्शु भूत और वर्तमान का दर्पण है। साधु वैरागी, रायभट्ट, मल्ल, जम्मू का मियां, मियां दलीपा आदि जहां अतीत की याद दिलाते हैं, वहां कूटना, पीसना, हल चलाना, ब्याह, साहूकार वर्तमान को चित्रित करते हैं।

करयाला—सतलुज और यमुना के बीच के क्षेत्र में इसी प्रकार का एक अन्य लोक नाट्य है—करयाला। करयाला का मुख्य उद्देश्य समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य कर लोगों का मनोरंजन करना है। साथ में नीति और शिक्षा का उद्देश्य भी रहता है। कहीं-कहीं इतिहास की किसी घटना का उल्लेख शामिल किया जाता है। वैसे हास्य इस लोक नाट्य का प्राण है।

करयाला आम तौर पर दीवाली के आसपास किया जाता है। बहुधा इसे मनौती के रूप में भी मनाया जाता है।

करयाला के अभिनेताओं को 'करयाल्वी' और निर्देशक को 'करयाल्टू' कहा जाता है। करयाला लिखित नहीं होता, अतः प्रत्येक पात्र समय, अवसर और कथानक के अनुरूप मनमाने सम्वाद घड़ते हैं।

करयाला, निर्शु के नाट्य भाग के समान रात को होता है। इसमें इस्तेमाल में आने वाले बाजे खासकर डोल, हारमोनियम, नरसिंघा, करनाल और शहनाई हैं। करयाल्वी का स्वांग बनने के लिए अपनी-अपनी सामग्री—नकली मूंछें, दाढ़ियां, मुखोट तथा वस्त्र—होती है। प्रत्येक दृश्य 'डंग' या 'नगाड़ा' कहलाता है।

प्रांगण के एक भाग को रस्सियां बांध कर एक चौकोर वर्ग में बदल दिया जाता है। इसके बीच में आग जलाई जाती है, जिसे 'घयाना' कहा जाता है। कुछ दूरी पर किसी छोटे तम्बू या घास के छप्पर को करयाल्वी 'ग्रीन रूम' स्वांग बनने के लिए इस्तेमाल करते हैं।

यह नाट्य 'जंगताल' नामक धुन से आरम्भ होता है। ज्योंही वादक जंगताल को समाप्त करते हैं, त्योंही 'करयाला ताल' बज उठता है। इस धुन के बजते ही चन्द्रावली (चन्दराउड़ी अथवा लक्ष्मी) हाथ में दीपक लिए अखाड़े में प्रविष्ट होती है। एक हाथ आकाश की ओर उठाकर वह सरस्वती का आह्वान करती है, वाद्ययन्त्रों को छूती है

और घयाने के गिर्द करयाला ताल में नृत्य करती है। पुरुष कलाकार ही चन्द्रावली का वेश बनाते हैं। कई बार उसके साथ 'डांगरा कान्ह' (हाथ में डांगरा लिए कन्हैया) भी प्रवेश करता है।

कहीं-कहीं दूसरा स्वांग कृष्ण का होता है, जो पांच-छः सखियों सहित आते हैं। सखियां थाली में दीप लेकर उनकी आरती उतारती हैं, उनकी स्तुति में भजन गाती हैं।

तत्तापानी के करयाला के अवसर पर इस वैष्णव दृश्य के उपरान्त साधुओं के स्वांग आते हैं। उनमें एक-दो जंगम होते हैं। अखाड़े में प्रविष्ट होते ये जंगम श्लोक पढ़ते हैं। तभी विभिन्न दिशाओं से चौरमुठा, क्लिटा, तुम्बरी और लाठियां लिए अन्य साधु 'अलख निरंजन' का घोष करते हुए आते हैं।

इस साधु स्वांग में एक व्यक्ति इन साधुओं से पूछता है कि वे कहां से आए। उत्तर मिलता है, "बद्रीनाथ, ऋषिकेश से। चार धाम नहा कर।"

प्रश्न—"क्या ज्ञान-ध्यान की बातें बताएंगे ?"

उत्तर—"हां।"

प्रश्न—"तो बताइये :

'किधर देश तुम जोगी आए,
कहां तुम्हारा भाव,
कहां तुम्हारी बहन भानजी,
कहां धरोगे पांव।"

उत्तर—"पूर्व से हम जोगी आए, पश्चिम हमारा भाव,
धरती माता हमारी भानजी बहन, सभी केसर भसमा लगाओ।"

उत्तर का यह रूप भी है—"दक्षिण से हम जोगी आए, पूर्व हमारा गांव,
दया हमारी बहन भानजी, यहां धरेंगे पांव।"

विदूषक—"नोखूरे घ्राटे मुआ ऐसा रा बाब,
मेरे भी लागा बोलने रा दाव।"

इस प्रकार थोड़ी देर तक वार्तालाप होता रहता है।

साधु स्वांग के उपरान्तु कई स्थानों पर चूर्ण स्वांग, नट स्वांग, बुधु स्वांग और जोगी-जोगिन स्वांग भी होते हैं।

जोगी-जोगिन स्वांग में जोगी कहता है :

"पर नारी पैनी छुरी, मत कोई लाए अंग,
दश शीश रावण के कटे, पर नारी के संग।"

इसका विस्तार करते वह कहता है :

"नागिन से पर नारी बुरी, जो तीन ठौर से खाए,
धन छीने, जोवन घटे, और पंचों में पति जाए।"

कभी-कभी गीतों और सम्वादों में अश्लीलता आ जाती है, जो संभवतः कर-

याल्चियों की अल्पशिक्षा का परिणाम है।

बांठडा—करयाला का ही एक रूप बांठडा लोक नाट्य है। बांठडा वालों की भी अपनी पृथक् मंडली होती है। इसका उद्देश्य हास्य के बीच शिक्षा और मनोरंजन की सामग्री उपलब्ध कराना है। बांठडा वाले अपने प्रदर्शन का समारम्भ काहन और चन्द्रावली के स्वांग से करते हैं। कई बार वे प्रसहन का अभिनय भी करते हैं। यह नाट्य मंडी जिले में प्रचलित है। यही नाट्य चन्द्राउड़ी और स्वांग के नाम से भी जाने जाते हैं।

सेचू का सेन ग्ये चम—रिवालसर के बौद्ध उत्सव सेचू के अवसर पर नृत्य-नाट्य का आयोजन होता है, जिसमें दर्शक के रूप में अरुणाचल (नेफा), भूटान, दार्जलिंग, सिक्कम, कालिम्पोंग, लाहुल, स्पिति, किन्नौर, लद्दाख, पांगी, रामपुर और कुल्लू से बौद्ध सम्मिलित होते हैं।

सेन ग्ये चम वास्तव में तिब्बती लामाओं का मूक नाट्य है जिसमें सत् का असत् से संघर्ष, पाप का पुण्य से युद्ध, देवताओं की रासक्षों पर विजय दिखाई जाती है।

सेन ग्ये चम में आठ नर्तक अभिनेता भाग लेते हैं, जिसके लिए वे महीनों पहले से रिहर्सल करते आते हैं। इन अभिनेताओं ने देव, दानव, मानव को चित्रित करने वाले मुखोट पहने होते हैं। हाथ में इनके ढोल होते हैं। वे अर्द्धवृत्त में नृत्य करते हैं। इसका अभिप्राय भगवान पद्मसंभव तथा उनके अनुयायियों के मार्ग में आने वाली बाधाओं का शमन है।

बौद्ध मतावलम्बियों का विश्वास है कि इस नाट्य में भाग लेने वाले न केवल वे आठ दृश्य अभिनेता हैं, उनके साथ अनेक दृश्य अभिनेता भी भाग लेते हैं, क्योंकि उन अदृश्य शक्तियों के लिए यह सचमुच का संघर्ष होता है।

अभिनेता दो वृत्तों में विभक्त माने जाते हैं। बाह्य वृत्त का नेतृत्व स्वयं पद्म-संभव करते हैं, उनके सहायक ब्रह्म, मानव, देवी-देवता, इन्द्र, महादेव, नाग पुरुष, नाग देवता, विष्णु और यक्ष होते हैं। आन्तरिक वृत्त में राक्षस, दानव, यक्ष होते हैं। आन्त-रिक वृत्त में राक्षस, दानव, यक्ष, कुवेर, मार तथा यमराज होते हैं।

प्रथम नृत्य का अभिनय इस क्रम से होता है :

(1) ज्ञान उर्मि का उदय,
(2) कमल का खिलना,
(3) प्रकाश का आगमन,
(4) पाप हनन,
(5) त्रैलोक्य विजय,
(6) अज्ञान रूपी अन्धकार का नाश,
(7) त्रिभुवन का हिलाना, और
(8) असत् शक्तियों का विभाजन।

बूझण—इन्हीं भावों को व्यक्त करने वाला एक अन्य मूक नाट्य है। इसका नाम बूझण है और इसका क्षेत्र स्पिति है। इस नाट्य में एक अथवा अधिक कथानक होते हैं। यह दो-तीन घण्टों से लेकर 25-30 घण्टों तक चलता रहता है।

बूझण के दो भेद हैं। एक में मुखोट पहन कर मूक नृत्य-अभिनय किया जाता है, दूसरे में बिना मुखोट के मंच पर आते हैं।

मुखोट बूझण का समारम्भ डोल और मंजीरे की मद्धिम, धीमी-सी धुन से होता है, जिसका प्रभाव अवसादपूर्ण होता है। मुखोट पहने दो नर्तक आते हैं। मुखोट दैत्यों के प्रतीक होते हैं। इनके वस्त्र रेशमी होते हैं, । जिन पर भी राक्षसों, दैत्यों और अजगरों की आकृतियां बनी होती हैं। इनके हाथों में सुनहरी रंग की छड़ियां होती हैं।

ये नर्तक धीरे-धीरे बढ़ते हैं। तभी दो अन्य नर्तक उसी प्रकार की वेशभूषा में आते हैं। हाथ में विचित्र प्रकार के शस्त्र होते हैं। थोड़ी देर में दो और नाचने वाले मुखोट पहने आते हैं। तब छहों, जो पाप, दैत्यों और असत् के प्रतीक हैं, खूब तेज गति से नाचते हैं। वाद्य और संगीत भी उसी के अनुरूप तीव्र होता है। उनकी गति से आह्लाद प्रदर्शित होता है, मानो उन्होंने संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया हो।

जब ये नृत्य में मग्न होते हैं, तभी देवताओं के मुखोट और वस्त्र पहने नर्तक आ जाते हैं। अब देव-दानव-संघर्ष पूरे जोर से आरम्भ होता है। संगीत में जोश, ओज, और नर्तकों के द्रुत पद-चाप। सभी नर्तक फिरकी के समान घूमते दिखाई पड़ते हैं। अपने शस्त्रों से वे एक-दूसरे पर प्रहार करते हैं। सारा वातावरण ढोल की गंभीर ध्वनि और शस्त्रों की खड़खड़ाहट से गूंज उठता है।

वस्तुतः बूझण लामाओं के पुत्रों को कहते हैं। स्पिति के पिण घाटी के लामा स्वयं मठ में रहते हैं, उनके बीवी-बच्चे गांव के घरों में। ये बूझण स्थान-स्थान जाकर नृत्य, संगीत तथा अभिनय द्वारा अपना निर्वाह करते हैं।

एक अन्य बूझण नाट्य बड़े रोचक कथानक को लेकर चलता है। तपस्यारत एक संन्यासी एक बार अपना वस्त्र चट्टान पर पानी के छोटे से गढ़े में धोता है। हरिणी उस जल को पीती है और वह गर्भवती हो जाती है।

हरिणी एक कन्या को जन्म देती है। कन्या अत्यन्त सुन्दरी होती है। उसका नाम सूर्यमुखी पड़ता है। सूर्यमुखी का एक राजा से विवाह हो जाता है। वह उसे बहुत प्यार करता है। राजा की अन्य रानियां ईर्ष्या करती हैं और उसके विरुद्ध राजा के कान भरती हैं। वे राजा को समझाती हैं कि सूर्यमुखी एक डायन है, जिसका प्रमाण वे यह कह कर देती हैं कि सूर्यमुखी ने मांस के लालच में अपना पुत्र मार डाला है। वस्तुतः उन्होंने स्वयं उस बालक का वध किया होता है। राजा विश्वास कर सूर्यमुखी को महल से निकाल देता है। वह कई वर्षों तक जंगलों में भटकती फिरती है। अन्ततः राजा को उसके विरुद्ध षड्यंत्र का पता चल जाता है और वह उसे वापिस बुला लेता है।

इसके अतिरिक्त इन बूझणों का एक और प्रिय नृत्य-नाट्य है। इसे हम खड्ग-आखेट-नाट्य का नाम दे सकते हैं।

अभिनय आरम्भ करने से पूर्व एक ओर रखी कांस्य मूर्तियों की धूपदीप से पूजा की जाती है। तदनन्तर शंख-ध्वनि से दर्शकों का आह्वान होता है। सामने एक रेशमी वस्त्र रखा होता है जिस पर अजगर के चित्र वने होते हैं।

अभिनेता एक-एक करके सामने आते हैं और नाटक शुरू करने से पूर्व चारों ओर जौ छिड़कते हैं।

पहले दृश्य में सामूहिक नृत्य होता है, जिसकी गति शुरू में तो ढीली-सी रहती है, किन्तु वाद में तेज हो जाती है। एक समय तो इतनी तेजी आ जाती है कि नर्तक तितली के समान घूमने लगते हैं। नृत्य के साथ ढोल वजता है।

दूसरा दृश्य भालू के शिकार का होता है। शिकारी भालू की खाल को ओढ़ कर सामने आता है। उसके हाथ में तीर और कमान होते हैं। आरम्भ में तो वह थोड़ी देर मूक अभिनय करता है, किन्तु एकाएक वह जोर-जोर से बोलने लगता है। अपनी वाणी द्वारा और भावभंगिमा से वह दर्शकों को हंसा कर लोट-पोट कर देता है।

तीसरे दृश्य में खड्ग-नृत्य आरम्भ होता है। इसमें पांच अभिनेता भाग लेते हैं। उनका शरीर कमर से ऊपर नंगा होता है। गले में एक रूमाल वंधा रहता है। कुछ अभिनेता अपने जवड़े में त्रिशूलाकार की सुई भी वींधे रहते हैं। उनके दोनों हाथों में तलवारें होती हैं। पहले तो वे खड्ग-चालन का प्रदर्शन करते हैं; किन्तु ज्योंही गति एक विशेष मात्रा की हो जाती है, तो उनमें से एक अभिनेता पृथक् जा खड़ा होता है। वह हाथों को घुमा तलवारों की नोक अपने पेट में छवो देता है। ढोल की चाप पर वह दोनों हाथों से तलवार को जोर से दवाता हुआ, इधर-उधर दौड़ता है। अचानक वह तलवार की मूठों को भूमि में गाड़ कर स्वयं नोक पर पेट के वल झुक कर तैरता-सा लगता है। इस क्षण उसका सारा भार तलवारों की नोकों पर ही होता है। विशेष वात यह कि तलवारें तीखी नोक की होती हैं।

तलवार की नोक कई वार पसलियों में छवोकर नृत्य किया जाता है।

अभिनय की समाप्ति पर जौ के दाने छिड़के जाते हैं और कुछ एक दर्शकों में वांटे जाते हैं।

नाट्य के अन्त में सभी नर्तकों और दर्शकों को "ऊं नमो मणिपद्मे हुम" मन्त्र का जाप करना पड़ता है।

बूढ़ा अथवा सिंह—शिमला के जुब्बल क्षेत्र में तथा सिरमौर एवं कुल्लू के कई भागों में एक वैले जैसा नाट्य होता है जिसे सिंह (शेर) या बूढ़ा कहा जाता है। यह नाटक चैत्र के अन्तिम सप्ताह में सिंह अभिनेता गांव-गांव, द्वार-द्वार जाकर करते हैं।

इस अभिनय का केवल मात्र आवश्यक उपकरण सिंहों की मुखाकृति के मुखोट हैं। ये मुखोट प्राय: लकड़ी के वने होते हैं, और नीचे से पकड़ने के लिए उनमें डंडी लगी होती है, जिससे उन्हें पकड़ कर मुंह के सामने रखा जाता है। इस अवसर पर डफ या

खंजरी का प्रयोग होता है।

डफ एवं खंजरी वाले अपने बाजों को बजाते हुए गाते हैं। उधर 'बूढ़ा-बूढ़ी' अभिनेता मुद्राओं, भंगिमाओं और सिर के अर्थपूर्ण झुकाव द्वारा उस गीत कथा का व्याख्यात्मक अभिनय करते हैं।

कथा का सार इस प्रकार है। एक युवक था। वह बड़ा हंसमुख, मज़ाकिया किन्तु एकदम निखट्टू था। उसे एक सुन्दरी से प्रेम हो गया। उसने उसे अपने वश में करने के अनेक उपाय किए। उसने सुन्दरी को बताया कि वह बहुत धनवान है। उसके कई मकान हैं, बड़ी काफी जमीन-जायदाद है। सैंकड़ों भेड़, बकरियां, गाय, बैल हैं। उसने आश्वासन दिया कि यदि वह उसकी जीवन-संगिनी बन जाए, तो सदा आराम में रहेगी। किन्तु नायिका इतनी भोली तो थी नहीं। उसने उसकी बात की सच्चाई की जांच की। उसे ज्ञात हुआ कि उसका प्रेमी तो केवल शेखीबाज़ है। वास्तव में वह कंगाल है जिसके पास भोजन करने के लिए थाली तक नहीं। प्रेमी घबरा जाता है, और खिसक जाना चाहता है। सुन्दरी उसका उपहास करती है, किन्तु उसे जाने नहीं देती और अन्त में उससे विवाह कर लेती है।

□ □

सहायक पुस्तकें

अंग्रेजी

1. Kangra Valley Paintings—M. S. Randhawa
2. Chamba Painting—M. S. Randhawa
3. Kangra Paintings on love—Randhawa
4. Indian Painting in the Punjab Hills—W. G. Archer
5. Indian miniatures—W. G. Archer
6. Rajput Paintings—Coomoraswamy
7. Himalayan Art—J. G. Frinch
8. Antiquities of Chamba State—Vogel J Pb
9. The Early Wooden Temples of Chamba
—Hermann Goety
10. Culture & Art of India—Radha Kamala Mukherjee
11. India through the Ages—Publication Div.
12. Himalayan Circuit—G. D. Khosla
13. Kulu, Lahul & Spiti—Gazetteer
14. Kangra Gazetteer
15. Fairs & Festivals of Himachal Pradesh
—Census of India, 1961
16. Village Surveys
    (a) Chitrari
    (b) Brahmour
    (c) Kupha Parmar
    (d) Pangana

(e) Rajana Kothi
(f) Census of India, 1961

17. Marg
(a) March, 1964 (b) June, 1964
(c) March, 1957 (d) March, 1970
18. Folk Dances of India—Marg Publication
19. March of India, 1954
20. Times of India Annual, 1966
21. Patriot
22. Tribune July 10, 1966

हिन्दी

1. पहाड़ी चित्रकला—किशोरीलाल वैद्य, ओमचन्द हांडा
2. कुल्लुई लोक साहित्य—पद्मचन्द्र काश्यप
3. पंजाब का पर्वतीय साहित्य—मोहन मैत्रेय
4. किन्नर प्रदेश—राहुल सांकृत्यायन
5. हिमालय कल्पद्रुम—अंक 1-3
6. जुब्बल के लोक नृत्य—गोवर्धनसिंह
7. हिमानियों के देश में—रामकृष्ण कौशल

विद्यालयों की लाइब्रेरियों के लिए संग्रहणीय-पुस्तकें

स्वराज्य के पथिक	डा० भक्तराम पाराशर	27-00
डा० अम्बेडकर जीवन-दर्शन	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	25-00
डा० लोहिया का जीवन-दर्शन	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	32-00
लोकनायक जीवन-दर्शन	डा० पाराशर और डा० शर्मा	18-00
प्यारे नानक की प्यारी बातें	धर्मपाल शास्त्री	12-00
स्वामी विवेकानन्द	राजकुमार 'अनिल'	15-00
राजस्थान की वीर रानियां	शिवव्रत लाल	12-00
राष्ट्रनेता स्वामी दयानन्द	राजकुमार 'अनिल'	8-00
देशभक्त स्वामी श्रद्धानन्द	राजकुमार 'अनिल'	7-00
विक्रमादित्य और उनके नवरत्न	गौरीशंकर पंडया	5-00
स्वातन्त्र वीर सावरकर जीवन-दर्शन	प्रेमचन्द शास्त्री	18-00
हमारी राष्ट्रीय एकता	प्रो० ज्ञानचन्द	9-00
सारा जहां हमारा (पुरस्कृत)	शंकर वाम	10-00
देशभक्त शहीदों की गाथाएं (सचित्र)	श्री व्यथित हृदय	15-00
धर्मवीर शहीदों की गाथाएं ,,	,, ,, ,,	12-00
मर्द मराठा ,,	शंकर वाम	12-00
गढ़ आया सिंह गया ,,	शंकर बाम	10-00
देशभक्त बनें ,,	सत्यव्रत शर्मा	10-00
वीर बालक बनें ,,	ओमदत्त शर्मा	10-00
हमारे राष्ट्रीय गान ,,	ओमदत्त शर्मा	8-00
भारतीय वीरांगनायें ,,	राजकुमार 'अनिल'	10-00
संसार की बाल विभूतियां (पुरस्कृत)	शंकर वाम	10-00
बुद्धि के विकास की कहानियां तथा उपाय	धर्मपाल शास्त्री	20-00
बुद्धि चमत्कार की सत्य कथायें (सचित्र)	,, ,,	15-00
बुद्धि चमत्कार की सत्य घटनाएं (सचित्र)	,, ,,	15-00
पूर्वी भारत की लोक कथाएं	प्रो० श्रीचन्द्र जैन	22-00
उत्तर भारत की लोक कथाएं	,, ,,	22-00
काजल की कोठरी में	ब्रजभूषण	12-00
जागता चल जगाता चल	,, ,,	14-00
श्रद्धा तेरो नाम	,, ,,	14-00